1

भाषा : परिभाषा और प्रकार

-हरीश शर्मा

भाषा

यह संस्कृत की 'भाष्' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है **'व्यक्त वाणी'-'भाष्-व्यक्तायां वाचि'**। इस कथन में भाषा का पूर्ण लक्षण समाहित है। भाषाविज्ञान के संदर्भ में भाषा से हमारा तात्पर्य मनुष्य की व्यवस्थित ध्वन्यात्मक भाषा से होता है। इससे इतर भाषा का कोई रूप भाषाविज्ञान द्वारा ग्राह्य नहीं है।

भाषा की परिभाषा-विचारकों ने समय-समय पर भाषा को परिभाषित किया है। भाषा के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विद्वानों-पाणिनि और पतंजलि-ने स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा है। 'वाक्यपदीय' में शब्द की उत्पत्ति और ग्रहण के सम्बन्ध में भर्तृहरि का कथन है-

'शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते।' 3.3.3.2.
'बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदानि दृश्यते।' 3.3.3.3.

उपर्युक्त से भर्तृहरि का अभिप्राय है- 'शब्द-व्यापार या भाषण-प्रक्रिया दो बुद्धियों के बीच आदान-प्रदान का माध्यम है।' नीचे हम पाश्चात्य एवं भारतीय भाषाविदों और वैयाकरणों द्वारा दी गई भाषा की परिभाषाएं दे रहे हैं।

'भाषा उन वाचिक प्रतीकों की यादृच्छिक व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज-विशेष के सदस्य परस्पर व्यवहार और क्रिया-प्रतिक्रिया में संलग्न होते हैं।'[1]

'भाषा वाक्-ध्वनियों के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति है।'[2]

---

1. "Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group co-operate and interact."
Strutevant—Linguistic Change
2. "Language may be defined as the expession of thought by means of speech-sounds"

'विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उच्चरित ध्वनि-प्रतीकों के प्रयोग को भाषा कहते हैं।'[3]

'विचारों, भावनाओं और इच्छाओं को स्वेच्छा से उत्पन्न प्रतीकों के माध्यम से सम्प्रेषित करने की विशुद्ध मानवीय और यत्नज पद्धति को भाषा कहते हैं। उच्चारण-अवयवों से उत्पन्न माध्यम-प्रतीक प्राथमिकता श्रावणित होते हैं।'[4]

'भाषा का सार-तत्त्व यह है कि वह एक मानवीय सक्रियता है, मनुष्य-मनुष्य के बीच पारस्परिक बोध के लिए एक सक्रियता, ताकि वक्ता के मन की बात को श्रोता समझ सके।'[5]

'भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके सहारे कोई सामाजिक समुदाय परस्पर सहयोग करता है।'[6]

'भाषा ऐसे परम्परागत चिह्नों की व्यवस्था है, जिन्हें स्वेच्छा से मनुष्य कभी भी उत्पन्न कर सकता है।'[7]

'भाषा सीमित ध्वनियों से संयोजित व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य अभिव्यक्ति होता है।'[8]

---

3. "The common definition of speech is the use of articulate sound symbols for the expression of thought."
— A.H. Gardiner, Speech & Language.
4. "Language is purely human and non-instictive method of communicating ideas, emotions and desises by means of a system of voluntarily produced symbols. These symbols are, in the first instance, auditory and they are produced by the so-called organs of speech."
— Edward Sapir, Language, p.8.
5. "The essence of Language is human activity—activity on the part of an individual to make himself understood by another and activity on the part of that other to understand what was in the mind of the first."
— Jesperson Otto, Philosophy of Grammar.
6. "A Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group co-operates."
— Bloch and Trager — Outline of Linguistic Analysis, p.5
7. "Language is a system of conventional signs that can be voluntarily produced at any time."
— Ebbinghaus.
8. "Language is articulated limited sound organised for the purpose of expression."
— Croce-Aesthetics.

'भाषा एक व्यवस्थित ध्वनि-योजना है, जिसका प्रयोग वास्तविक सामाजिक स्थितियों में किया जाता है। दूसरे शब्दों में भाषा को संदर्भ जनित व्यवस्थित ध्वनि-योजना कहना समीचीन होगा।'[9]

'अपने व्यापक अर्थ में भाषा के अन्तर्गत ऐसे ध्वनि-संकेतों का पूर्ण योग आता है, जिसके द्वारा हम अपने विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त कर सकते हैं, तथा जिन्हें स्वेच्छानुसार उत्पन्न किया और दोहराया जा सकता है।'[10]

'भाषा संरचित होती है, अर्थात् प्रत्येक भाषिक उक्ति किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर संघटित होती है। ये सिद्धान्त प्रयुक्त शब्दों के रूप, शब्द-क्रम आदि का निश्चय करते हैं।'[11]

'मनुष्य-मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।'[12]

'भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पष्टतया समझ सकता है।'[13]

---

9. "Language can be thought of as organised noise used in situations, actual, social situations or in other words contextualized systematic sounds."

— A. Mcintosh-M.K. Halliday—Patterns of Language Papers in General, Descriptive and Applied Linguistics, p.3

10. "Language in its widest sense means the sum-total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will."

P.D. Gune, An Introduction to Comparative Philology, p. 3-4

11. Language is structured, i.e. each utterance, far from being a random series of words, is put together according to some principle or set on principles, which determines the words that occur and the form and order of the words."

ED. J.P.B. Allan & S Pit Corder, Papers in Applied Linguistic

12. भाषाविज्ञान, डॉ. श्यामसुन्दरदास, पृ. 20

13. हिन्दी-व्याकरण, प्रस्तावना, आचार्य कामताप्रसाद गुरु पृ. 1

'विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द समूह ही भाषा है। इसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट कर सकते हैं।'[14]

'जिन ध्वनि चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।'[15]

'हम अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए जिन सांकेतिक ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, उन्हें भाषा कहते हैं।'[16]

'उच्चरित ध्वनि संकेतों की सहायता से भाव या विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा है।'

जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार विनिमय या सहयोग करते हैं, उस यादृच्छिक रूढ़ ध्वनि संकेत प्रणाली को भाषा कहते हैं।'[17]

'भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित मूलत: प्राय: यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा किसी भाषा समाज के लोग आपस में विचारों का आदान प्रदान करते हैं।'[18]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर भाषा के प्रमुख लक्षण इस प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं

1. **भाषा–मानवमुख से उच्चरित ध्वनि-समूह**–इस लक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **भाषा** मानवीय है, तथा मुख से उच्चरित ध्वनियों को ही भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। किन्हीं और अंगों से उत्पन्न ध्वनियों को भाषा नहीं कहा जा सकता, भले ही ये ध्वनि-संकेत किसी निश्चित मन्तव्य को प्रकट क्यों न करते हों। 'हथेली पटकाना', 'चुटकी बजाना', 'पैर पटकना'–आदि को भाषा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार मानवेतर पशु-पक्षियों द्वारा उत्पन्न ध्वनि संकेतों को भी भाषा नहीं कहा जा सकता।

---

14. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, पृ. 6-7
15. सामान्य भाषाविज्ञान, डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. 5
16. हिन्दी व्याकरण, दुनीचन्द, पृ. 1
17. भाषाविज्ञान की भूमिका, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ. 11

मनुष्य मात्र का यह अनुभव है कि ध्वनिरूप होने के कारण भाषा बोली और सुनी जाती है। इस कथन का यह अभिप्राय है कि भाषा का उच्चरित रूप, लिखित रूप, अंकन-पक्ष की अपेक्षा प्राथमिक महत्त्व का है। भाषा के ध्वनन पक्ष को प्राथमिक महत्त्व देने का कारण यह है कि सभी मानवीय भाषा ध्वनियों का उच्चारण एक-ही प्रकार के ध्वनि-यन्त्रों से होता है। भाषाविज्ञान, मानवीय भाषा (Human Language) का ही अध्ययन करता है।

2. **भाषा-रेखीय**—भाषा-ध्वनियों का उच्चारण उच्चारण-अवयवों की आनुक्रमिक गति के कारण सम्भव होता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि **रेखीयता** (Linearity) मौखिक भाषा की आधारभूत विशेषता है। अर्थात् भाषा का सही-सही प्रधिनिधित्व प्रत्येक भाषा ध्वनि के लिए पृथक् पृथक् ध्वनि-प्रतीकों के प्रयोग द्वारा सम्भव है। इन ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था रेखीय अनुक्रममूलक होती है। रेखीय अनुक्रमता उच्चरित ध्वनि-क्रम के समानान्तर होती है।

3. **भाषा-व्यवस्थित**—भाषा, मात्र ध्वनि-समूह नहीं है, वरन् इन ध्वनियों का व्यवस्थित (Systematized) होना भी आवश्यक है। यह व्यवस्था शब्द से लेकर वाक्य तक बराबर दृष्टिगोचर होती है। ध्वनियों की अव्यवस्थित एकत्रता को भाषा नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख्य है कि मानव-मुख से उच्चरित सभी ध्वनियां भाषा नहीं कही जा सकतीं और वे संख्यातीत नहीं होतीं; फिर संख्या कुछ भी हो, मनमाने ढंग से ध्वनियों का मेल नहीं होता। इसके लिए एक स्वीकृत व्यवस्था की निरंतर अपेक्षा होती है। यह व्यवस्था ध्वनिमूलक भी हो सकती है, व्यवस्थामूलक भी। इससे यह अभिप्राय है कि हम न तो मनमाने ढंग से ध्वनियों को इकट्ठा करके सार्थक शब्द प्राप्त कर सकते हैं, न शब्दों में प्रत्यय-योग अपनी इच्छा से कर सकते हैं। वाक्य की योजक इकाइयों को भी स्वीकृत व्यवस्था के अनुरूप ही संयोजित किया जा सकता है। **धर्म, सम्पदा** आदि ध्वनिमूलक व्यवस्था के निदर्शन है। इन्हें हम **मर्ध, पम्सदा** नहीं कर सकते; **प्रभुता, अनिच्छा** रूपमूलक व्यवस्था के उदाहरण हैं, इन्हें हम **ताप्रभु, इच्छाअन्** नहीं कर सकते; इसी प्रकार **'राम को एक पुस्तक दो'** वाक्य को हम **'को राम दो पुस्तक'** अथवा **'दो पुस्तक को राम'**-नहीं कर सकते। व्यवस्था की एक बड़ी उपलब्धि यह है कि इसके कारण भाषा के लिए अपेक्षित उत्पादन क्षमता में अकल्पनीय वृद्धि हो सकती

है। मनुष्य की भाषा-विवृति (Openness) के मूल में यही उत्पादन-क्षमता रहती है। इसी के फलस्वरूप अपरिमित उक्तियां सम्भव हैं। प्रतिभा-सम्पन्न वक्ता सीमित व्यवस्था के अन्तर्गत नए-नए वाक्य बोलता है। नए होते हुए भी ये समझे जाते हैं। व्यवस्था ही भाषा को नवसृजनात्मक आधार और सामाजिक रूप देती है। भाषा के इसी लक्षण को ध्यान में रखकर उसे संरचित (Structured) अथवा आवयविक (Organic) रचना भी कहा जाता है।

4. **सार्थकता**—भाषा का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। हम जो भी बोलते अथवा सुनते हैं, वह किसी-न-किसी प्रकार सार्थक होता है। यह सम्भव है कि हमारा बोलना अप्रासंगिक, अस्पष्ट अथवा अनुचित हो, और इसी रूप में वह समझा भी जाए, पर यह नहीं हो सकता कि वह समझ में ही न आए। पारस्परिक बोधगम्य होना भाषा की अनिवार्यता है और इसका निर्वाह भाषा में निहित सार्थकता के द्वारा ही सम्भव है।

5. **यादृच्छिकता**—भाषा का मूलभूत गुण है। भाषा के यादृच्छिक (Arbitrary) होने का यह अभिप्राय है कि शब्दरूप में संक्रमित ध्वनि-समूहों का उनके प्रयोजित अर्थों से कोई सहज एवं अपरिवर्तनीय सम्बन्ध नहीं होता। इसका प्रमाण यह है कि एक ही वस्तु अथवा पदार्थ के लिए भिन्न-भिन्न ध्वनि-प्रतीकों का प्रयोग होता है। इस सहज विशेषता के कारण ही संसार-भर में 6,000 से अधिक भाषाएं पाई जाती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यादृच्छिकता विविध भाषा-सापेक्ष है, लेकिन भाषा की यादृच्छिकता का यही अभिप्राय है कि 'वस्तु'-निर्देश करने वाले शब्द-प्रयोग, एकदम आरम्भ में ही स्वेच्छा-जनित हो सकते हैं। सामाजिक प्रयोग में आने के उपरान्त ही उनकी यादृच्छिकता समाप्त हो जाती है। इस प्रसंग में यह अवश्य उल्लेख्य है कि अनुरणनमूलक शब्द और उनके अर्थ पर्याप्त मात्रा में सहजात होते हैं,—यथा भौं-भौ,, काँव-काँव, टाँय-टाँय, कुहू-कुहू, साँय-साँय, सर-सर, फर-फर, फिट्-फिट् आदि। लेकिन, एक तो इनकी संख्या अत्यन्त सीमित होती है, दूसरे श्रावणिक ग्रहण में अन्तर की सम्भावना को एक दम नकारा नहीं जा सकता। टटीहरी की आवाज को लोक में **'उत्ती की...उत्ती की'** रूप में अनुकृत किया जाता है, जबकि कविवर पन्त ने इस पक्षी की आवाज को **'टी-वी-टुट्...टी-वी-टुट्'** के रूप में अंकित किया है। यदि यह मान भी लिया जाए कि इनमें यादृच्छिकता का प्राय: अभाव रहता है, तो भी ये सम्पूर्ण भाषा की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकते। अत: भाषा को अपने मौलिक रूप में यादृच्छिक कहना अनुपयुक्त नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'भाषा' और 'प्रयोजन' में यादृच्छिक सम्बन्ध है, अत: किसी भाषा में शब्दों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती और साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा की अभिव्यक्ति-सीमा बस इतनी ही है, अर्थात् हम यह नहीं कह सकते कि अपनी भाषा-सम्पदा से हम कितना काम ले सकते हैं। हॉकेट ने इसी को **'अर्थवत्ता की असीम क्षमता'** कहा है।

6. **रूढ़ता**—भाषा रूढ़ होती है। इस लाक्षणिक कथन का यह अभिप्राय है कि जब भाषा का कोई भी रूप प्रयोग में आने के बाद सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर लेता है, तब अर्थ-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए वह भाषिक प्रयोग रूढ़ हो जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि भाषा की रूढ़ता में ही उसकी सामाजिक सम्प्रेषणीयता सन्निहित है। यदि, ऐसा न होता, तो प्रत्येक मनुष्य अथवा सामाजिक समुदाय प्रतिक्षण मनमाने प्रयोग करता रहता और भाषा केवल वक्ता अथवा वर्ग-विशेष के लिए ही अर्थपूर्ण होती, शेष व्यक्तियों के लिए सर्वथा दुर्बोध एवं निष्प्रयोजित। इसी लक्षण के आधार पर भाषा को परंपरागत चिह्नों की व्यवस्था (A System of Conventionalized Symbols) कहा जाता है।

7. **समाज-सापेक्षता**—उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष सहज निकल आता है कि भाषा सामाजिक होती है। उसकी सार्थकता एवं सजीवता समाज-सापेक्ष होती है, अर्थात् भाषा को जो अर्थ दिया जाता है, उसके लिए समाज का होना अनिवार्य है; साथ-ही वह समाज की सापेक्षता में ही जीवित रह सकती है, तथा उसका विकास भी समाज के भीतर ही सम्भव है। व्यक्ति भाषा (Idiolect) भी समाज-सापेक्ष होती है। वक्ता-विशेष की कतिपय विशेषताओं को लिए हुए भी यह संरचना एवं प्रयोग की दृष्टि से सामाजिक होती है। इसका अभिप्राय यह है कि एक शब्द भिन्न प्रकार से उच्चरित होने पर भी समाज द्वारा उसी अर्थ में गृहीत होता है, जो उसका अभिप्रेत होता है। 'एक गाँव' की जगह 'एग्गाँव' सुने जाने पर भी वह 'एक गाँव' के अर्थ में ही गृहीत होता है। इसी सामाजिक प्रवृत्ति को स्वविहितता (Discreetness) कहा जा सकता है। भाषा को संप्रेषणीयता का दायित्व निभाना होता है और इस दायित्व का निर्वाह समाज के भीतर ही सम्भव है। इस सन्दर्भ में **सी क्रीपर** और **एँच डब्ल्यू विडोसन** के विचार द्रष्टव्य हैं—'भाषा को एक रूपात्मक व्यवस्था के रूप में समझने के लिए उन नियमों को जानना जरूरी है, जिनकी सहायता से सुव्यवस्थित वाक्यों का व्युत्पादन सम्भव होता है, लेकिन

भाषा को सामाजिक अन्तर्क्रिया (Interaction) के रूप में जानने और समझने के लिए उन 'प्रयोग-रूढ़ियों को जानना भी जरूरी है जो एक विशेष सामाजिक स्थिति में प्रयुक्त होकर समुचित एवं सुगठित वाक्यों का चयन नियन्त्रित करती हैं।"[1]

7. **यत्नसाध्यता**–'भाषा यत्नज होती है'–इस उक्ति का स्पष्ट अर्थ है कि मनुष्य यत्न करके भाषा सीखता है, अर्थात् जन्म के समय वह कोई भी भाषा नहीं जानता। सीखने से लेकर भाषागत परिष्कृति और दक्षता प्राप्त करने के लिए, उसे सतत प्रयत्न करना होता है। प्रयत्न के द्वारा मनुष्य कोई भी भाषा सीख सकता है, यह तथ्य स्वतः प्रमाणित है। इसीलिये यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि 'भाषा एक अर्जित सम्पत्ति है'। लेकिन, चॉम्स्की ने प्रत्येक शिशु में भाषा के अन्तर्निहित ज्ञान की कल्पना की है। इस कल्पना का आधार यह है कि शिशु अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही भाषा सीख लेता है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। निस्संदेह शिशु में भाषा सीखने की आसाधारण शक्ति और क्षमता होती है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह पहले से ही कोई भाषा जानता है। इसका यही अर्थ है कि उसकी ग्रहण और धारणा-शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है, जिनके सहारे उसके लिये कुछ भी सीखना कठिन नहीं होता।

8. **व्यवहार शीलता**–भाषा एक व्यवहार है। (Language is a Behaviour) भाषा में भावन-क्रिया सन्निहित है, अर्थात् भाषा-प्रयोग के द्वारा आप समाज को संवेदनशील एवं सक्रिय बनाते हैं। इसमें उत्प्रेरण (Stimulation) और प्रतिवाचन (Response) की अपरिमित शक्ति निहित है। हम देश-भक्ति के गीत सुनकर बलिदान करने के लिए क्यों कटिबद्ध हो जाते हैं? दुःखात्मक गीत सुनकर क्यों शोकाकुल हो जाते हैं? ऐसे और इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर यही है कि भाषा अपने आपमें एक व्यवहार है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भाषा एक अभिव्यक्ति है, जिसमें अभिप्रेरण और तदनुरूप आचरण की क्रियाशीलता रहती है। भाषा का 'सामाजिक होना', भाषा की इसी प्रकृति पर निर्भर है। इसीलिये भाषा को सक्रियता के गुण से अलंकृत किया जाता है।

---

[1] "To Know language as a formal system, we need to know the rules which generate well-formed sentences but to know language as a means of social interaction we need to know those conventions of use which control the selection of well-formed sentences appropriate to a particular social situation." 1 — Papers in Applied Linguistics, pp. 155-156

9. **कालातीतता**—भाषा कालातीत होती है। भाषा का यह लक्षण इस बात का प्रमाण है कि उक्ति (Utterance) का प्रभाव क्षेत्र कालविशेष तक ही सीमित नहीं होता, वरन् उसका प्रभाव एवं महत्त्व चिरकालिक होता है। अतीत की वस्तु हो जाने पर भी वर्तमान और भविष्य के लिए उसकी अर्थमयता बनी रहती है। शेक्सपीयर का यह कथन 'Frailty thy name is woman'—जितना संदर्भविशेष में अर्थाभिव्यंजक था, उतना ही आज भी है और आगे भी रहेगा। संदर्भ के साथ मूल्यांकित करने पर तो भाषा की सद्यता सदैव ही प्रमाणित रहती है। इस प्रसंग में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि भाषा कभी नहीं मरती। देशकाल भेद से उसका रूपान्तरण मात्र होता है। इस विशेषता को हॉकेट ने स्वस्थान से विचलन (Displacement) की संज्ञा दी है।

10. **प्रतिरूपात्मक एकाधिकता**—प्रत्येक भाषा में ध्वनिग्रामों की संज्ञा सीमित होती है, लेकिन प्रतिरूपात्मक एकाधिकता (Duality of Pattern) के कारण अगणित रूपिम संभव होते हैं। विभिन्न परिवर्तन मूलक संभावनाओं के कारण थोड़े से ही ध्वनिग्रामों में अकल्पनीय अर्थवाही शब्द रूप संभव होते हैं, यथा—'पाला'। इसमें प, ई, ल, और आ—चार ध्वनिग्राम हैं। इन्हीं ध्वनिग्रामों के परिवर्ती (Permutations) के भिन्न भिन्न संयोगों के द्वारा एकाधिक सार्थक शब्द रूपों की रचना संभव है। यथा—लीपा (ल्+ई+प्+आ), पाली (प्+आ+ल्+ई) प्लाई (प्+ल्+आ+ई)। मानवभाषा के अतिरिक्त यह स्थिति एवं अवस्था कहीं नहीं है।

भाषा के विभिन्न प्रकार-

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भाषा के प्रयोग अनेक रूपों में पाए जाते हैं। ये प्रयोग व्यक्ति की बोली के स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्वभाषा तक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। आगे हम भाषा के अभिन्न रूपों का सामान्य परिचय दे रहे हैं।

परिनिष्ठित भाषा—जब किसी बोली या बोलियों के समूह को शिक्षित वर्ग की वाणी की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है, तब उसे **परिनिष्ठित भाषा** अथवा मानक भाषा (Standard Language) कहा जाता है। इसका प्रयोग शिक्षा-दीक्षा के माध्यम के रूप में होता है, तथा राजकीय कार्य और साहित्यिक रचनाएं इसी के माध्यम से होती हैं। परिनिष्ठित भाषा का एक निश्चित व्याकरण होता है, तथा इसकी एक निश्चित व्याख्या होती है। हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रांसिसी आदि भाषाएं हैं। इसकी कतिपय परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं—

"परिनिष्ठित भाषा किसी भाषा की उस विभाषा (Dialect) को कहा जाता है, जिसे साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अन्य विभाषाओं की तुलना में वरेण्यता प्राप्त हो जाती है, तथा जिसे अन्य विभाषा-भाषी सामाजिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त भाषा स्वीकार कर लेते हैं।"[1]

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने इसे **टकसाली भाषा** कहा है–**"कई विभाषाओं में व्यवहृत होने वाली एक शिष्ठ-परिगृहीत विभाषा ही भाषा (या टकसाली भाषा)** कहलाती है।"[2]

कहने का अभिप्राय यह है कि **"जब कोई विभाषा परिष्कृत होकर शिष्ट जनों का सामाजिक अनुमोदन प्राप्त करके महत्वपूर्ण हो जाती है, तब उसे परिनिष्ठित भाषा कहा जाता है।"** हिन्दी की **खड़ी बोली,** इसका उदाहरण है। मानक भाषा का दर्जा प्राप्त कर लेने पर यह पार्श्ववर्ती विभाषाओं एवं बोलियों को भी प्रभावित करने में सक्षम होती हैं। प्रत्येक परिनिष्ठित भाषा के मौखिक और लिखित रूप पाए जाते हैं। मौखिक रूप पर प्रदेश-विशेष (Locality) की छाप रहती है, लिखित रूप प्रादेशिक प्रभाव से मुक्त रहता है। विभाषागत विभिन्नताओं में एकता का भाव प्रस्तुत करने के कारण यह सांस्कृतिक एकता की समर्थ नियोजिका के रूप में सहज प्रतिष्ठापित हो जाती है।

विभाषा अथवा उपभाषा (Dialect)- आचार्य श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "एक प्रान्त अथवा उपप्रान्त की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा विभाषा कहलाती है।"[3]

मेरियो पेइ ने विभाषा को इस प्रकार परिभाषित किया है–"विभाषा किसी भाषा-विशेष की एक शाखा अथवा उसका एक वरिष्ठ रूप है, जिसका प्रयोग एक निश्चित भूभाग में होता है। उच्चारण, व्याकरण, शब्दावली आदि की दृष्टि से यह भाषा (परिनिष्ठित भाषा) से भिन्न होती है। इस प्रकार की भिन्नताओं के आधार पर यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है,

---

1. "That dialect of a language which has gained literary and cultural supremacy over the other dialects and is accepted by the speakers as the most proper and socially desirable form of the language."

   — Glossary of Linguistic Terminology'—Mario Pei, p. 258

2. भाषाविज्ञान, पृ. 23

3. वही, पृ. 23

लेकिन अस्तित्व की यह स्वतन्त्रता उस सीमा तक नहीं होती कि उसे भाषा का दर्जा प्राप्त हो सके। भाषा की अपेक्षा इसका क्षेत्र पर्याप्त होता है।"[1]

परिनिष्ठित भाषा का विवेचन करते हुए कहा गया है कि वह विभाषा का ही एक विशेषीकृत रूप है। भाषा के अन्तर्गत विभाषा एक भूभाग-विशेष से जुड़ी होती है। जिस भाषा का क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से जितना अधिक व्यापक होता है, उसके अन्तर्गत भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर, उतनी ही अधिक विभाषाओं की संभावना होती है। हिन्दी-क्षेत्र के अन्तर्गत ब्रज, राजस्थानी, अवधी आदि समृद्ध विभाषाएं हैं। एक भाषा के अन्तर्गत पाई जाने वाली विभाषाओं में परस्पर बोध-गम्यता का अभाव नहीं रहता। उच्चारणगत, शब्दावलीगत अथवा प्रयोगगत अन्तरों के होते हुए भी, सामान्य रूप से, विभाषाएं समझ में आ जाती हैं। प्रत्येक विभाषा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। कतिपय विद्वान् प्रान्तीय अथवा उपप्रान्तीय आधार पर स्वीकृत भाषाओं को विभाषा की श्रेणी में रखते हैं, अर्थात् वे पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया, असमी आदि को विभाषा मानते हैं। लेकिन, हमारे विचार से ये भाषाएं है और इसी आधार पर संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय भाषाओं (National Languages) के रूप में स्वीकृत हैं। वस्तुत: ये प्रादेशिक भाषाएं हैं। इनका वर्णन अलग से किया जाना समीचीन होगा।

प्रादेशिक भाषाएँ–भारत जैसे देश में एकाधिक प्रदेश हैं। भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि कारणों से अलग-अलग प्रदेशों की अलग-अलग भाषाओं का पाया जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान में स्वीकृति सभी राष्ट्रभाषाएँ प्रादेशिक भाषाएं हैं। बंगला, मराठी, गुजराती आदि समृद्ध प्रादेशिक भाषाएं सम्बद्ध प्रदेशों में आन्तरिक राज्य-व्यवस्था और शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृत हैं।

बोली (Sub-dialect)–बोली विभाषा के अन्तर्गत अपेक्षाकृत छोटा स्थानीय रूप है। इसमें साहित्य का प्राय: अभाव रहता है, तथा जो थोड़ा-बहुत साहित्य रचा भी जाता है, वह मौखिक होता है। उदाहरण के लिए **कौरवी** के अन्तर्गत **मेरठी, मुज़फ्फ़र नगरी, सहारनपुरी** आदि बोलियां है। **मेरठी बोली** के अन्तर्गत भी **बड़ौती** जैसी बोलियाँ अपना महत्वपूर्ण अस्तित्व रखती हैं। आचार्य श्यामसुन्दरदास की बोली की परिभाषा इस प्रकार

1. —Glossary of Linguistic Terminology, Mario Pei, p.67-68

है–**"बोली से हमारा अभिप्राय उस स्थानीय और घरू बोली से है, जो तनिक भी साहित्यिक नहीं होती और बोलने वाले के मुख में ही रहती है।"**[1] मेरिओं पेई बोली को **"एक विशेष क्षेत्र के निम्न वर्गीय व्यक्तियों की अलिखित लोकप्रिय वाणी" मानते हैं।**

एक विभाषा के अन्तर्गत एकाधिक बोलियाँ रहती हैं। इन बोलियों में पाए जाने वाला अन्तर अत्यन्त नगण्य होता है। वर्ग-विशेष के लोगों में थोड़ी-बहुत शब्दावली भिन्न हो सकती है, लेकिन उच्चारण, व्याकरण आदि की दृष्टि से सभी वर्गों के व्यक्तियों की बोली समान होती है। बोली की अपनी विशेषताएं इतनी प्रखर होती हैं कि यह पता लगाना बहुत कठिन नहीं होता कि अमुक व्यक्ति अमुक स्थान का रहने वाला है। अत: पेई का यह कथन स्वीकार्य नहीं कि 'बोली' का सम्बन्ध अशिक्षित एवं निम्न वर्ग के लोगों से ही होता है। वस्तुत:, बोली का अपना एक स्थानीय रंग होता है और उस रंग के कारण धर्म तथा जातीय भेद भी नगण्य हो जाते हैं। **'उच्चारण का ढँग'** और **'व्याकरणिक गठन'** पर बोली-विशेष का अस्तित्व निर्भर करता है। शब्दावली में पाए जाने वाले अन्तर के आधार पर बोली के उपभेदों का निरूपण सम्भव है। व्यावसायिक बोलियां, जातीय बोलियां आदि मात्र शब्दावली के अन्तर के कारण ही अलग से उल्लेख्य होती हैं, लेकिन रहती हैं, वे बोली-विशेष ही; अर्थात् मेरठ के जुलाहों की शब्दावली के आधार पर भले ही हम **जुलाहों की बोली** का उल्लेख करें, पर वह होगी **मेरठी बोली** ही।

भाषा और बोली–भाषा और बोली में भाषावैज्ञानिक के लिए कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं होता। स्थूल रूप से बोली हम उसे कह सकते हैं, जो व्यापक भाषा-क्षेत्र के भीतर अलग-अलग जातियों के द्वारा अलग-अलग स्थानों में कुछ विभेदक विशेषताओं के साथ बोल-चाल के लिए दैनिक प्रयोग में आती है। ऐसी अनेक बोलियों को जब परिष्कृत एवं परिनिष्ठित रूप प्राप्त हो जाता है, और वे उच्च-स्तरीय चिन्तन और लेखन के अभिव्यक्ति-माध्यम के रूप में प्रयोग में आने लगती हैं, तब उन्हें योजक-शक्ति के रूप में भाषा की मान्यता मिल जाती है। लेकिन विश्लेषण आदि की दृष्टि से भाषाएं और बोलियाँ अध्येयता को प्राय: एक प्रकार की अध्ययन-सामग्री प्रदान करती हैं। कतिपय विदेशी विचारकों की मान्यताएं द्रष्टव्य हैं–

'भाषाविद् के लिए बोली और भाषा में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है...।'

'भाषाओं और बोलियों में विभाजक रेखाएं खींचना असम्भव है। अपने अपने सीमान्तों पर ये एक दूसरे में अदृष्ट रूप में घुली-मिली रहती है।'

'भाषा और बोली में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। भाषा अपने मूल रूप में एक बोली ही होती है। किसी विशेष कारण से जब वह बोली प्रमुखता प्राप्त कर लेती है, तब वही भाषा बन जाती है। वास्तव में इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है। यहाँ तक कि एक भाषाविद् भी इस प्रश्न का उत्तर देने में कतराता है।'

उपर्युक्त वर्णनों से भी यही ध्वनित होता है कि दोनों में विश्लेषणीय दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं होता। फिर भी कुछ अन्तर इस प्रकार के हैं—भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है, बोली का सीमित। भाषा के अन्तर्गत पाई जाने वाली बोलियों में अन्तर होते हुए भी परस्पर बोधगम्यता रहती है, लेकिन दो भाषाओं में इस प्रकार की बोधगम्यता सम्भव नहीं होती। खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं। हिन्दी, मराठी, बंगला, फ्रैंच आदि भाषाएं हैं। भाषा शिक्षा-दीक्षा का माध्यम होती है। शासन, साहित्य आदि भाषा के माध्यम से ही सम्भव हैं। बोली सीमित क्षेत्र में होने के कारण इतने व्यापक कार्य-सम्पादन में असमर्थ होती है, लेकिन जहाँ तक साहित्य-रचना का प्रश्न है, उसमें बोली के जीवन्त प्रयोग भाषा की शक्ति एवं उसका प्रभाव बढ़ाने में सहायक तो होते ही हैं, साथ-ही सहज और स्वाभाविक स्पर्श प्रदान करने में भी उनका सक्रिय सहयोग होता है।

निष्कर्ष रूप में कुछ बातें भाषा और बोली के सम्बन्ध में कही जा सकती है—

(1) भाषा का क्षेत्र बड़ा होता है, बोली का छोटा।
(2) भाषा के अन्तर्गत एकाधिक बोलियां होती हैं।

(3) एक भाषा के अन्तर्गत आने वाली बोलियों के बोलने वाले एक दूसरे की बोली को समझ लेते हैं, यथा खड़ी बोली बोलने वाला आसानी से हरियाणा की बोली को समझ सकता है। परन्तु इस कसौटी को किसी प्रामाणिक कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक ही भाषा की कुछ बोलियाँ ऐसी होती हैं, जिसे समझना दुष्कर होता है, जैसे हिन्दी भाषा की खड़ी बोली बोलने वाला अवधी अथवा भोजपुरी को नहीं समझ सकता, और सम्पर्क में रहने वाले हरियाणा निवासी पंजाबी (जो एक स्वतन्त्र भाषा है) को समझ लेते हैं।

(4) भाषा प्राय: साहित्य, शिक्षा तथा शासन के कामों में आती है। लेकिन, यह भी कोई बड़ा अन्तर नहीं है, क्योंकि हिन्दी की अनेक बोलियों में पर्याप्त साहित्य लिखा गया है। आंचलिक साहित्य में तो बोलियाँ बड़ी उदारता से प्रयुक्त हो रही हैं।

व्यक्ति बोली (Idiolect)—सामान्यतया यह कहा जाता है कि 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना, शुण्डे-शुण्डे सरस्वती'। किसी सीमा तक यह उक्ति ठीक है, क्योंकि एक भाषा विशेष के वक्ताओं में सर्वथा एक-रूपता नहीं रहती। यहाँ तक कि यदि एक ही व्यक्ति एक बात को एकाधिक बार कहे, तो उसके बोलने में अन्तर आ जाएगा; लेकिन यह अन्तर ऐसा नहीं होगा कि पहले का कथन बाद के कथन की तुलना में उल्लेखनीय दृष्टि से पृथक एवं नया हो। यदि ऐसा होने लग जाए, तो समाज का काम एक दिन भी न चल पाए। वस्तु-स्थिति यह है कि अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि उसे पार्थक्य विधायक नहीं कहा जा सकता। वक्ता-विशेष को जब दोबारा सुना जाता है, तो श्रोता कतिपय विशेष प्रवृत्तियों को लक्ष्य करता है। इन विशेष प्रवृत्तियों की वक्ता के प्रत्येक वक्तव्य में पुनरावृत्ति होती है। इन्हीं के द्वारा श्रोता अपने पूर्व परिचित वक्ता को पहचान लेता है। इसी पहचान के सहारे हम यह कहने में समर्थ होते हैं कि यह भाषा-शैली अमुक व्यक्ति की है। इसी पहचान के आधार पर **'व्यक्ति-बोली' 'इडियोलैक्ट'** की धारणा की कल्पना की गई। प्रत्येक वक्ता अथवा लेखक का अपना भाषागत वैशिष्ट्य होता है, जिसकी सहायता से हम वक्ता-वक्ता तथा लेखक-लेखक के बीच भेद करते हैं। 'व्यक्ति' के स्तर पर भी भाषा के उतने भेद होते हैं, जितने रूपों में वह क्रियाशील रहती है। उदाहरण के लिए, जब व्यक्ति **स्वामी** की स्थिति में होता है, तब उसकी भाषा में एक विशेष प्रकार की छवि रहती है, इसके विपरीत, जब वह अपने स्वामी के सामने होता है, तब उसके बोलने का स्वर बदल जाता है। कक्षा में अध्यापक के बोलने का ढंग एक प्रकार का होता है, परिवार में सर्वथा दूसरे प्रकार का। उपर्युक्त व्यावहारिक वास्तविकता के रहते हुए भी, कुछ विशेषताएं ऐसी होती हैं, जो विभेदों को समाप्त करके **व्यक्ति** की एकान्तिक सत्ता को सुरक्षित रखती हैं। व्यक्ति-भाषा का निर्धारण करने के लिए हमें सूक्ष्म विभेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर स्थूल अभेदात्मक स्थितियों तक आना पड़ता है। समाजगत व्यावहारिकता की दृष्टि से यह अनिवार्य है।

मेरियो पेई ने व्यक्ति-बोली के विषय में लिखा है—"व्यक्ति बोली, व्यक्ति की आदत और शब्दों के चयन सम्बन्धी वैशिष्ट्य के साथ भाषा का वैयक्तिक प्रयोग है।"

दूसरे शब्दों में वे 'व्यक्ति बोली को सामान्य भाषा का वैयक्तिक रूपान्तरण मानते हैं।'

अपभाषा (Slang)—भाषाओं में पाए जाने वाले अनार्ष एवं व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को अपभाषा की संज्ञा दी जाती है। ये प्रयोग शिष्ट जन-समुदाय द्वारा अग्राह्य होते हैं। इस प्रकार की भाषा में सामान्य भाषा द्वारा स्वीकृत आदर्शों की अवहेलना होती है। शब्दों का प्रयोग विधि-रहित तथा अर्थापकर्ष-मूलक होता है। लाक्षणिक प्रयोग भी प्राय: हीनता-बोधक होते हैं। यह एक विशिष्ट वर्ग के लोगों में प्रचलित होती है। वस्तुत: अपभाषा निश्चित आदर्श से पतन की सूचिका है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में अपभाषामूलक प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि इनसे प्रयोक्ताओं के मानस का जीवन्त निदर्शन प्राप्त होता है।

व्याकरणिक नियमों की उपेक्षा—'मैंने तुझको बोल दिया ना, बस अब चलता बन। मेरे पर तेरा कुछ नहीं है।'

अभद्र भाषा-प्रयोग—'तेरे बाप का घर है, जो कुर्सी तोड़ रया है। अबे, ओ मुर्गी के, क्यों आँख दिखारया। तेरा झैंद कबी भरै बी है।'

वस्तुत: अपभाषा का प्रयोग, विशेषकर असंस्कृत व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। कभी-कभी समवयस्क मित्र भी अपभाषा का प्रयोग करते पाए जाते हैं। इस प्रकार के भाषा-प्रयोगों में प्रयोक्ताओं के चरित्र और उनकी सांस्कृतिक विरासत का पता चलता है।

विशिष्ट भाषा—भाषा के सामान्य पक्ष से अलग उसका एक विशिष्ट पक्ष भी होता है। भाषा के विशिष्ट पक्ष से अभिप्राय है, कुछ विशिष्ट व्यवसायों अथवा कार्यों से सम्बद्ध भाषा। इसके अन्तर्गत व्यवसाय के अनुरूप शब्दावली अथवा विशेष प्रयोग आते हैं, जैसे वकीलों की भाषा, अध्यापकों की भाषा, व्यापारियों की भाषा, सटोरियों की भाषा, दलालों की भाषा, धोबियों की भाषा, कहारों की भाषा, कुम्हारों की भाषा।

वकीलों की भाषा—ज्यूडिशियल मजिस्ट्रेट की अदालत में धर्मेन्द्र का मुकदमा पेश है. ....उस पर हर्जे खर्चे की डिग्री हो गई है।

---

1. Idiolect—'The individual's use of language, with his own speech habits and choice of words: the individual's personal variety of the community language system: the speech habit of a single person at a given point of his lifetime'.

— Glossary of Linguistic Terminology—Mario Pei, p. 119

डाक्टरों की भाषा–आप अपना ब्लड और स्टूल टैस्ट कराइए। अच्छा हो कि एक्सरे भी करा लें।

अध्यापकों की भाषा–प्रस्तुत विषय की व्याख्या करने से पहले यह समीचीन प्रतीत होता है कि हम सर्वप्रथम प्रसंग विशेष का परिचय प्राप्त कर लें, क्योंकि प्रसंग-निरपेक्ष होने पर अर्थ के अनर्थ होने की आशंका रहती है।

दर्जियों की भाषा–दर असल कपड़े की सिलाई कटाई पर मुनहसिर होती है। फिर कुर्ते की सिलाई तो हाथ की बखिया के बिना मज़ा नहीं देती।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संरचना तो सामान्यतया भाषा की प्रकृति के अनुरूप होती है, पर शब्दावली पर बहुत कुछ, सम्बद्ध व्यवसाय की विशेषताओं का प्रयोग रहता है।

गुप्त भाषा–भाषा का एक प्रयोग गोपन-सापेक्ष भी होता है। भाषा जब गुप्त साधन के रूप में प्रयुक्त होती है, तब उसके दो उद्देश्य होते हैं–मनोरंजन और मन्तव्य-गोपन। काव्य में जो कूट प्रयोग होते हैं, उनका उद्देश्य अधिकांशत: मनोरंजन होता है, लेकिन कभी-कभी किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त का निरूपण भी उनसे होता है। जरायम पेशा लोग, तस्कर व्यापारी, क्रान्तिकारी आदि केवल अपने वर्ग के लोगों के साथ गुप्त-संभाषण के हेतु गुप्त भाषा का प्रयोग करते हैं। वे चाहते हैं कि उनके वर्ग से इतर लोग वास्तविक उद्देश्य को न समझ सकें तथा उनकी योजनाओं से अनभिज्ञ रहें। वस्तुत: ये लोग शब्दों का प्रयोग सामान्यत: स्वीकृत शब्दार्थों से इतर अर्थों में करते हैं। यह नया अर्थारोप प्राय: अर्थादेश के रूप में होता है। रिश्वत के लिए 'देवताओं की भेंट', मारने-पीटने के लिए 'पूजा करना', पैसा पास होने के लिए 'अण्टी गरम होना' आदि प्रयोग इस प्रकार की भाषा के निदर्शन हैं।

गुप्तभाषा प्रयोगों में सामान्यत: निम्नांकित विशेषताएँ हैं–

(1) **संकेतात्मकता**-गुप्तभाषा का अधिकांश भाग संकेतात्मक होता है। इस प्रकार की भाषा में जो प्रयोग पाए जाते हैं, वह भाषा में स्वीकृत होते हैं, लेकिन उनका अभिप्रेत सर्वथा भिन्न होता है। बैरगिया नाला पर साधुवेश में रहने वाले तीन चोरों की कथा बहुत प्रसिद्ध है। जब कोई 'असामी' या 'शिकार' नज़र आता था, तो वे 'दामोदर', 'वासुदेव', 'नारायण' आदि शब्दों का प्रयोग करते थे। इन प्रयोगों के क्रमश: अर्थ हुआ करते थे-'पैसे वाला है।',

'बाँस मारो।', 'नाले में फेंक दो।' युद्धकाल में विशेष रूप से कुछ संकेत बना लिए जाते हैं, जिनका उद्देश्य शत्रु-पक्ष के लोगों से सावधान रहना होता है। गुप्त-भाषा का सम्पूर्ण विधान समझौते या निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार होता है। सारे संकेत और उनके अर्थ पूर्व निश्चित होते हैं, जिन्हें निर्णायक दल ही समझ पाते हैं।

(2) **सांकेतिक रचना**-सामान्यतया, स्वीकृत भाषा के प्रयोग के स्थान पर अव्यवस्थित रचना के रूप में भी गुप्तभाषा काम में आती है। इसके लिए सामान्यत: दो पद्धतियां प्रयोग में आती हैं-'विपर्यय' तथा 'स्वीकृत व्यवस्था के भीतर अतिरिक्त प्रयोग'। प्राचीन कवि विपर्यय पद्धति पर ही रचना काल का निर्देश किया करते थे-

"मुनि-पुनि रसन के रस लेख;
दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल संबत पेख।"

इस पंक्ति में वामगति से साहित्य-लहरी का रचनाकाल दिया है। इसमें प्रयोक्ता की गोपन वृत्ति क्रिया शील है। आज भी बच्चे बड़ी दक्षता के साथ कहते हैं-'सेपै-ओला।'-पैसे लाओ। 'मरग नीपा हीन है।' -गरम पानी नहीं है। दूसरी पद्धति में रचना का क्रम तो वही रहता है, जो व्यवस्था से मान्य है, लेकिन उसमें बीच बीच में कुछ ध्वनियों अथवा अक्षरों का प्रयोग किया जाता है, यथा-'मरफ़ु झरफ़ओ करफ़ी नरफ़हरफ़ी जरफ़ानरफ़ा हरफ़ै। 'मुझको नहीं जाना है।' चमचहेचश चको चबुचला चलाचओ।-'महेश को बुला लाओ।' गोपनीयता की प्रवृत्ति की अपेक्षा इस पद्धति में मनोरंजन की प्रवृत्ति प्रधान है।

कृत्रिम भाषा-(Artificial Language) भाषा का कृत्रिम होना उसका सहज के विरोध में होना है। यह भाषा मनन चिन्तन के बाद गढ़कर बनाई जाती है। इसके सम्बन्ध में मेरिओ पेई के विचार द्रष्टव्य है-"यह भाषा किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह द्वारा बनाई अथवा उत्पन्न की जाती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क अथवा किसी विशिष्ट समूह के प्रयोग के लिए होती है।"[1] भाषा भेद से उत्पन्न समस्याओं एवं बाधाओं को दूर करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए एक सामान्य भाषा की रचना करना ही कृत्रिम भाषा का उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य जितना ही महान् है, उतना ही दरूह भी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृत्रिम भाषाएं बनाने के अनेक प्रयास किये जा चुके हैं। **एस्पेरोन्तो, एस्पेरान्तिदो,**

1. — Glossary of Linguistic Terminology—Mario Pei, 21 p.

इडो नामक उल्लेख्य कृत्रिम भाषाएँ हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है–

एस्पेरान्तो–मानव-निर्मित भाषाओं में यह सर्वाधिक प्रमुख भाषा है। इसके जानने वालों की संख्या अनुमानत: 1 करोड़ है। डॉ. एल.एल. ज़ॉमेनहॉफ़ (Zomenhof) ने सर्वप्रथम 1887 में अपनी इस अभूतपूर्व भाषा को संसार के सामने रखा। डॉ. ज़ॉमेनहॉफ़ यूरोप की लगभग सभी भाषाओं के जानकार थे। शुरू में लोग इसकी ओर आकर्षित नहीं हुए, लेकिन यह स्थिति देर तक नहीं रही और शीघ्र ही यूरोपीय विद्वानों को इसका महत्त्व विदित होने लगा। इसके प्रचार के लिए इसी नाम से एक संस्था खोली गई। राष्ट्र संघ (League of Nations) ने सभी राष्ट्रों से इसे अपनाने और स्कूलों में इसके पढ़ाने की व्यवस्था का अनुरोध किया। 1925 में अन्तर्राष्ट्रीय टेलीग्राफ़िक संघ ने इसकी बहुत प्रशंसा की, तथा इसे बहुत ही वैज्ञानिक एवं स्पष्ट भाषा बताया। 1927 में संसार के 44 प्रधान रेडियो-स्टेशनों में इसके विषय में इसी भाषा में भाषण दिए गए।

एस्पेरान्तो भाषा में मौलिक पुस्तकों की रचना हुई। अनूदित पुस्तकों की संख्या तो बहुत है। सब मिलाकर 4,000 से अधिक पुस्तकें और अनेक पत्रिकाएँ इसमें निकल रही हैं।

डॉ. ज़ॉमेनहॉफ़ ने इस भाषा को बनाने के लिए अनेक भाषाओं के व्याकरणों का विश्लेषण किया। अपने विश्लेषण के आधार पर उन्होंने इस भाषा को 16 नियमों पर आधारित किया। इन 16 नियमों को समझना बहुत सरल है। एस्पेरान्तो के लिए बनाए गए व्याकरण में सादृश्य (Analogy) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाक्य-विन्यास की दृष्टि से यह अश्लिष्ट योगात्मक भाषा है। तुर्की भाषा की भांति इसका प्रत्यय विधान बहुत स्पष्ट है इसकी लिपि रोमन है, तथा यह अंग्रेजी भाषा की भाँति पढ़ी जाती है, लेकिन इसके उच्चारण में अंग्रेजी जैसी अव्यवस्था नहीं है। इसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। इसके शब्द धातुओं पर आधारित हैं, तथा इसका शब्द समूह भारोपीय भाषा पर आधारित है। लेटिन से अनुमानत: 60 प्रतिशत, ट्यूटानिक से करीब 30 प्रतिशत तथा अन्य भाषाओं से 10 प्रतिशत धातुएं ग्रहण की गई हैं।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसमें कुछ संशोधनों का सुझाव दिया गया, लेकिन सुझाव के अस्वीकृत हो जाने पर लुई द' ब्यूफ्रों (Louis De Beaufront) महोदय ने एस्पेरान्तों की अपेक्षा अधिक उपयोगी, सरल एवं वैज्ञानिक भाषा इडो (Ido) का 1907 में निर्माण किया।

इसी प्रकार सास्यूर (R.de Saussure) महोदय ने एस्पेरान्तों में कुछ सुधार करके एस्पेरान्तिदो (Esperantido) की रचना की।

उपर्युक्त कृत्रिम भाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने पर यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ये सभी भाषाएं सीखने और व्यवहार में लाने की दृष्टि से पर्याप्त सरल हैं, लेकिन न तो इनमें से कोई भाषा अभी तक विश्वभाषा बन पाई है, और न ही यह आशा है कि भविष्य में भी इनमें से कोई भाषा विश्वभाषा बन पाएगी। कृत्रिम भाषाओं की सीमाएं निम्नांकित हैं–

(1) यह काम-चलाऊ हो सकती है। तथा गंभीर विषयों का प्रतिपादन इसके द्वारा संभव नहीं है।

(2) विकासमूलक गुणों से वंचित होने के कारण इसमें साहित्य-रचना संभव नहीं है।

(3) कृत्रिम भाषा किसी भी भावनात्मक प्रक्रिया को जन्म देने अथवा उसे संचालित करने में असमर्थ होती है।

1) **मिश्रित भाषा** (Mixed Language)–इस भाषा के दर्शन प्राय: वहाँ होते हैं, जहाँ अनेक भाषा-भाषी व्यापारिक अथवा किसी अन्य उद्देश्य से एकत्र होते हैं। यह भाषा विविध भाषाओं के मेल से विकसित होती है। बन्दरगाहों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व रखने वाली मंडियों में इस प्रकार की भाषाएं देखी जा सकती हैं। चीन के कुछ नगरों में बोली जाने वाली पिजिन (Pidgin) इंगलिश, इस प्रकार की भाषाओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस भाषा के शब्द अंग्रेजी के हैं, पर इनका उच्चारण चीनी ढंग पर होता है। भूमध्य-सागर के बन्दरगाहों में बोली जाने वाली सबीर[1] भाषा में फ्रांसीसी, स्पेनी, इतालवी, ग्रीक और अरबी का मिश्रण है। सबीर अपने गुण-विशेष के कारण सम्पर्क भाषा की पर्यायवाची बन गई है। इसे विविध भाषा भाषियों के पारस्परिक प्रयोग की जन भाषा (Lingua Franca) मानकार सामान्यीकृत अर्थ में प्रयोग करने वाले मोलियार हैं।[2] इसी आधार पर इसे सम्पर्क अथवा संकर भाषा भी कहा जाता है मिश्रित भाषा में किसी प्रकार के गम्भीर साहित्य की रचना संभव नहीं है।

पिजिन भाषाओं के अस्तित्व का आधार किसी-न-किसी वास्तविक भाषा में होता है; तथा ये सहायक भाषाओं (Auxiliary Languages) के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

स्थिति के आधार पर भाषा-भेद—जब किसी जाति का कार्य-क्षेत्र विस्तृत एवं व्यापक होता है, तो सम्बन्धित भाषाओं को स्थितिगत महत्त्व प्राप्त होता है। इस दृष्टि से भाषा की सामान्यतया तीन स्थितियां संभव हैं—राष्ट्रभाषा, राजभाषा, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा। इसके अतिरिक्त, जातीय सर्जनात्मक प्रवृत्ति के फल-स्वरूप भाषा की साहित्यिक स्थिति भी संभव है। भाषाओं के ये दर्जे महत्त्वपूर्ण कारणों से संपृक्त होते हैं।

राष्ट्रभाषा-राष्ट्रभाषा, राष्ट्र-विशेष की प्रतिनिधि भाषा होती है। राष्ट्र की भाँति राष्ट्रभाषा भी भावात्मक प्रयोग है। भावात्मक एकता (Emotional Integration) और राष्ट्र गौरव के लिए इसका होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्र की सभी प्रादेशिक इकाइयों के बीच सम्पर्क और संवाद का यह महत्त्वपूर्ण माध्यम होती है। स्वतन्त्र और स्वाधीन राष्ट्रों के लिए यह अपरिहार्य है। यह जनता की सहज विश्वासमयी भाषा होती है, जिसका प्रयोग वह राष्ट्र की व्यावहारिक सुविधा के लिए करती है। राष्ट्रभाषा की कतिपय परिभाषाएं उल्लेख्य हैं।

"राष्ट्रभाषा की कल्पना इससे (राज्यभाषा से) भिन्न है। उसका पद और भी बड़ा है। उसी भाषा का गौरव सबसे अधिक हो सकता है और वही राष्ट्रभाषा कहला सकती है, जिसको सब जनता समझती हो और जिसका अस्तित्व सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो।"[3]

"राष्ट्रभाषा को हम और भी कई नाम देंगे। उसको 'सबकी बोली' कहेंगे, 'कौमी ज़बान' कहेंगे, 'हृदय की भाषा' कहेंगे, 'स्नेह-भाषा' या 'ऐक्य भाषा' कहेंगे और सबसे बढ़कर 'स्वराज्य भाषा कहेंगे।"[4]

कतिपय विद्वान् राष्ट्रभाषा को सरकारी भाषा के रूप में स्वीकारते हैं। इसका प्रयोग सरकारी दस्तावेज़ों में होता है। सामान्यतया, यह साहित्यिक भाषा से मेल खाती है।[5]

---

1. — Dictionary of Linguistics—Mario Pei, P. 189
2. — Glossary of Linguistic Terminology—Mario Pei, p. 238
3. राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं— आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 54
4. राष्ट्रभारती-काका कालेलकर, पृ. 9
5. "National Language, the official standard tongue of a political division, used in government documents and taught in the nation's schools; it usually coincides with the Literary Language."
   — Glossary of Linguistic Terminology—Mario Pei, p. 177

डॉ. हरदेव बाहरी के शब्दों में कह सकते हैं कि 'जो भाषा थोड़ी-बहुत सारे राष्ट्र में बोली और समझी जाती है, वह अपने इसी गुण में राष्ट्रभाषा होती है।'[1]

सार रूप में, राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र की भावात्मक एकता को अभिव्यक्त करने का माध्यम होती है। इसके द्वारा समूचे राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना प्रतिभासित होती है। यह सर्वाधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा होती है।

राजभाषा- मेरिओ पेई के विचार में राष्ट्रभाषा और राजभाषा (Official Language) में कोई अन्तर नहीं है। स्वाधीन एवं स्वतन्त्र राष्ट्रों के विषय में यह बात ठीक है, लेकिन पराधीन एवं परतन्त्र राष्ट्रों के सम्बन्ध में इस मान्यता को असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए स्वतन्त्रता से पूर्व भारतवर्ष की भाषित स्थिति पर विचार करने से उपर्युक्त कथन की सत्यता सहज प्रमाणित हो जाती है। उस समय फ़ारसी से बोझिल उर्दू अदालतों की व्यवहार-भाषा थी और अंग्रेजी राजभाषा के पद पर आसीन थी। लेकिन, न तो अदालतों में प्रयुक्त होने वाली उर्दू सारे देश की जनता द्वारा बोली और समझ में आने योग्य भाषा थी और न अंग्रेजी। उस समय भी देश की 60-65 प्रतिशत जनता द्वारा समझी और बोली जाने वाली भाषा हिन्दी थी और आज भी ऐसा ही है। इससे यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रभाषा और राजभाषा धर्मत: एक नहीं है।

वस्तुत:, राजभाषा राजकाज में प्रयुक्त होने वाली भाषा होती है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के शब्दों में यह कहना सर्वथा समीचीन है कि "राज्यभाषा (राज भाषा) उसे कहते हैं, जो केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों द्वारा पत्र व्यवहार, राज्य कार्य (राजकार्य) और अन्य सरकारी लिखा-पढ़ी के काम में लाई जाए।"[2]

इस दृष्टि से राजभाषा एक अन्तर्प्रादेशिक मध्यवर्तिनी भाषा होती है, जो विभिन्न भाषी प्रदेशों के बीच सम्पर्क-स्थापन में समर्थ होती है। व्यापक स्तर पर राष्ट्र के भीतर एकता की अनुभूति कराने के लिए इसकी आवश्यकता होती है। हिन्दी को संविधान में यही पद प्राप्त है। भारतवर्ष एक बहुभाषी देश है, लेकिन उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम तक की शासन-व्यवस्था के लिए केन्द्र द्वारा स्वीकृत राजभाषा अथवा अन्य सम्पर्क भाषा हिन्दी

---

1. हिन्दी-उद्भव, विकास और रूप-डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. 224
2. राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ, नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ. 54

ही है। इस दृष्टि से हिन्दी को सहज ही **राष्ट्रभाषा और राजभाषा**- दोनों का दर्जा प्राप्त है।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा (International Language)—अलग-अलग राष्ट्रों में पारस्परिक संवाद की भाषा को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहा जाता है। राष्ट्रों की जमात में किसी ऐसे भाषा-माध्यम की अनिवार्य आवश्यकता है, जो विचार-विनिमय का साधन बन सके। राष्ट्र-संघ जैसी विश्व-संस्थाओं का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के अभाव में नहीं चल सकता। आज के युग में तो इस प्रकार की भाषा और भी आवश्यक है, क्योंकि वैज्ञानिक उन्नति के कारण यातायात के जो साधन आज सुलभ हैं, उनसे दूरीगत व्यवधान आज नगण्य हो गए हैं। और सुदूर देशों में निवासियों के बीच सम्पर्क की सम्भावनाओं में आशातीत वृद्धि हुई है। यूनेस्को द्वारा अंग्रेजी, फ्रांसीसी और स्पेनी भाषाओं को अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा प्राप्त है। राष्ट्रसंघ में अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, रूसी और चीनी भाषाओं के माध्यम से कार्य चलता है। विश्वभर में सर्वाधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा **अंग्रेजी** है। बोलने और समझने वालों की संख्या के आधार पर **अंग्रेजी** के बाद दूसरा स्थान **चीनी** भाषा का है और तीसरा स्थान **हिन्दी** का।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के सम्बन्ध में पेइ के विचार स्पष्ट हैं– "अन्तर्राष्ट्रीय संप्रेषण की उद्देश्यपूर्ति के लिए यह एक वर्गबद्ध प्रयोग है। इस प्रकार के संप्रेषण के लिए भाषा प्राकृतिक हो सकती है, यथा **अंग्रेजी** अथवा **फ्रांसीसी** अथवा संशोधित भाषा, यथा **बेसिक इंग्लिश** अथवा मानवरचित भाषा, यथा-**ऐस्पेरेन्तो**।"[1]

साहित्यिक भाषा (Literary Language)-साहित्य के लिए प्रयोग में आने वाली सँवारी हुई और सुसंस्कृत भाषा को साहित्यिक भाषा कहते हैं। इस कथन का सहज अर्थ यह है कि साहित्यिक भाषा जनभाषा की तुलना में कृत्रिम होती है। निरन्तर परिमार्जन और परिष्करण की प्रवृत्ति साहित्यिक भाषा का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। लेकिन, यह उल्लेख्य है कि प्रत्येक साहित्यिक भाषा के मूल में कोई-न-कोई जनभाषा अवश्य होती है। उसी की सचेष्ट साज-सँवार से साहित्यिक भाषा रूपायित होती है।

---

1. — Glossary of Linguistic Terminology—Mario Pei, p. 128

लोकभाषा अथवा जनभाषा अपनी प्रकृति से विकासशीला होती है, लेकिन साहित्यिक भाषा में उस प्रकार का विकास और प्रवाह परिलक्षित नहीं होता, वह अधिकांशत: स्थिर और अपरिवर्तनशील होती है। इसलिए समय बीतने पर लोक भाषा और साहित्यिक भाषा एक दूसरे से बहुत दूर हो जाती है। मंगलदेव शास्त्री ने साहित्यिक भाषा को परिभाषित करते हुए जो लिखा है, वह बहुत सुस्पष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि से साहित्यिक भाषा वह है, जिसमें अच्छा-खासा साहित्य हो और जिसको मुख्यतया शिक्षित समुदाय या शिष्ट वर्ग ही बोल सकता है। इस मन्तव्य पर विचार करने से परिनिष्ठित हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी पर्यायवाची हो जाती हैं, जबकि ऐसा नहीं है। परिनिष्ठित (Standard) हिन्दी सर्वथा व्याकरण-सम्मत होती है, तथा उसके निश्चित नॉर्म होते हैं, जबकि 'साहित्य' का निर्माण ही तब होता है, जब भाषा नॉर्म से हटकर चलती है। साहित्यिक भाषा में शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थ चमत्कारपूर्ण होते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र में इसी आधार पर काव्यभाषा अर्थात् साहित्यिक भाषा को वार्त्ता की भाषा से भिन्न बताया गया है।

भारतीय काव्य-शास्त्र के 'रसात्मक', 'रमणीयार्थप्रतिपादक', 'वक्र', 'रीति' आदि विशेषणों का प्रयोग, उस विशेषता के सूचक हैं, जो साहित्यिक भाषा को सामान्य भाषा से अलग करती है।

2

भारत और भाषाविज्ञान

-एम. बी. एमेन्यू

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि दो सहस्राब्दियों से भी अधिक प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान से ही आज के पश्चिमी जगत् के आधुनिक भाषाविज्ञान का सूत्रपात हुआ है। अत: उसके ऐतिहासिक विकास का पर्यवेक्षण संभवत: उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

उत्तर-पश्चिमी भारत के वैदिक लोगों का धर्म वैदिक संहिता ग्रंथों पर आधारित था, जो परंपरानुसार साक्षात्कृत माने जाते रहे हैं। संसार के अन्य धर्मों के लोग भी अपने धर्म-ग्रंथों को भी इसी प्रकार समझते हैं, परन्तु वैदिक लोगों के लिये वेदों के संहिता अर्थात् ग्रंथ रूप की अपेक्षा उनके वाक्-रूप उच्चरित भाषा का रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। अत: संहिताओं के उच्चरित रूप को यथावत् सुरक्षित रखना उनका प्रधान कर्तव्य था। वैदिक संहिताओं तथा उनके विषय में उक्त मान्यता के विकास के विविध सोपानों के विषय में सम्प्रति कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, परन्तु यह निश्चित है कि इतिहास में एक ऐसा समय आया जब कि सामान्यत: भाषाओं में घटित होने वाले परिवर्तनों से वेदों को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए विशेष प्रयास करने पड़े। वैदिक मनीषियों ने अपनी भाषा को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए जो वैज्ञानिक प्रयास किए वैसे प्रयास अन्यत्र कहीं नहीं हुए। इसका मूल कारण यही था कि वैदिक-धर्म में 'शब्द' अर्थात् वेदों का सर्वाधिक महत्त्व था। वैदिक संहिताओं पर आधारित समस्त कार्यानुष्ठानों के नियामक ये साक्षात्कृत 'शब्द' ही थे। क्योंकि, वैदिक आर्य सुप्रयुक्त अर्थात् सम्यग् उच्चरित शब्द में मनोवांछित फल और दुरुक्त शब्द में दुष्परिणाम प्रदान करने की शक्ति मानते थे, अत: भाषा में क्रमश: घटित होते रहने वाले निरन्तर परिवर्तनों के विपरीत वैदिक भाषा को यथावत् सुरक्षित कैसे रखा जाए, यही उनके लिए मूल प्रश्न था। ऐसी समस्या का सामना संसार के अन्य लोगों ने भी किया है, परन्तु वैदिक ऋषियों ने इसका सर्वाधिक श्रेष्ठ निदान किया। वस्तुत: वैदिक ऋषि 'शब्द शुद्धता' की इस साधना के परिणामस्वरूप ही उस समय सूक्ष्म-द्रष्टा ध्वनि-वैज्ञानिक बन गए थे, जबकि संसार के अन्य सभी लोग या तो इस दिशा में कुछ भी नहीं जानते थे या कुछ भ्रामक कल्पनाओं में उलझे हुए थे। (इन ध्वनिवैज्ञानिकों का

समय ईसवी पूर्व की प्रथम सहस्राब्दी या उससे कुछ पूर्व या बाद माना जाता है।) इन ध्वनि-वैज्ञानिकों के प्रयासों का ही परिणाम है कि आज ऋग्वेद का सर्व-शुद्ध-पाठ उपलब्ध है।[1] ऋक्-प्रातिशाख्य का ध्वनि विवेचन निश्चित ही इस बात का प्रमाण है कि तीन सहस्राब्दियों के बीत जाने के बाद भी ऋग्वेद के पाठ और उच्चारण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

वैदिक मंत्रों को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए मात्र ध्वनिविज्ञान ही पर्याप्त नहीं हो सकता था, उसके लिए अर्थ का भी महत्त्व था। अत: वेदों की परम्परा के संवाहक मुनियों ने शब्द-सूचियाँ, अर्थात् निघण्टु भी तैयार किए, जिससे वैदिक संहिताओं के कोशों का प्रयोजन सिद्ध हुआ। जैसे-जैसे परवर्ती काल में वेदों का अर्थ दुरूह होता गया, ये शब्द-सूचियाँ विकसित होती गई तथा उन पर टीकाएँ भी लिखी जाने लगी थीं। प्राचीन संहिताओं के मर्मोद्घाटन या सम्यग् अर्थ-परिज्ञान के लिए उनका पद-वैज्ञानिक दृष्टियों से भी विश्लेषण विवेचन आदि भी महत्त्वपूर्ण था और यह निश्चित है कि इस दिशा में भी पर्याप्त कार्य भी हुआ होगा, परन्तु इस समय उस समय का कोई ऐसा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जिसमें केवल वैदिक भाषा का व्याकरण हो।

प्राचीन भारतीय उच्चतर-संस्कृति (अमूर्त और अभौतिक संस्कृति) की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें बौद्धिकता की जितनी व्याप्ति है, उतनी ही तीव्र अभिलाषा उसमें सिद्धान्तों की तर्क-संगत स्थापना तथा तथ्यों के विश्लेषण और वर्गीकरण आदि करने की है। सामान्यत: इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि हिन्दू आध्यात्मिक होते हैं, अर्थात् उनके सम्मुख सर्वाधिक मौलिक प्रश्न आत्मा और शेष सृष्टि के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में है, तथा उसका तत्व-दर्शन, मोक्ष या मुक्ति का एक ऐसा साधन है कि जिससे उसकी आत्मा सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो, व्यापक आध्यात्मिक तत्व 'ब्रह्म' के साथ एकत्व प्राप्त कर ले। यहाँ इस बात को बल-पूर्वक कहा जाना चाहिए कि हिन्दू बौद्धिकता मोक्ष के सिद्धान्त को किसी सामान्य देववादी दर्शन के आधार पर स्वीकार नहीं करती। इसीलिए हिन्दू अपने मोक्ष के सिद्धान्त की और भी अधिक व्याख्या करता है तथा बौद्धिकता के एक उच्चतम आयाम की सृष्टि करता है। वस्तुत: हिन्दू-मोक्ष-दृष्टि विशुद्ध बौद्धिक धरातल पर आधारित है। इसलिए, मोक्ष की रहस्यात्मक स्थिति, अनुभूति या अनुभव को बौद्धिकता के उच्चतर स्तर के रूप में स्वीकार किया गया है। क्योंकि दार्शनिकों में सैद्धान्तिक मतभेद होता ही है, अत: हिन्दू चिन्तन में भी इसी प्रकार एक ही

दार्शनिक प्रश्न पर अनेक अभिमत विकसित हुए हैं। वस्तुत: भारत में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अनेकात्मक नास्तिक-आस्तिक सभी दर्शनों का अन्तर मूलत: आत्मा के प्रश्न से सम्बन्ध है। सत्य तो यह है कि कुछ प्रश्न हिन्दू विचारकों के लिए अधिक मौलिक रहे हैं, तथा उनको लेकर उन्होंने अतिशय सूक्ष्म विवेचन किया है। इससे कुछ अन्य दार्शनिक प्रश्नों की उपेक्षा भी हो गई है। परन्तु जिन दार्शनिक प्रश्नों को हिन्दू विचारकों ने उठाया है, उनका सूक्ष्म विवेचन अत्यन्त तर्क-संगत एवं वस्तु-परक दृष्टि से किया है। कदाचित् हिन्दू चिन्तन का यह अपना वैचक्षण्य है और इसीलिए कभी कभी ऐसा लगता है कि जैसे हिन्दू तर्क के लिए तर्क कर रहा है। परन्तु हिन्दू के लिए दर्शन का मूल प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति ही है, जिसे वह परम पुरुषार्थ मानता है। हिन्दुओं के लिए विविध दर्शन विविध मोक्ष मार्ग हैं—मोक्ष की ओर ले जाने वाले रास्ते। इसीलिए व्यापक हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक उपसम्प्रदायों ने पंथ या मार्ग के रूप में अपने आपको दूसरों से भिन्न बताया है। कभी-कभी तो एक ही धार्मिक पंथ या मार्ग में उपासना पद्धति के अन्तर के कारण कुछ उपवर्ग बन गए हैं। परन्तु इन सभी पंथों, मार्गों तथा दर्शनों के मूल में एक विशेष प्रकार की एकात्मता है।

प्राचीन भारतीय व्याकरणिक अध्ययनों में भी बौद्धिकता का वही स्तर दृष्टिगोचर होता है जो अन्य शास्त्रों या दर्शनों में दृष्टिगोचर होता है तथा व्याकरणिक अध्ययन, जो साक्षात्कृत 'वेद' को यथावत् सुरक्षित रखने के मौलिक प्रयोजन से प्रेरित हो कर प्रारम्भ हुए थे, आगे चल कर भारतीय मनीषा की उपलब्धि के अन्यतम रूप में सिद्ध और प्रसिद्ध हुए। सामान्यत: वैदिक भाषा के कुछ ध्वनि-शास्त्रीय विवेचन (Phonetic description) के साथ-साथ रूप एवं वाक्य-शास्त्रीय (Morphological and Syntactical) अध्ययन को वेद की संरक्षा के लिए पर्याप्त माना जा सकता है, परन्तु यह मान्यता पश्चिमी जगत् में तो सम्भव हो सकती है, हिन्दू बुद्धि जीवी के लिए नहीं। इसीलिए वे हज़ारों वर्ष पहले 'व्याकरण' के लिए व्याकरण बनाने में प्रवृत्त हुए थे। वे बहुत पहले ही साधारण ध्वनिक-विशेषताओं के सामान्य उल्लेखों के बहुत आगे, आधुनिक दृष्टि से संस्कृत की ध्वनि-व्यवस्था (Phonology) का स्वनिमात्मक वर्णन (Phonemic description) करने लगे थे। क्योंकि उनको अपनी भाषा की संरचना (linguistic structure आधुनिक अर्थ में) की संरक्षा ही अभीष्ट और उद्दिष्ट थी। इसके पश्चात् भारतीय वैयाकरणों का ध्यान भाषा के पद (morpheme) तथा वाक्य संरचना (syntax) के अध्ययन पर विशेष रूप से केन्द्रित रहा, तथा संस्कृत-भाषा का वैज्ञानिक-विश्लेषण एवं वर्णन इस पूर्णता के साथ

किया कि इसे मात्र 'पवित्र-वेदों की संरक्षा के धार्मिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए किए गए कार्य' के रूप में कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि हिन्दू वैयाकरणों द्वारा रचित समस्त व्याकरणों में सर्वश्रेष्ठ पाणिनि का व्याकरण[4] इतना उत्तम था कि उसके कारण केवल 'वैदिक भाषा' के सभी पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रंथों का प्रचलन समाप्त हो गया और अंततः उनका लोप हो गया, तथा अब ऐसे कुछ ध्वनि-शास्त्रीय ग्रंथ एवं कोश आदि ही बचे हुए हैं, जिनमें केवल वैदिक भाषा का विवेचन हुआ है। परन्तु विद्धानों की इस मान्यता के विषय में शंका करना ही उचित होगा। वस्तुतः पाणिनी के समय में ही विज्ञान 'धार्मिकता' से मुक्त और स्वतन्त्र हो गया था, तथा जैसा कि पहले कहा जा चुका है उसका व्याकरण 'व्याकरण के लिए' लिखा गया व्याकरण था; उसमें धार्मिकता का कोई विशेष आशय दृष्टिगोचर नहीं होता। साथ ही पाणिनि के व्याकरण में वैदिक भाषा का वर्णन भी प्रसंगोपात्त रूप में ही हुआ है। ऐसा लगता है कि जैसे पाणिनि का मूल उद्देश्य किसी धार्मिकता के आग्रह से वैदिक भाषा का वर्णन करना था ही नहीं,[5] वह और ही कुछ करना चाहता था। वह संस्कृत भाषा के उस मानक रूप का वर्णन करना चाहता था जो आगे एक सर्व-सामान्य-भाषा में आदर्श रूप में प्रतिष्ठित हो सके। (पाणिनि के पश्चात् ही संस्कृत भाषा न केवल भारत की एक सर्व सामान्य-राष्ट्रभाषा सिद्ध हुई थी, वरन् वह समूचे एशिया में एक अंतर्देशीय भाषा के रूप में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थी।) वास्तव में अभी तक यह एक उलझी हुई समस्या ही है, क्योंकि पाणिनि ने स्वयं अपने व्याकरण शास्त्र के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। ऐसी स्थिति में यह भी सत्य हो सकता है कि जिस भाषा का रूप-वर्णन पाणिनि ने कर दिया, वही, उसके कारण, भारत की एक सामान्य साहित्यिक भाषा सिद्ध हो गई।[6] यहाँ इस समस्या के विषय में विशेष कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि लैटिन और ग्रीक दोनों ही भाषाओं की दीर्घजीवी साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं, यद्यपि आधुनिक तथा प्राचीन भारतीय दृष्टियों से उनके अच्छे व्याकरण नहीं थे तथा परवर्ती काल में ग्रीक तथा लैटिन की अच्छी साहित्यिक कृतियों के आदर्शों का सामान्यतः अनुकरण भी हुआ है जिसके परिणाम कभी अच्छे हुए हैं और कभी बुरे। परन्तु जिस प्रकार का आदर्श व्याकरण भारत में संस्कृत के लिए सम्भव हुआ था, उसी प्रकार का व्याकरण लैटिन और ग्रीक भाषाओं का भी होता, तो परवर्ती कृतियों में रूपात्मक (morphological), वाक्यात्मक (syntactical) तथा शब्द-प्रयोग-विषयक

यह सत्य है कि भाषा में स्वाभाविक रूप से होने वाले परिवर्तनों को तो संस्कृत जैसी देव-भाषा के श्रेष्ठ वैयाकरण भी नहीं रोक सकते थे। फलत: मध्यकालीन संस्कृत की वाक्य-संरचना तथा शब्द-प्रयोग अनेक दृष्टियों से पाणिनि की समकालीन या उसके आस-पास के समय की संस्कृत-भाषा की वाक्य संरचना तथा शब्द-प्रयोग से भिन्न हैं। पाणिनि के नियन्त्रण के बावजूद, भी समय के साथ विकसित होती गई तथा उसके विकास के भी वैसे ही कालखंड संस्कृत भाषा है जैसे लैटिन भाषा के विकास के हैं।

पाणिनि के व्याकरण-लेखन का संदर्भ कुछ भी क्यों न रहा हो, (वह निश्चित ही एक ऐसा उलझा हुआ प्रश्न है कि जिसके विषय में अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता), परन्तु यह सत्य है कि पाणिनि के व्याकरण में अपने विषय की पूरिपूर्णता तथा व्याप्ति कुछ ऐसी है कि उसको देखकर मानना पड़ता है कि उसका लेखक भारतीय मनीषियों के उस समूह का है जिनमें अपने विवेच्य विषय के मान्य प्राविधिक सिद्धान्तों के अनुरूप सूक्ष्मतम विश्लेषण करने के उच्चतम हिन्दू-बुद्धि-जीवी के सभी लक्षण स्पष्टत: और पूर्णत: परिलक्षित होते हैं।

उच्च हिन्दू संस्कृति का एक दूसरा पहलू और भी है जिसके कारण उनके व्याकरणिक अध्ययन एक प्रकार की सर्वश्रेष्ठता पा सके हैं। हिन्दू-दृष्टि से मानवीय सत्ता के उन रूपों या अवस्थाओं का विशेष महत्त्व रहा है जिन्हें न पूर्ण चेतन कहा जा सकता है और न अचेतन या अवचेतन तथा जो बिना किसी प्रयास के अपने आप घटित होती हैं; अर्थात् जो या तो सहजात होती हैं या सहज क्रियाओं के लम्बे समय तक प्रशिक्षण के परिणाम-स्वरूप होती हैं। जैसे श्वास-प्रश्वास तथा पाचन की प्रक्रिया मनुष्य में अपने आप घटित होती है और उन्हें सीखा भी नहीं जाता, परन्तु संकेतन और वाग्व्यवहार अपने आप तो घटित होते हैं, परन्तु उन्हें सीखा जाता है। हिन्दुओं की मानवीय चेतना के रूपों में इतनी विशेष रुचि थी कि उन्होंने इनके सूक्ष्म अध्ययन तथा उपयोग-प्रयोग करने की अनेक प्रविधियाँ या तकनीक विकसित कर ली थीं। जैसी कि हिन्दुओं की मोक्षविषयक मान्यता है उसी के अनुरूप उनकी, इस क्षण-भंगुर संसार-चक्र से आत्मा की मुक्ति प्राप्त करने की तीव्र इच्छा के परिणामस्वरूप उन्हें यह बात उपयोगी प्रतीत हुई होगी कि इस भौतिक शरीर की सहज प्रवृत्तियों एवं प्रक्रियाओं पर भी आत्मा का अधिकार रहे। मोक्ष को, इसीलिए, आत्म-स्वातन्त्र्य के रूप में स्वीकार किया गया है। व्यक्ति के मनो-शारीरिक अध्ययन के आधार पर ऐसी प्रविधियों को खोजा गया, जिनके द्वारा श्वासोच्छ्वास, पाचन

एवं रति-प्रक्रिया आदि का संयमन सम्भव हुआ। परिणामस्वरूप प्राचीन हिन्दू मनीषा द्वारा योग-दर्शन एवं शास्त्र विकसित हुआ। अत: उसके विकास के मूल में भी उनकी पूर्वोल्लिखित आत्म-मोक्ष विषयक तीव्र-इच्छा को ही स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुत: यह मुमुक्षा मानवीय उदात्त तत्त्वों के पूर्ण चैतन्य के रूप में उन्नयन का ही दूसरा नाम है, जो भारतीय संस्कृति के सभी ललित रूपों में प्रतिबिम्बित है। शास्त्रीय हिन्दू नृत्य भी मूलत: प्रशिक्षित किन्तु सहज मुद्राओं का ही संकेतीकरण तथा उनका विस्तार एवं प्रस्तार है, तथा उसके मूल में हिन्दू मोक्ष-दृष्टि ही प्रतीत होती है। वैदिक भाषा में जिसे 'ऋत' कहा गया है वही नृत्य में नियमित गति द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा अंग-संचालन (गति-तत्त्व) के द्वारा मुद्रा विन्यास (स्थायी तत्त्व, जिसे वैदिक भाषा में 'सत्य' कहा गया है) के माध्यम से भाव या रूप की सृष्टि संभव होती है जिसे निश्चित ही शास्त्रीय-हिन्दू-नृत्य का सारतत्त्व माना जा सकता है, तथा यही सार तत्त्व सभी हिन्दू-साधना-पद्धतियों में भी मुद्रा-न्यास आदि के विस्तार में दृष्टिगत होता है, जिसके अन्तर्गत सामान्य ईश्वर-नाम-कीर्तन आदि से लेकर विविध तांत्रिक सम्प्रदायों में 'ॐ' से लकर 'हुं', 'ह्रीं', 'ह्रां' 'फट्' आदि बीज मंत्रों तक के विकास को स्वीकार किया जा सकता है। निश्चित ही मानवीय वाग्व्यवहार या भाषा के विश्लेषण तथा उसके सैद्धान्तिक विनियोग के लिए, भारतीय भाषाविज्ञान का विकास इसी तथ्य का एक दूसरा निदर्शन है जिसके मूल में संस्कार-जन्य, किन्तु उदात्त मानवीय क्रिया के पूर्ण चैतन्य रूप में उन्नयनरूपी हिन्दू-मोक्ष-दृष्टि ही कारण भूत प्रतीत होती है। क्या यह उल्लेखनीय नहीं हैं कि प्राचीन भूमध्य सागरीय देश, क्योंकि अवचेतन के विषय में अत्यधिक अजिज्ञासु थे, इसीलिए वे श्रेष्ठ व्याकरणिक प्राविधान न कर सके? तथा क्या यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आधुनिक युग में विवरणात्मक-भाषाविज्ञान (Descrpitive Linguistic) में पाश्चात्त्य जगत् की विशेष रुचि तथा अवचेतन के मनोविज्ञान (Psychology of Subconscious) का विशेष विकास बहुत कुछ समांन एवं समकालीन है?

हिन्दू व्याकरण शास्त्र के लिए अब तक हमने 'श्रेष्ठ' तथा 'सर्वांगीण' शब्दों का ही प्रयोग किया है, यद्यपि कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने उसके लिए और भी अधिक प्रशंसात्मक शब्द कहे हैं (उदाहरणार्थ लिआनार्ड ब्लूम्फील्ड के उद्गार, 'लैंग्वेज' नामक पत्रिका के खण्ड 5 पृष्ट 267-276 में द्रष्टव्य हैं); किन्तु भारतीय भाषाविज्ञान के समुचित मूल्यांकन के लिए उसका स्पष्ट व्याख्यात्मक विवेचन आवश्यक है।

किसी भी वस्तु या तथ्य-राशि का वही विवरण वैज्ञानिक विवरण कहला सकता है जो वर्ण्य वस्तु या तथ्य-राशि में संभव सभी समानताओं का पता लगाने का प्रयास करता है, उन समानताओं को कुछ वर्गों (classes) में संयोजित करता है तथा इन वर्गों को पुन: तब तक अधिक व्यापक समावेशक वर्गों (inclusive classes) में संयोजित करता जाता है जब तक कि वर्गों के अत्यन्त समावेशक वर्ग सिद्ध नहीं हो जाते? वर्ण्य वस्तु या तथ्य राशि में प्राप्त समानताओं तथा आंशिक समानताओं को खोजने की प्रविधि के विषय में यहाँ चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता, और न ही यह कहने की आवश्यकता है कि वैज्ञानिक विवरण सदा वर्ण्य-वस्तु की यथावत्ता तथा समग्रता का होता है, तथा उसके अध्ययन की इकाइयाँ तथा उनके विषय में प्राविधान दोनों ही निर्दोष, स्पष्ट, एवं लघु (सूत्र) होते हैं, क्योंकि वैज्ञानिक अध्ययन तथा विवरण की उक्त प्रतिज्ञाएँ वैज्ञानिकों के बीच शताब्दियों से ज्ञात हैं। हाँ, यद्यपि वैज्ञानिक-विवरण के मान्य सिद्धान्तों के विषय में भाषाविज्ञान के पंडित कुछ दशाब्दियों से ही अधिक सचेत हैं तथा भाषाओं के वैज्ञानिक विवरणात्मक अध्ययनों में क्रमश: उत्तरोत्तर उनका आधार स्वीकार किया जा रहा है। परन्तु पाणिनि द्वारा किया गया संस्कृत-भाषा का विवरण वैज्ञानिक विवरण के सभी सिद्धान्तों के विनियोग का एक ऐसा आदर्श उदाहरण है कि उससे सीखा जा सकता है कि भाषाओं का वैज्ञानिक विवरण कैसे किया जाना चाहिए तथा पाश्चात्य भाषाविज्ञान में वाक्य-विश्लेषण तथा विवरण के अपवाद के साथ अन्य सभी क्षेत्रों में वह (पाणिनि द्वारा किया गया भाषा-विवरण) निश्चित ही अब तक एक ऐसा आदर्श है, जिससे श्रेष्ठतम नहीं बनाया जा सका है। वस्तुत: पाणिनि के व्याकरण में वाक्य को छोड़कर अन्य सभी स्तरों—वर्ण और पद के स्तरों—पर संस्कृत भाषा में प्राप्त सभी समानताओं को वस्तु-परक-विश्लेषण के आधार पर अलग-अलग किया गया है, उन्हें वर्गों में विभाजित किया गया है तथा वर्गों को इस प्रकार व्यापक समावेशक वर्गों में विभाजित किया गया है कि उससे भाषा का सारा विवरण अल्पतम वर्गों तथा उपवर्गों द्वारा संभव हो जाता है।

वस्तुत: ग्रीक तथा लैटिन भाषियों ने अपनी भाषाओं के सर्वांगीण विश्लेषण का ऐसा कोई प्रयास ही नहीं किया तथा वे अपनी भाषाओं के ऐसे विश्लेषण तथा विवरण से संतुष्ट थे जिसे आज का भाषा-वैज्ञानिक अतात्त्विक-विश्लेषण पर आधारित भाषिक कोटीकरण या वर्गीकरण ही मानेगा, तथा यदि पाणिनि ने भी ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं के व्याकरणों को देखा होता तो उसे भी वे इसी प्रकार प्रतीत होतीं। उदाहरणार्थ लैटिन के चार प्रकार के क्रिया-रूपों (Conjugations) के विवेचन को लिया जा सकता है जिसमें क्रियाओं

के धातु रूपों (roots), मूल-प्रत्ययों (Stem Suffixes) तथा विकारी प्रत्ययों (Inflexional Suffixes) के अन्वेषण का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है तथा विविध क्रिया-रूपों में प्राप्त ऐसे सादृश्यों की ओर भी कम ही ध्यान दिया गया है, जिनका विधान किया जा सकता था। निश्चित ही, हिन्दुओं द्वारा किए गए संस्कृत भाषा के ध्वनि-वैज्ञानिक, स्वनिमात्मक (संधियों के) विश्लेपण की तुलना के मूल और मध्यकालीन ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं की ध्वनि-व्यवस्था का विवेचन अपरिपक्व तथा भ्रामक कहा जाएगा। संस्कृत तथा ग्रीक एवं लैटिन भाषाओं के व्याकरणों के उक्त अन्तर का एक परिणाम यह है कि अनेक बार हमें कल्पना ही करनी पड़ती है कि ग्रीक और लैटिन प्राचीन अथवा मध्यकाल में किस प्रकार उच्चरित की जाती थी, जबकि पाणिनि के समय में संस्कृत भाषा किस प्रकार उच्चरित होती थी, इसके विषय में निश्चित प्रामाणिक जानकारी हमारे पास है। यह बात केवल शब्दों के विषय में ही सत्य नहीं है, भारतीय ऋषियों की दृष्टि वाक्य-रूप में उच्चरित वाग्व्यापार पर थी, अत: उन्होंने वाक्य में होने वाले सभी ध्वनिक-विकारों का भी विवरण दिया है। वस्तुत: संस्कृत भाषा संग्रथित-वाक्यों के रूप में ही लिखी जाती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृत की लेखन-व्यवस्था के अनुसार वाक्य के शब्दों को पृथक्त: नहीं लिखा जाता। क्योंकि हिन्दू-दृष्टि में उक्ति या वाक् मूलत: वाक्यात्मक है, मात्र अलग-अलग शब्दों की शृंखला के रूप में भाषा की कल्पना, जैसी कि रोमन विचारकों ने की थी, तथा आज तक पश्चिम में यही दृष्टि-कोण अधिक प्रचलित है, भारतीय भाषा-दर्शन में स्वीकार्य नहीं है। इस दृष्टि से ग्रीक विचारकों का भाषा-दर्शन कुछ भिन्न प्रतीत होता है, जैसा कि ग्रीक भाषा के वाक्यों में सुर (tone) अंकन की व्यवस्था से प्रमाणित होता है। परन्तु ग्रीक भाषा के सुर-अंकन से वैदिक संहिताओं के सुर-अंकन की व्यवस्था निश्चित ही श्रेष्ठ कही जाएगी।

रूपिम या रूप-विज्ञान (Morphology) के क्षेत्र में तो भारतीय भाषाविज्ञान की उपलब्धियाँ कुछ इस प्रकार की हैं कि पश्चिम में अभी कुछ ही दशाब्दियों से उन से होड़ ले सकने की स्थिति हो पाई है। परन्तु फिर भी संस्कृत के भाषा-वैज्ञानिक विवरण से श्रेष्ठ किसी अन्य भाषा का भाषा-वैज्ञानिक विवरण अभी तक संभव नहीं हो सका है। सहरूपिमों (allomorphs) का विधान, सहरूपिम के रूप में शून्य (zero) की संकल्पना (अर्थात् लोप) का भाषा-वैज्ञानिक-विवरण में प्रयोग,[8] सहरूपिमों के विविध वर्गों या गणों (sets), जिन्हें आजकल रूप-स्वनिम (morphophonemes) कहते हैं, अर्थात् संधि में परस्पर समान-उपलक्षणों या समानताओं का व्यवस्थित निर्देश, और विशेषकर कुछ सकुल

भाषित संरचनाओं के वर्णन की सुकरता के लिए विशिष्ट रूप-स्वनिमों की संकल्पना (उदाहरणार्थ 'ऋ' की स्थिति) तथा पद तथा वाक्य दोनों स्तरों पर भाषिक वर्गों या कोटियों (classes) के अर्थों के विषय में स्पष्ट व्यवस्था तथा इसी प्रकार की अनेक विशेषताएँ संस्कृत के पद तथा वाक्य के विश्लेषण में दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका विधान अत्यन्त विज्ञान सम्मत शैली में हुआ है। ग्रीक और संस्कृत व्याकरणों की तुलना के संदर्भ में इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि संस्कृत व्याकरण में 'गुण' और 'वृद्धि' के रूप में सह रूपिमों के सम्बन्धों का जो विश्लेषण किया गया है, वह मूलत: मूल-भारोपीय भाषा की स्वर क्रम व्यवस्था (Ablaut System) का विवेचन है। परन्तु संस्कृत भाषा में गुणात्मक स्वर क्रम (Qualitative about) समाप्त हो चुका था, तथा भारतीय वैयाकरण अन्य किसी भारोपीय भाषा से कदाचित् परिचित भी नहीं थे, (अथवा यदि वे परिचित भी थे, तो उसमें उनकी कोई रुचि नहीं थी), जिसके साथ वे तुलना कर सकते। इसके विपरीत ग्रीक भाषा में गुणात्मक तथा परिगणनात्मक (Quantitative) दोनों प्रकार की स्वर-क्रम व्यवस्था स्पष्टत: सुरक्षित थी, फिर भी ग्रीक व्याकरण तथा 19वीं शताब्दी तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य सभी पाश्चात्य वैयाकरण भी, स्वर-क्रम सम्बन्धी व्याख्या का ऐसा कोई विवरण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे, जिसकी तुलना पाणिनि द्वारा किए गए विवेचन के साथ की जा सके।

आधुनिक काल में व्याकरणिक विवरण मूलत: तीन प्रकार का होता है: एक तथ्य इकाई और उनके संयोजन (Item and arrangement) का विवरण, दूसरा तथ्य इकाई और प्रक्रिया (Item and process) का विवरण, और तीसरा शब्द और उनकी रूपावलियाँ का वर्णन (word and paradigm) तथा इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण, निश्चित ही, दूसरे प्रकार का माना जा सकता है।[9] वस्तुत: पाणिनि के व्याकरण की सम्भवत: सर्वाधिक चमत्कारी विशेषता वह व्यवस्था है कि जिसके द्वारा संज्ञा और क्रिया-वर्ग के प्रत्येक अत्यन्त बहुसहरूपिमात्मक रूपिम (पद) (Polyallomorphic-morphemes) के लिए एक आधार भूत सहरूपिम स्थापित किया गया है। अर्थात् प्रत्येक क्रिया अथवा संज्ञा के मूल में किसी न किसी धातु तथा/अथवा प्रकृति के रूप में एक प्रातिपदिक को स्वीकार किया गया है तथा इन्हीं मौलिक इकाइयों के साथ सभी भाषिक रूपों का सम्बन्ध, संधिविषयक व्यापक प्राविधानों के माध्यम से, स्थापित किया गया है। क्योंकि संस्कृत में क्रिया और संज्ञा रूपिमों में अनेक समानताएँ हैं, अत: पाणिनि ने एक ऐसी व्युत्पत्ति-व्याख्या (system of derivation) को स्वीकार किया है जिसमें सभी संज्ञा-रूपिमों

या प्रातिपदिकों की व्युत्पत्ति क्रिया-धातुओं से की जा सके, या ऐसी ही अन्य धातुओं से की जा सके, जिन्हें क्रिया-वर्ग के अन्तर्गत स्वीकृत किया जा सकता है, यद्यपि ये दूसरे प्रकार की धातु ऐसी हैं कि जो किन्हीं विशिष्ट संज्ञा मूल-पदों या प्रतिपादिकों (noun stems) में ही आती हैं। व्युत्पत्ति और विश्लेषण के इस सिद्धान्त के विरोध में गार्ग्य का अपना अभिमत था, जिससे संस्कृत के वैयाकरण भली-भाँति परिचित हैं। परन्तु पाणिनि के समय में शाकटायन का अभिमत ही सर्वमान्य था, जो उनकी अष्टाध्यायी में भी प्रतिफलित हुआ है तथा आज भी भारतीय वैयाकरणों का सर्वमान्य मान्य सिद्धान्त है।[10] गार्ग्य और शाकटायन के विरोधी सिद्धान्तों को देखकर, अंग्रेजी की -er प्रत्यय वाली संज्ञाओं जैसे Hammer आदि के विश्लेषण सम्बन्धी समस्या और नाइडा द्वारा ब्लूम्फील्ड द्वारा प्रस्तावित पाणिनि जैसे हल की अस्वीकृति का स्मरण हो आता है। वस्तुत: ब्लूम्फील्ड द्वारा प्रस्तावित हल से नाइडा की असहमति पूर्णत: तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होती।[11]

संस्कृत व्याकरण शास्त्र अथवा भारतीय व्याकरणिक विवरण की जैसी कि अब तक व्याख्या की गई है, उसके अनुसार यद्यपि उसे मूलत: प्रक्रिया (Process) परक-विवरण ही कहा जा सकता है। परन्तु अभी तक यह पूर्णत: स्पष्ट नहीं है कि उसकी उक्त व्याख्या ही उचित है या नहीं। क्योंकि यह निश्चित करने के लिए कि पाणिनि की विश्लेषण एवं वर्णन पद्धति स्पष्टत: 'संयोजन' और 'प्रक्रिया' परक ही है, या उसमें इन दोनों प्रविधियों का समन्वित रूप मिलता है, पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस पर लिखी गई टीकाओं के गहन अध्ययन की अभी बड़ी अवश्यकता है।

18वीं शताब्दी के अंत में संस्कृत और उसके स्थानीय वैयाकरणों का कुछ ज्ञान पाश्चात्य जगत् में पहुँचा था। सर विलियम जोन्स् ने बड़े उत्साह के साथ करीब साढ़े आठ वर्षों तक संस्कृत का गहन अध्ययन किया तथा 2 फरवरी 1786 में एशियाटिक सोसायटी के अपने तृतीय वार्षिक अभिभाषण में यह प्रसिद्ध घोषणा की कि "संस्कृत भाषा, चाहे जितनी प्राचीन हो, उसकी संरचना निश्चित ही आश्चर्य-जनक है। वह न केवल ग्रीक से भी अधिक पूर्ण तथा लैटिन से भी अधिक व्यापक है, अपितु दोनों से अधिक परिष्कृत भी है। साथ ही क्रिया-धातुओं और व्याकरण के रूपों, दोनों में संस्कृत की ग्रीक और लैटिन के साथ अधिक समानता है जो बिना किसी मौलिक सम्बन्ध के सम्भव नहीं हो सकती। वस्तुत: इन तीनों भाषाओं की समानताओं की व्याख्या यह माने बिना नहीं जा सकती कि ये तीनों एक ही समान स्रोत से विकसित हुई हैं, जो अब बिलकुल खो चुका है। इसी

प्रकार के तर्कों के आधार पर, गौथिक और कैल्टिक भाषाओं के विषय में भी कहा जा सकता है, कि ये भी संस्कृत के समान ही एक ही मूल-भाषा से विकसित हुई थीं, यद्यपि इन्होंने कालान्तर में एक भिन्न प्रकार का मुहावरा विकसित कर लिया था और यदि प्राचीन फ़ारसी की प्राचीनता से सम्बद्ध प्रश्न पर भी यहाँ विचार किया जाए तो इस भाषा परिवार में उसे भी जोड़ा जा सकता है।"[12]

निश्चित ही प्राचीन परम्परा के स्थानीय विद्धानों के साथ अध्ययन करके ही जोन्स् ने संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था तथा स्थानीय पारम्परिक व्याकरण की किसी पाठ्यपुस्तक के माध्यम से ही वह इस प्रकार का अनुमान लगा सका होगा। जिन यूरोपीय भाषाओं को वह भली-भाँति जानता था, उनमें और संस्कृत में सुनिश्चित प्रकार की समानताओं को देखकर ही, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा होगा, तथा उसने उक्त घोषणा की होगी, जिसे विद्वानों ने इसके बाद बार-बार उद्धृत किया है। यद्यपि अठारहवीं शताब्दी में सामान्यत: दृष्टिगत होने वाली ऐतिहासिकता की भावना को जोन्स् की उक्त खोज की भूमिका के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, परन्तु सम्प्रति ऐसा और कोई आधार हमारे पास नहीं है जिससे यह निश्चित रूप से बताया जा सके कि जोन्स् अपने उक्त निर्णय तक किस प्रकार पहुँचा। सभी परवर्ती पाश्चात्त्य भाषावैज्ञानिकों ने, जिन्होंने इसका अध्ययन किया है, संस्कृत-भाषा की संरचना की विशिष्ट स्पष्टता को ही जोन्स् की इस खोज के मूल में कारण रूप में माना है,[13] जैसे कि स्वयं संस्कृत भाषा ने ही अपने अध्येता में इस अंतर्दृष्टि को विकसित कर दिया कि संस्कृत, लैटिन और ग्रीक के साथ आनुवंशिक रीति से सम्बद्ध है। परन्तु जहाँ तक कि एक संस्कृत का प्राचार्य इस विषय में वस्तु-परक दृष्टि से सोच सकता है, उसी दृष्टि से मेरा तो अभिमत यह है कि यद्यपि ग्रीक भाषा की तुलना में संस्कृत भाषा की संरचना अपने रूपिमों (पदों) के विविध सहरूपिमों के विस्तार, तथा उनकी संधियों की संकुलता के कारण, कोई विशेष पारदर्शी नहीं है, परन्तु पारदर्शी संस्कृत भाषा का विश्लेषण तथा विवरण था, जिसके परिचय से जोन्स् में यह अंतर्दृष्टि विकसित हुई कि संस्कृत, लैटिन और ग्रीक आनुवंशिक रीति से सम्बद्ध है। तथा संस्कृत भाषा की संरचना का उक्त पारदर्शी विश्लेषण तथा विवरण जोन्स् को अपने हिन्दू-पंडित से पाणिनि के व्याकरण के आधार पर ही प्राप्त हुआ था। संस्कृत भाषा के मौलिक-रूपिमों का जो सुस्पष्ट विवरण पाणिनि ने किया है, उससे जोन्स् ग्रीक और लैटिन के अपने पूर्व अभ्यास के कारण अनुभूति के स्तर पर पहले से ही परिचित थे। अत: पाणिनि के व्याकरण के अपने अध्ययन के आधार पर वे ग्रीक, लैटिन आदि उन सभी भाषाओं के मौलिक रूपिमों

में समानताएँ देख पाए, जिन्हें वे जानते थे[14] तथा उन्होंने एक ऐसी घोषणा की जिससे पूरे यूरोप और अमेरिका में भारत-विद्या-विज्ञान (Indology) और भाषा-शास्त्र (Philology) का सूत्रपात हुआ और जिससे आगे चलकर भाषाविज्ञान (Linguistics) विकसित हुआ। निश्चित ही यह एक क्षति है कि जोन्स् ने अपने इस दृष्टिलाभ की मानसिक प्रक्रिया के विषय में विशेष कुछ लिखा नहीं है, जिससे संभवत: आधुनिक पाश्चात्त्य भाषाविज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था के विषय में काफी प्रकाश पड़ सकता था।

यह सत्य है कि अपने इतिहास में पर्याप्त दीर्घ समय तक पाश्चात्त्य भाषाविज्ञान पर भारत का विशेष प्रभाव रहा, तथा उसी के परिणामस्वरूप जोन्स् द्वारा संकेतित ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की समस्या का अत्यन्त सूक्ष्म तथा व्यापक अध्ययन किया गया। इसी प्रकार भारतीय प्रेरणा के पाश्चात्त्य ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की नींव पड़ी। उस समय पाश्चात्त्य विद्वानों ने भाषा-विवरण की भारतीय पद्धति को सामान्यत: स्वीकृत कर लिया था। यहाँ तक कि पश्चिम में संस्कृत को परिचित कराने वाले बैनफ़ी (Benfey), व्हिटनी (Whitney) आदि विद्वानों पर भी संस्कृत व्याकरण का प्रभाव था यद्यपि उन्होंने उसकी काफी टीका टिप्पणी की थी तथा कुछ छिद्रान्वेषण भी किया था। परवर्ती शोधों तथा अध्ययनों के परिणामस्वरूप अब यह सिद्ध हो चुका है कि वस्तुत: व्हिटनी आदि पाणिनीय व्याकरण को ठीक से समझ नहीं पाए थे। उन्होंने वस्तुत: लैटिन व्याकरण के आदर्श पर भी पाणिनि के व्याकरण को आँकने का प्रयास किया था, जो मात्र रूपावलियों (Paradigm) से भाषा का वर्णन करता है। वस्तुत: संज्ञा तथा क्रिया के प्रमुख रूपिमों (रूपवालियों) के विवरण से न तो भाषा की सभी रूपिम-इकाइयों (morphological units) का स्पष्ट निर्देश हो पाता है, और न ही विविध प्रकार की संधियों का विश्लेषण सम्भव होता है। इस प्रकार यूरोपीय रूपावलि-मूलक-व्याकरण मात्र शब्द का ही एक इकाई के रूप में वर्णन करता है, निश्चित ही उसके माध्यम से पाणिनीय व्याकरण की श्रेष्ठता नहीं देखी जा सकती। हाँ, वह किसी शिक्षार्थी को भाषा सिखाने के लिए अधिक उपयोगी हो सकता है।[15] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्हिटनी आदि पाणिनीय व्याकरण की सशक्त विवरणात्मक पद्धति (Descriptive technique) को पहिचानने में असफल रहे और अन्य भाषाओं के विश्लेषण-विवरण के लिए उस पद्धति का प्रयोग करने के विषय में भी विचार नहीं कर सके। हाँ, उस समय अपवादस्वरूप कुछ ऐसे श्रेष्ठ भाषा-विवरण अवश्य हुए हैं, जिन्हें पाणिनीय परम्परा के अनुरूप कहा जा सकता है।[16]

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना परमावश्यक है कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में एक सक्षम पाश्चात्त्य विवरणात्मक भाषाविज्ञान के मंथर विकास के कारण के रूप में, संपूर्णतया नहीं तो बहुत अंशों तक, भारतीय वैयाकरण ही थे। स्वयं सर विलियम जोन्स् द्वारा लिखित "A dissertation on the orhography of Asiatick words in Roman Letters" में उनके भारतीय ध्वनिविज्ञान के ज्ञान का परिचय मिल जाता है। विगत कुछ वर्षों में अंग्रेज ध्वनि-वैज्ञानिक तथा भाषाविज्ञान के अन्य पंडितों ने जोन्स् के उक्त प्रबन्ध से पाश्चात्य ध्वनिविज्ञान के विकास का प्रारम्भ माना है तथा उसमें लैप्सिअस, विलियम डी. व्हिटनी, ए.जे. ऐलिस, और बैल एवं स्वीट आदि जैसे महान् विशेषज्ञों का योगदान प्रतिपादित किया है।[18] परन्तु इतना स्पष्ट है कि यद्यपि आधुनिक पाश्चात्त्य ध्वनिविज्ञान की अनेक उपलब्धियाँ हैं, तथा उनके परिणामस्वरूप अब उच्चारण-प्रक्रिया (articulatory processes) के विषय में बहुत कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है, परन्तु यूरोपीय-भाषा-विवरणों में ध्वनि-वैज्ञानिक विवेचन तभी कुछ श्रेष्ठ होने लगा था, जबकि यूरोपीय संस्कृत पंडित भारतीय ध्वनिविज्ञान से भली-भाँति परिचित हो गए थे, तथा उनके द्वारा वह ज्ञान यूरोपीय विद्वत्ता की सामान्य परम्परा का अंग बना दिया गया था।

पश्चिम में व्याकरणिक विश्लेषण के अन्य क्षेत्रों जैसे स्वनिम-विज्ञान (Phonemics), रूप-विज्ञान (Morphology), तथा वाक्य-विज्ञान (Syntax) पर भारतीय व्याकरण का प्रभाव काफी लम्बे समय तक बहुत अधिक नहीं था। पाश्चात्त्य भाषावैज्ञानिकों को भारतीय भाषा-विश्लेषण की पद्धति तथा विवरण के विधान की श्रेष्ठता (सूत्रात्मक कथन) का परिचय बैनफी और व्हिटनी के संस्कृत व्याकरणों तथा भाषा और भाषाविज्ञानविषयक कुछ पुस्तकों के माध्यम से ही प्राप्तव्य था। परन्तु उसके परोक्ष प्रभाव से भी उसके अनुसरण के कुछ प्रयास अवश्य हुए, जिन्हें अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए। काफी समय तक पश्चिमी जगत् में भाषाओं के व्याकरण पारम्परिक यूरोपीय व्याकरण के आदर्शानुरूप ही लिखे जाते रहे। हाँ, साइबेरिया की 'तर्किक याकूत' (Turkic Yakut) भाषा का व्याकरण अवश्य एक अपवाद है, जिसे प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ तथा पाणिनि के विशेषज्ञ ओतो बोतलिंक (Otto Bohtlingk) ने एक शताब्दी से भी अधिक पहले, सन् 1851 में प्रकाशित किया था।[19] भाषा-विश्लेषण तथा विवरण की एक श्रेष्ठ आदर्श-पद्धति के प्रयोग के रूप में इसकी प्रशंसा एडवर्ड सपीर ने अनेक स्थानों पर की है। इस व्याकरण या भाषा-विवरण में पाणिनि की शैली में ध्वनि-प्रक्रिया (Phonology), रूप-प्रक्रिया (Mhphology) तथा

वाक्य-संरचना (Syntax) का सविस्तार और पूर्ण विवेचन है। यहाँ इस बात को भी बिना किसी शंका के कहा जा सकता है कि ओतो बोतलिंक के संस्कृत और पाणिनि के गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप ही इस व्याकरण में उक्त पद्धति दृष्टिगोचर होती है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें सर्वत्र भाषा के साम्प्रत विवरण (Syncrhonic description) के साथ-साथ उसके ऐतिहासिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसे आधुनिक विवरणात्मक भाषाविज्ञान के पक्षधर अन्यथा रूप में भी समझ सकते हैं।

यह निश्चित ही अत्यधिक आधुनिक समय में सम्भव हुआ है जबकि विवरणात्मक भाषाविज्ञान में, विशेषकर अमेरिका में, विवरणात्मक पद्धति के लिए पाणिनि का अनुसरण असफलतापूर्वक हुआ है। फ्रैंज़ बॉएज़ (Frans Boas) का जहाँ तक व्याकरण-शास्त्र में व्यावहारिक प्रशिक्षण था, वह सम्पूर्णत: प्राचीन यूरोपीय व्याकरण-परम्परा में ही था। उन्होंने मूल-अमरीकी भाषाओं (American Indian languages) के जो विवरणात्मक अध्ययन किए थे, वे उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा के अनुसार ही किए थे। निश्चित ही उनकी तकनीक अपाणिनीय थी। हाँ, पाणिनि के समान उन्होंने भी भाषा का प्रक्रिया-परक वर्णन किया है। परन्तु तकनीक की दृष्टि से उनकी तकनीक उतनी सशक्त नहीं की जा सकती, जितनी कि पाणिनि की है। बॉएज़ के शिष्यों में एडवर्ड सपीर ने, निश्चित ही, पाणिनि का अध्ययन किया था, तथा उन्होंने उसकी प्रशंसा भी की है। उन्होंने भी प्रक्रिया-परक पद्धति में भाषा-विवरण किया है। लेकिन यह सत्य है, तथा इसे मैं सपरी का शिष्य होने के नाते, व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ, कि उन्होंने भारतीय वैयाकरणों से कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की थी। परन्तु लिओनार्ड ब्लूम्फील्ड की बात दूसरी थी। वह एक ऐसा विद्वान था जिसने पाणिनि का गहन अध्ययन किया था, तथा वह पाणिनि पर लिखे गए व्याख्यात्मक साहित्य से भी परिचित था। उसने हिन्दू वैयाकरणों की पद्धति तथा उसके परिणामों की भूरि भूरि प्रशंसा भी की है।[20] पाणिनि में उन्हें जो कुछ श्रेष्ठ प्राप्त हुआ था, तथा जिसे वे भाषाविज्ञान के अन्य विद्वानों के लिए भी प्राप्तव्य समझते थे, उसका बड़ा ही स्पष्ट विवरण, लीबिख (Liebich) की "Konkrdanz Panini-candra" नामक पुस्तक की समीक्षा में मिलता है, जो Language पत्रिका की जिल्द V (1929) पृष्ट 267-76 में प्रकाशित हुई थी। ब्लूम्फील्ड का यह लेख भाषाविज्ञान के अध्येता तथा पंडितों के बीच अधिक प्रसिद्ध नहीं है; विद्वानों को गंभीरतापूर्वक उसका अध्ययन करना चाहिए। ब्लूम्फील्ड पर भारतीय भाषाविज्ञान के प्रभाव के संदर्भ में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि जिस भाषा-वैज्ञानिक-प्रविधि का विधान, ब्लूम्फील्ड ने अपनी 'Language'

नामक पुस्तक में किया है, वह बहुत कुछ अंशों में उनके भारतीय व्याकरण शास्त्र के अध्ययन का ही परिपाक है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगा कि यदि ब्लूम्फील्ड ने भारतीय व्याकरण शास्त्र का गहरा अध्ययन न किया होता, तो मुश्किल से ही स्वनिम-विज्ञान, रूपिम-विज्ञान तथा वाक्य-विज्ञान में उनकी विश्लेषण की पद्धतियाँ ऐसी होतीं, जैसी कि हैं, या जैसी पद्धतियों का विधान उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है। ब्लूम्फील्ड, वस्तुतः, भारतीय व्याकरण शास्त्र के अपने गहन अध्ययन के कारण ही उसकी 'वैज्ञानिक गहनता' (Scientific Condensation) जो भाषा के विवरण में उसके प्रत्येक उपलक्षण (feature) का उसका उपयुक्त संदर्भ प्रदान कर देती है; उसकी 'पूर्णता' (Completeness) तथा 'विधान की लाघवता व स्पष्टता' (Brevity and stringency of statement) के परम प्रशंसक थे। (तुलनीय है: Language, Vol.5, P. 27-47)। अमरीकी सेना के लिए तैयार किए गए 'मैन्यूअलों' (A S T P पुस्तकमाला में प्रकाशित) के अतिरिक्त उनके जीवन के उत्तरार्ध में इस प्रकार की उनकी वैज्ञानिक विवरणात्मक रचनाएँ इतनी कम प्रकाशित हुई हैं कि उनके द्वारा मान्य भाषा-विवरण के आदर्श का पूरा चरितार्थ रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। फिर भी जो पाणिनि से परिचित हैं वह उनके सेना के लिए लिखे गए सैन्यूअल अथवा Linguistic Structure of Native America[21] में Algonquian पर लिखे उनके अध्यायों को, उन पर भारतीय प्रभाव को पहचाने बिना, नहीं पढ़ सकता। Algonquian पर लिखा अध्याय इसलिए भी विशेष महत्त्वपूर्ण है कि उसमें यह देखा जा सकता है कि किसी तुलनात्मक-व्याकरण (Comparative Grammar) की रचना में भी विवरणात्मक 'गहनता' (Descriptive Condensation), 'पूर्णता' (Completeness) तथा कथन या विधान की 'सुस्पष्टता' का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। अमरीकी भाषाविज्ञान के अधिकांश नवीन विद्वानों पर ब्लूम्फील्ड के व्यापक प्रभाव की सविस्तार चर्चा करने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे विशेष लक्षण जिनके आधार पर भाषाविज्ञान के अन्य सम्प्रदायों से अमरीकी-सम्प्रदाय का पार्थक्य स्थापित किया जाता है, अधिकांश में ब्लूम्फील्डीय ही है, तथा यदि मेरी व्याख्या ठीक है, तो उनमें से अनेक विशेषताओं को पाणिनीय कहा जा सकता है।[22] सम्प्रति ऐसे पाणिनीय लक्षण, मुश्किल से ही, भाषाविज्ञान के विद्वानों के किसी अन्य समूह या सम्प्रदाय की विशेषता के रूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं।

कुछ समय से अमरीकी भाषाविज्ञान में भाषा-विवरण की प्रक्रियापरक पद्धति तथा

प्रक्रिया-विषयक-विधानों या कथनों से बचना एक फैशन बन गया है, यद्यपि विवरणात्मक भाषाविज्ञान में सम्प्रति स्वीकृत एवं प्रचलित भाषा-विवरण के पूर्वोल्लिखित सभी मानक-रूपों या आदर्शों (Models) के आधुनिक काल में हुए परीक्षणों के आधार पर भी, उक्त प्रक्रिया परक पद्धति को स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं पाया गया।[23] यह फैशन हो या न हो, परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जाना चाहिए कि भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों को अपने शास्त्र या विषय के मूल उत्स से अपरिचित नहीं रखा जाना चाहिए, तथा उन्हें रूपिम-वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त संकुल अपनी भाषा के लिए हिन्दुओं द्वारा विकसित भाषा-विश्लेषण तथा विवरण की एक सशक्त पद्धति का परिज्ञान अवश्य कराया जाना चाहिए। निश्चित ही उसका परिज्ञान उसी प्रकार के संकुल-रूपियों के वैज्ञानिक विवरण में उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जिस प्रकार बॉएज़ (Boas), सपीर (Sapir) तथा अन्य विद्वानों की ऐसी ही तकनीकें उपयोगी सिद्ध हुई हैं। मेरी दृष्टि से पाणिनि की पद्धति के परिचय के स्पष्ट उद्देश्य से, भाषाविज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए, संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए; चाहे थोड़ा ही क्यों न हो, संस्कृत का अध्ययन भाषाविज्ञान के विद्यार्थी के लिए निश्चित ही उपकारक होगा तथा जितना सोद्देश्य यह कार्य होगा, उतना ही अधिक सफल होगा।[24]

सम्प्रति स्वन विज्ञान (Phonetics), स्वनिम-विज्ञान (Phonemics), रूपिम-विज्ञान (Morphology) तथा वाक्य विज्ञान (Syntacs) के क्षेत्रों में आधुनिक भाषावैज्ञानिकों को संभवत: हिन्दू वैयाकरणों से कुछ विशेष सीखने को न मिले। परन्तु यह भी हम निश्चित रूप से तब तक नहीं कह सकते, जब तक आधुनिक भाषाविज्ञान में प्रशिक्षित विद्वान पाणिनि का उक्त क्षेत्रों में पुन:परीक्षण उसी प्रकार नहीं कर लेते जिस प्रकार स्वर विज्ञान के क्षेत्र में किया गया।[25] परन्तु भाषाविज्ञान के अन्तर्गत अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में, जिसका कि विकास अभी कुछ समय से पश्चिम में धीरे-धीरे हो रहा है, निश्चित ही पश्चिम भारत से बहुत कुछ सीख सकता है। भारत में वैयाकरणों, काव्यशास्त्र के आचार्यों तथा दार्शनिकों का सम्बन्ध अर्थ की समस्या के साथ रहा है, और उन्होंने इस विषय में काफी चिन्तन किया है और लिखा है। निश्चित ही सभी व्यावहारिक भाषा-वैज्ञानिक दृष्टियों से पश्चिम अभी इस क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त नहीं कर पाया है। साथ ही, यह उल्लेखनीय है कि इस विषय के भारतीय ग्रंथ, कठिन शैली में लिखे गए हैं, और पश्चिम में संस्कृतज्ञ दार्शनिक और भाषा-वैज्ञानिक के रूप में इन ग्रन्थों का अध्ययन

करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति भी बहुत कम हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि इस दिशा में जो भी प्रयास होंगे उनके अच्छे ही परिणाम निकलेंगे। अत: यह एक ऐसा विषय है कि पश्चिम में इसके अध्ययन की संस्तुति की जा सकती है।[26]

पाणिनि और उनके प्रारम्भिक व्याख्याताओं के साथ भारतीय व्याकरण अपनी गौरवशाली पूर्णता को प्राप्त कर चुका था। ऐसा लगता है कि जब एक व्याकरणिक अध्ययन का कथित उद्देश्य अर्थात् वेदों की भाषा की संरक्षा और भाषा के विवरण में वैयाकरणों की रुचि का विस्तार सिद्ध हो गया, तो आगे उस दिशा में विशेष कुछ करने की उनकी लालसा जैसे कि समाप्त हो गई थी। संभवत: इसी लिए मध्यकालीन भारतीय भाषाओं का आंशिक वर्णन ही व्याकरणों में हुआ, और यह भी मुख्यत: संस्कृत की तुलना में उनमें घटित अंतरों के अध्ययन के रूप में ही हुआ है। वस्तुत: ईसवी सन् के पूर्ववर्ती महान् दिनों के पश्चात् से भारतीय व्याकरण-प्रतिभा सोई हुई है। इस संदर्भ में सन् 1940 में तिरुपति में हुए अखिल भारतीय-प्राच्य-विद्या सम्मेलन (All India Oriental Conference) में स्वयं महापंडित श्री विष्णु सीताराम सुकथनकर द्वारा किए गए पुनर्जागरण के आह्वान का स्मरण कराया जा सकता है[27] तथा इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि भारत में अब भाषावैज्ञानिक पुनर्जागृति के संकेत भी मिलने लगे हैं।

आधुनिक भाषाविज्ञान के पाश्चात्य विद्वान् प्रारम्भ से ही अनेक रूपों में भारत में भारत को अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय मानकर, अपने वैज्ञानिक प्रयासों का केन्द्र मानते रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत तथा भारोपीय भाषाओं के संदर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए हैं, जिन्हें मूलत: पाश्चात्य जगत् को संसार के सभी देशों के मनुष्यों तथा उनकी भाषाओं के विषय में वैज्ञानिक जानकारी पाने की सामान्य अभिलाषा के परिणामस्वरूप माना जा सकता है।

वस्तुत: प्रारम्भिक काल में संस्कृत के एक विराट् शब्द कोश की बड़ी आवश्यकता थी तथा सन् 1855 में ओतो बोतलिंक (Otto Bohtlingk) और रूडोल्फ रोथ (Rudolph Roth) ने (Kaiserliche Akademie der Wissenschaften) सेंट पीटर्सबर्ग में अपने Sanskrit Worterbuch का प्रथम खंड प्रकाशित किया था जिसे पश्चिम में प्राच्य विद्या के विकास की एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का पूरा प्रकाशन तो बीस वर्ष बाद हुआ था, परन्तु यह ग्रन्थ प्रारम्भ से ही

भारतीय-भाषाओं के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाने लगा था और अब भी अपने दृष्टियों से यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यद्यपि परवर्ती समय में नवीन शोधों के परिणामस्वरूप ऐसी अनेक प्राचीन महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं कि जिनके विषय में इस कोश के संकलन-कर्त्ताओं को कोई जानकारी नहीं थी। अत: इस प्रकार के एक नये कोश के संकलन की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है। यह उचित ही है कि भारत में इस प्रकार के एक नए कोश का कार्य प्रारम्भ हो चुका है।

संस्कृत-नाटकों में प्राप्त होने वाले मध्य-भारतीय-आर्य-भाषाओं के कुछ नमूनों से तो पाश्चात्य विद्वान् सर विलियम जोन्स् के समय से ही परिचत थे, परन्तु सन् 1830 के आस-पास से प्रिंसेप (Prinsep) द्वारा पढ़े जाने के बाद, काफी समय से पूर्णत: विस्मृत तथा अज्ञात बौद्ध सम्राट् अशोक के मध्य-भारतीय-आर्यभाषा में लिखे गए शिलालेखों का अध्ययन आरंभ हुआ। इसी प्रकार विविध मध्य-भारतीय आर्य-भाषाओं में लिखे गये जैनों और बौद्धों के धार्मिक साहित्य से भी पाश्चात्त्य विद्वान् परिचित हुए। अनेक भारतीय विद्वानों के साथ-साथ अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों ने मध्य-भारतीय आर्य-भाषाओं में लिखे अशोक के शिला-लेखों के अतिरिक्त, अन्य शिला-लेखों तथा सिक्कों की खोज की, उनका संग्रह किया तथा उन्हें प्रकाशित भी किया। सन् 1900 में पिशेल (Pischel) द्वारा मध्य-भारतीय आर्य-भाषा के विविध रूपों का तुलनात्मक विवरण तथा ऐतिहासिक अध्ययन प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार अमरिका की प्राच्य-विद्या-सभा के सदस्य फ्रैंकलिन एडगर्टन (Franklin Edgerton) ने बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा की मध्य-भारतीय आर्य-भाषा, जो आंशिक रूप से संस्कृत थी, का चिरस्मरणीय विवेचन सन् 1953 में प्रकाशित किया था यद्यपि इसकी अनेक खंडों में प्रकाश्य सामग्री प्रकाशित हो चुकी है और उस पर ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त कार्य हो चुका है, परन्तु अन्तिम रूप से किसी प्रामाणिक अध्ययन की आवश्यकता अभी भी शेष है।[28]

आधुनिक भारतीय-आर्य-भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक-अध्ययन अभी विशेष नहीं हुआ है। वस्तुत: उन भाषाओं के भी आधुनिक-विवरण नहीं मिलते, जिनके विवरणों की, अन्य कारणों से भी परमावश्यकता है। मुख्यत: आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के आधुनिक एवं वैज्ञानिक विवरण इसलिए नहीं मिलते कि इस कार्य के लिए समुचित कार्य-कर्त्ताओं का अभाव है। अमरीकी, ब्रिटिश और अब कुछ समय से भारतीय भाषावैज्ञानिकों के समवेत प्रयासों से सम्भवत: निकट भविष्य में इस क्षति की पूर्ति हो जाए। वैसे ऐतिहासिक

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं के श्रेष्ठ अध्ययन काफ़ी पहले से हो रहे हैं। इस सन्दर्भ में स्व. जूलिस ब्लॉक (Jules Block) की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें भारतीय आर्य भाषाओं का वैदिक-भाषा से आधुनिक बोली-रूप तक के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन और मराठी भाषा का सर्वांगीण अध्ययन किया गया है। श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का बंगाली भाषा पर कार्य निश्चित ही आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के एक नए युग का सूत्रपात करता है। सर राल्फ टर्नर (Sir Ralph Turner) का नेपाली भाषा का व्युत्पत्त्यात्मक शब्दकोष (Etymological Dictoinanary) भी एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है। जब तक चिरप्रतीक्षित समग्र आधुनिक भारतीय-आर्य-भाषाओं का व्युत्पत्त्यात्मक शब्दकोश तैयार नहीं होता, तब तक यही एक ग्रन्थ है, जिसका शब्द-व्युत्पत्ति आदि देखने के लिए सामान्यत: आधार लिया जाता है।[29]

स्व. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रीयर्सन (Sir George Abrahm Grierson) का 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' निश्चित् ही एक महान् प्रयास था।[30] परन्तु मूलत: वह बोली-भूगोल (dialect mapping) के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रयोग ही था, जिसे अंशत: सफल कहा जा सकता है। क्योंकि इस अध्ययन में मूलत: सामग्री-संकलन की पद्धति ही सदोष थी: ग्रीयर्सन ने एक प्रश्नावली प्रचारित की थी जिसे गाँव के पटचारी ने अपनी समझ-बूझ के अनुसार भर भेजा था, तथा प्रोडीगल सन (Prodigal son) की कहानी के स्थानीय बोली में अनुवाद के लिए और कुछ अन्य सामग्री भी सरकारी अधिकारियों ने संकलित की थी। निश्चित ही सामग्री संकलन की इस पद्धति को किसी वैज्ञानिक-तुलनात्मक या विवरणात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकार संकलित सामग्री वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से विश्वसनीय नहीं समझी जा सकती। फिर भी इतनी सामग्री संकलित हो गई थी कि जिसके आधार पर भारतीय भाषिक यथार्थ की लगभग सभी प्रमुख विशेषताएँ स्पष्टत: सामने आ जाती हैं और इस सर्वेक्षण को इसीलिए सफल भी कहा जा सकता है कि वह भारत के सभी भाषा-रूपों या बोलियों की प्रादेशिक सीमाओं का स्पष्ट मानचित्र प्रस्तुत करता है, जिसके अनुसार अब तत्तत् प्रदेशों की भाषाओं या बोलियों का सविस्तार वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। ऐसी आशा की जा सकती है कि भारतीय बोलियों के अध्ययन तथा बोलियों की प्रामाणित-मान-चित्रावली तैयार करने की भारतीय विद्वानों की योजनाएँ, जो अभी नियोजन और चर्चा के स्तर तक पहुँच चुकी हैं, शीघ्र ही क्रियान्वित की जाएँगी।

भारतीय उपमहाद्वीप में प्राप्त अन्य भाषा-परिवारों में से दो अन्य भाषा-परिवारों अर्थात् द्रविड़ और मुण्डा-परिवारों की भाषाओं का विवेचन भी इस सर्वेक्षण में प्राप्त होता है। द्रविड़ भाषा-परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या 9 करोड़ है, तथा वह संसार के भाषा-परिवारों में पाँचवा या छठवाँ सर्वाधिक बड़ा भाषा-परिवार है। यदि संसार के भाषा परिवारों में अपने स्थान के अनुरूप द्रविड़-भाषा-परिवार के प्रति संसार के भाषावैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ और होता तो प्रसन्नता की बात होती। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ नहीं। और जब कि इस परिवार की चार भाषाओं की महान् प्राचीन साहित्यिक परंपराएँ है। यह समझ में नहीं आता कि इस परिवार की भाषाओं का गम्भीरतापूर्वक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन क्यों नहीं हुआ? इसके कारणों का अध्ययन किया जा चुका है तथा इस उपेक्षा के परिणामों पर अमरीकी दार्शनिक सभा (American Philosophical Society) में पठित एक दूसरे लेख में विचार किया जा चुका है,[31] अतः इस विषय में यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु विशप काल्डवेल (Bishop Robert Caldwel) का द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण (A Comparative Grammar of the Dravidian languages) निश्चित ही काफी पहले लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जो सन् 1858 में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसे अब प्रकाशित हुए एक शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है, परन्तु इस बीच इस परिवार की भाषाओं के कुछ ही अच्छे विवरणात्मक या तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं। हाँ, तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में स्व. ल. व. रामस्वामी ऐयर के योगदान का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विवरणात्मक अध्ययन, यद्यपि बीस से भी अधिक हो चुके हैं (देखिए पादटिप्पणी 36), परन्तु उनमें से कुछ ही को आधुनिक या पाणिनीय स्तर से मान्य कहा जा सकता है।[32] द्रविड़ भाषाओं के अब तक प्रकाशित विवरणों के गुणात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ न होने के कारण इस परिवार की भाषाओं के अच्छे तुलनात्मक अध्ययन भी संभव नहीं हो सके हैं। सन् 1946 में ज्यूस ब्लॉक ने अपने द्रविड़ भाषाओं की व्याकरणिक संरचना पर 'Structure Grammaticale des langues Dravidiennes'[33], नाम ग्रंथ में द्रविड़ भाषाओं की मात्र रूपिम-संरचना (Morphological Structure) की तुलना से आगे भी कुछ कार्य किया है। परन्तु ध्वनि-व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव के कारण उन्होंने उसका प्रयास नहीं किया और इस बात के लिए खेद प्रकट किया है कि इस परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक शब्दकोश (Vocabulaire Comparatif) अभी तक तैयार नहीं हुआ है। हां,

इन भाषाओं के एक व्युत्पत्त्यात्मक-शब्दकोश (Etymological dictionary) के तैयार होने की संभावना है जिसका कार्य आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के टी. बरो (T. Burrow) और मैंने प्रारंभ कर दिया है। इस बीच में द्रविड़ भाषा(ओं) से संस्कृत में आए शब्दों का अच्छा अध्ययन हुआ है[34] और संस्कृत के व्युत्पत्त्यात्मक शब्दकोशों में इसे संस्कृत-शब्दों के एक स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। यह कार्य अभी कुछ ही समय से प्रारंभ हुआ है तथा आशा है कि शीघ्र ही यह कार्य पूरा हो जाएगा और वह अब तक प्रयोग में लाए जा रहे अनुपयुक्त कोशों का स्थान ले लेगा।[35]

यद्यपि 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' का चौथा खंड पूर्णत: द्रविड़ तथा मुण्डा भाषाओं पर है। परन्तु सर्वेक्षण का कार्य मद्रास, हैदराबाद तथा मैसूर राज्यों में संभव नहीं हुआ था, परिणामत: द्रविड़-भाषा-भाषी-प्रदेश के एक विशाल भू-भाग में प्रयुक्त बोलियों का मान-चित्र तैयार नहीं हो सकता था। साथ ही इसकी सामग्री और उसके संकलन की प्रविधि ऐसी गड़बड़ थी कि मध्यभारत की अनेक द्रविड़ भाषाएँ बिल्कुल अज्ञात ही रह गई थीं। ऐसी तीन भाषाओं, जिनके नाम भी पहले अज्ञात थे, का पता टी. बरो (T. Burrow) तथा एस. भट्टाचार्य ने सन् 1950 51 में अपनी शोध-यात्राओं के दौरान लगाया था, और ऐसी संभावना है कि ऐसी ही दूसरी भाषाएँ अब भी प्रकाश में आ सकती हैं।[36]

मुण्डा-परिवार की भाषाओं के अध्ययन के विषय में विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि या तो सर्वेक्षण में उनका केवल नामोल्लेख है, या उनका भ्रष्ट-विवरण हुआ है। निश्चित ही, सभी मुण्डा बोलियों का प्रादेशिक सीमाओं के निर्धारण में सर्वेक्षण असफल रहा है। मुण्डा परिवार की भाषाओं का अब तक ऐसा कोई भी तुलनात्मक अध्ययन नहीं है जो किसी भी भली-भाँति विवेचित भाषा परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थी को संतुष्ट कर सके। वैसे भी मुण्डा-भाषाओं का संबंध वृहत्तर भारत अथवा दक्षिण-पूर्व एशिया के आग्नेय-भाषा-परिवार (Austric family of languages) की किसी भाषा के साथ स्थापित करने के प्रयास तथा मलेशिया आदि में प्राप्त महान् आग्नेय-भाषा परिवार (Austric family of languages) की भाषाओं के साथ उन्हें रखने का परिवार, अब तक, मुझे-मात्र अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। यह अनुमान अंतत: सत्य भी सिद्ध हो सकता है। परन्तु यह तभी संभव है जब कि वैज्ञानिक विवरणों के आधार पर पहले मूल-मुण्डा भाषा की परिकल्पना कर ली जाए।[37]

बुरशास्की, खासी, उत्तरी-पूर्वी-सीमान्त की भोट-बर्मी भाषाएँ (Tibeto-Burmes), पश्चिमी सीमान्त की ईरानी भाषाएँ और ऐसी अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में मौन रहना ही अच्छा होगा। क्योंकि आधुनिक अर्थ में इन भाषाओं का भाषावैज्ञानिक-विवरण हुआ ही नहीं है, तथा कुछ ईरानी भाषाओं को छोड़कर अन्य किसी भाषा का कोई तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं हुआ है।[38]

सम्प्रति भाषावैज्ञानिकों द्वारा इस प्रकार की योजनाएँ तैयार की जा रही हैं, कि जिनसे भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन तथा भारतीय भाषाविज्ञान का विकास हो। आशा है इन प्रयासों के परिणामस्वरूप भारतीय भाषिक मानचित्र के रिक्त स्थानों की पूर्ति हो जाएगी।

भारतीय-भाषाविज्ञान के अध्ययन की अनेक व्यापक समस्याएँ हैं, उनकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। जैसे मुण्डा सहित आग्नेय-भाषा-परिवार की कल्पना बहुत अधिक पुष्ट प्रमाणों पर आधारित न होने के कारण स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती। फिर भी यही एक दिशा है, जिस ओर समस्या के निदान के लिए देखा जा सकता है। विशेषकर इसलिए कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ भारत के विविध प्रकार के सम्बन्ध हजारों वर्ष प्राचीन हैं, तथा इन संबंधों के प्रभावचिह्न भारत की भाषाओं में अवश्य मिलने चाहिएँ। इस दिशा में विशेष शोध कार्य की आवश्यकता है। विस्तारभय के कारण इस विषय को यहीं छोड़ा जा सकता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पाश्चात्य भाषाविज्ञान के प्रभात काल में प्रकाश की प्रथम रश्मि भारत से आई थी तथा अब भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययनों में विद्वानों की अभिरुचि के विस्तार एवं विकास के परिणामस्वरूप पुनः भारत से नवीन प्रकाश-प्रपात के सुआगमन की आशा की जा सकती है।

पाद टिप्पणी संदर्भ

1. मूलतः प्रस्तुत लेख कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, सं. रा., अमेरिका, के संस्कृत एवं भाषाविज्ञान के प्राचार्य प्रो. एम. बी. एमेन्यू के एक भाषण का प्रकाशित रूप है, जो उन्होंने तौरेंतो, कैनैडा, में 20 अप्रैल, 1955, को एक सम्मेलन में अध्यक्ष पद से दिया था। मूलतः अंग्रेजी में लिखित इस लेख का छायानुवाद कुछ सम्पादन के साथ यहाँ साभार प्रकाशित

किया जा रहा है। हिन्दीकार हैं डॉ. माणिक लाल गोविंद चतुर्वेदी।–सम्पादक।

2. इस समूचे लेख में 'भारत' से तात्पर्य भारतीय उपमहाद्वीप से है तथा 'भारतीय', एवं 'हिन्दू' शब्द लगभग पर्यायवाची हैं, तथा 'प्राचीन भारतीय या हिन्दू' के वाची हैं। इस दृष्टि से भारत और पाकिस्तान रूपी दो पृथक राजनैतिक इकाइयों में कोई अंतर नहीं है। विद्वान् मानते हैं, कि पाणिनि का जन्म आज के पश्चिमी पाकिस्तान में ही कहीं हुआ होगा।

3. इसके लिए तथा एतद्विषयक अन्य प्रमाणों के लिए द्रष्टव्य है M. Winternitz, A History of Indian Literature, Vol. 1 (1927), P. 285. और वैदिक परम्परा में व्याकरणविषयक साहित्य के विषय में द्रष्टव्य है, वही पृ. 282-289।

4. संभवतः पाणिनि का समय ईसा-पूर्व छठवीं तथा चौथी शताब्दी के बीच ही हो सकता है। फ्रेंकलिन ऐडगर्टन का मत द्रष्टव्य है –Word Study, Vol. XXVII (1952) No. 3. P 3)। कुछ विद्वान् इसे ईसा-पूर्व पाँचवी शताब्दी ही मानते हैं। द्रष्टव्य है– M. Winternitz, वही पृ. 42 तथा अन्य कुछ विद्वानों ने उसी शताब्दी के मध्य भाग को पाणिनि का समय माना है। द्रष्टव्य है:–V.S. Agrawala, India—as known to Panini, University of Lucknow, 1953, P. 475.

5. M. Winternitz— वही पृ. 289।

6. Leonard Bloomfield, Language, Vol. V (1929), PP. 268. JAOS Vol. XLVII (1927), P.P. 66 f.

7. भारतीय नृत्य-मुद्रा-विषयक एक पुस्तक की समीक्षा में मैने इसे ही आंशिक रूप में कहा है। देखिए JAOS, Vol. LXII (1942 P. 149).

8. तुलनीय है W.S. Allen, Phonetics in Ancient India. London Oriental Series, Vol. I, Oxford University Press, 1953), P. 13 तथा पाद-टिप्पणी 4, ग्रन्थ सूची समेत।

9. Charles F. Hockett, "Two models of grammatical Description, "Word", Vol. X (1954), PP. 210-234.

10. गार्ग्य-शाकटायन के भिन्न अभिमतों की चर्चा 'यास्क' के 'निरुक्त' (1/12) में प्राप्त होती है। वैदिक निरुक्ताचार्य यास्क ने शाकटायन के मत के साथ अपनी सहमति प्रदर्शित की है। संभवत: पाणिनि-सम्प्रदाय ने भी इसीलिए यह बात स्वीकार कर ली होगी। यहाँ प्रयुक्त विवरणात्मक पद्धति को कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक-व्युत्पत्ति के रूप में समझा है, जो ठीक नहीं है। इस प्रकार के कथनों के लिए द्रष्टव्य है—Lakshman Sarup, The Nighantu and Nirukta, Vol. 2 (1921), P. 13. पदाटिप्पणी 6।

11. Leonard Bloomfiel, Language (1933) P. 240, A.B. Nida Morphology : The Descriptive Analysis of Words (2nd Ed. 1949), P. 60 f.

12. Asiatick Researches, Vol. I. (1788), PP. 422 f. सन् 1785 में अपने दीर्घ-अवकाश के समय सर विलियम जोन्स् ने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया था। Lord Teignmouth ने The work of Sir William Jones (13 Vols. LOndon 107) Vol. II, P. 29 fn. में उनके एक हस्त-लिखित कार्ड का उल्लेख किया है, जिसमें दीर्घ अवकाश के प्रात:काल का समय संस्कृत अध्ययन के लिए लिखा हुआ है। 17 सितम्बर 1785 को उन्होंने चार्ल्स विल्किन्स को एक पत्र में लिखा था–'मुझे एक वृद्ध वैद्य मिल गया है, जो व्याकरण के विषय में जो कुछ जानता है मुझे सिखाता है'। (JAOS, Vol. X (1880), P. 115) 26 जुलाई 1785 के एक पत्र में उन्होंने लिखा है जैसे कि अब तक उन्होंने संस्कृत बिल्कुल नहीं आती थी, तथा देवनागरी लिपि से भी वे परिचित नहीं थे (तुलनीय है वही, पृ. 114)। अब तक प्रकाशित पत्रों के आधार पर निश्चय से नहीं बताया जा सकता कि जोन्स् ने संस्कृत का अध्ययन कैसे किया। संभवत: लॉर्ड आलथोर्प को लिखे तथा अब तक उन प्रकाशित पत्रों में इस प्रकार की कुछ सूचना मिल सकती है जो अर्ल स्पेंसर के संग्रह में सुरक्षित हैं, तथा जिनका अध्ययन ए.जे. आरबेरी ने किया है। (BSOAS, Vol. XI, 1643-46 P. 673)। परन्तु इतना निश्चित है कि जोन्स् अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे थे (JAOS, Vol. LXVI, 1946), P. 236। प्रकाशित एवं उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर जोन्स् के संस्कृत अध्ययन की प्रविधि तथा प्रगति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परनतु 28 सितम्बर 1787 को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा है कि अब वे हितोपदेश पढ़ रहे हैं तथा अपने पंडित के साथ निरन्तर संस्कृत में वार्तालाप करते हैं। जोन्स् ने

औपचारिक रूप से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया था, इसका प्रमाण मिलता है, 'The work of Sir William Jones' के खंड XIII (पृ. 399-426) में। सर विलियम जोन्स् तथा श्रीमती जोन्स् द्वारा रॉयल सोसाइटी को प्रदत्त "संस्कृत तथा अन्य प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची" में पृ. 412 पर ह. लि. ग्रन्थ 411 पर "सिद्धान्त कौमुदी" (अपूर्ण) का उल्लेख है, जिस पर स्वयं जोन्स् ने लिखा है, "इस व्याकरण का ध्यानपूर्वक अध्ययन मैंने 18 अगस्त, 1792 में पूरा किया।" अब जिन हस्तलिखित ग्रन्थों का उल्लेख है वे हैं दुर्गादास कृतमुग्धबोधटीका, सरस्वती-व्याकरण (अर्थात् सारस्वत-प्रक्रिया), सारावली (संभवत: नारायण बंदोपाध्याय कृत), अमर-कोश, मेदिनी-कोश, विश्व-प्रकाश, तथा जोन्स् के लिए काशीनाथ शर्मा द्वारा संकलित 'शब्द-संदर्भसिंधु'। ये हस्तलिखित ग्रन्थ Theodor Aufrecht, के Catalogus Catalogorum, Part I. (Leipzig, 1891), P. 111 में उल्लिखित हैं तथा इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

13. तुलनीय है : Holger Pederson. Linguistic Sciences in the Nineteenth Century (Tr. Spargo. Cambridge, Mass. 1931) साथ ही Wiliam Dwight, Whitney, "Language and the study of language" (1874, V. Ed.) P. 227; AJP. Vol. V (1884) P. 279.

14. तुलनीय Leonard Broomfield. Language, P. 12 तथा John Brough, TPS, 1951, P. 27

15. Hockett—पूर्वलिखित (पादटिप्पणी 9) पृ. 210 संस्कृत व्याकरण को 'शब्द तथा रूपावली' परक आदर्श के अनुरूप कहना हौकेट की भूल है।

16. इस प्रकार का कुछ विश्लेपण ह्विटनी ने किया है। देखिए : Whitney, Language and the study of Language: P. 254.

17. Asiatick Researches Vol. I (1788) P. 156। 6 मई 1786 में सर जे. मैकफरसन को लिखे पत्र में इस अध्ययन को प्रैस में दिए जाने का उल्लेख है।

18. विशेष रूप से उल्लेखनीय है—J.R. Firth "The English School of Phonetics" TPS., 1946, PP. 118 ff. W.S. Allen, Phonetics in Ancient India, PP. 3-4 देखिए पूर्वोक्त पादटिप्पणी-8। अंतिम पुस्तक ह्विटने द्वारा प्रकाशित "अथर्ववेद प्रातिशाख्य" JAOS, Vol. VII (1862) pp. 333-616) तथा "तैत्तरीय

प्रातिशाख्य" (JAOS, Vol. IX. (1871) pp. 1-469) के संस्करणों के मूल्यांकन की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

19. Die Sprach der Jakutan (A. Th. von Middendorff. Reise in den aussersten Norten Und Osten Siberiens, Ed. III. St. Petersburg, Kais, Ak. d. Wissen, 1851-71.) बोतलिंक ने पाणिनि के व्याकरण का प्रथम संस्करण सन् 1839-40 में प्रकाशित किया था तथा दूसरा सन् 1887 में।

20. ब्लूफील्ड सामान्यत: यह कहा करते थे कि 'पाणिनि का व्याकरण' उनकी उन पुस्तकों में से थी जिन्हें वे विश्राम के क्षणों में सदैव पढ़ा करते थे। इस विषय में मैं विशेष रूप से और कुछ भी नहीं कह सकता। परन्तु पाणिनी की उनकी व्याख्या की दृष्टि से निम्नलिखित लेख देखा जा सकता है:—"On Some Rules of Panini," JAOS, Vol. XLVII (1927) pp. 61-70.

21. Viking Fund publications in Anthropology; 6 New York, 1946, PP. 85-122.

22. यह उल्लेखनीय है कि ऐलेन ने अपनी पुस्तक में पाणिनि को आधुनिक स्वनिम-वैज्ञानिकों के साथ रखा है जिनसे इनका आशय मुख्यत: अमरीकी स्वनिम वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

23. देखिए पाद टिप्पणी-9 और Floyd G. Lounsbury, Oneida Verb Morphology (Yale University Puplications in Anthoropology, No. 48; New Haven conn. 1953), PP. 11-17.

24. इसी उद्देश्य से मैंने Sanskrit Sandhi and Exercises नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी। (University of California Press 1953)। इस पुस्तिका के पूर्वार्ध के लिए मैंने लिओनार्ड ब्लूम्फील्ड के योगदान को भूमिका में स्वीकृत किया है (P. 1-2) इसी दृष्टि से रेनो के पाणिनीय व्याकरण के अनुवाद पर लिखी मेरी समीक्षा भी द्रष्टव्य है। JAOS, Vol. LXXIII (1953), PP. 188-90.

25. W.S. Allen की पूर्वोक्त पुस्तक, पाद टिप्पणी-8।

26. प्रारम्भिक अध्ययन के लिए निम्नलिखित लेखों को लिया जा सकता है: John Brough, "Audumbarayana's theory of Language." BSOAS, Vol. XIV (1952) P. 73-77. 'Theories of general linguisties in Sanskrit Grammarians." TPS. 1951), PP. 27-46.

27. V.S. Sukthankar Memroriel Edition, Vol. II (1945), PP. 386-399 पर पुनर्मुद्रित।

28. Sample Bibliograph : R.P. Schel, Grammatik der Prakrit-Sprachen (Gru diss der Indo Arischen Philolegie and Altertumskunde 1:8; Strassburg, 1900), Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. I. E. Hultzsch, Inscriptions of Asoka (Oxford, 2nd Ed- 1 25) Vol. II Part I. Stem Konow, Kharoshthi Inscriptions (Oxford 1929). Franklin Edgerton, 'Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary", 2 Vols. (New Haven, Conn, 1953).

29. Jules Bloc, L. Indo-Aryan du Ved anx temps modernes, (Paris,' 1934 Id; La Formation de la langue marathe (Bibliothe que I 'Ecole des hautes etudes, p 215; Paris, 1915); Suniti Kumar Chatterji, The Origin and Development of the Bengali Language, (Calcutta, 1926); (Sir) Ralph Lilley Turner, A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali Language (London, 1931).

30. 11. Vols, in 20 Parts, (Calcutta, 1903-28).

31. "Linguistic Prehistory of India". PAPS, Vol. XCVII (1954) PP. 282-92.

32. अर्माहित्यिक भाषाओं के जो व्याकरण लिखे गए हैं, उनमें निम्नलिखित को आधुनिक दृष्टि से उल्लेखनीय समझा जा सकता है।

—Sir Denys Bray, The Brahui Language (Calcutta, 1909, Delhi; 1934); —A Grignard, A Grammer of the Oraon Language, (Calcutta 1924).—W.W. Winfield, A Grammer of the Kui language (Bibliotheca Indica, No. 245; Calcutta 1928)—M.B. Emeneau, Kolami, A Dravidian

Language (University of California publications in Linguistics, Vol. 12 Berkeley, 1955).

33. Pubticalions du Musee Guimet, Bibliotheque de tudes, 56, Paris, 1946.

34. पाद टिप्पणी 21 में उल्लिखित लेख द्रष्टव्य है।

35. Manfred Mayrhofer, Kurzgefasstes etymologisches Worterbuch des Aldndischen, (Indogermenische Bibliothek, herausg. V. Hans Krabe; Heidelberg. 1953), C.C. Uhlenback, Kurzgefasstes etymologisches wortetbuch der altindischen spache, (Amsterdam, 1898/9)

36. T. Burrow and S. Bhattacharya, The Parji Language (Hertford, Stephen Austin, 1953) P. IX में औल्लारी, पोया और कोण्डा भाषाओं का उल्लेख है।

37. पाद टिप्पणी 31 में उल्लिखित लेख द्रष्टव्य है।

38. यद्यपि बुरशास्की भाषा को किसी अन्य भाषा के साथ जोड़ सकने के प्रयास सफल नहीं हुए हैं, फिर भी निम्नलिखित पुस्तक में उसका अच्छा विवेचन मिलता है : D.L. R. Lorimer, The Burashaski Languge, 3 Vols., Oslo, 1935-8.)

3

दृष्टि परिवर्तन : प्रेरणा और आग्रह

-महेश प्रसाद जायसवाल

भाषा-ज्ञान की आधुनिक जिज्ञासा : धार्मिकता से मुक्ति का प्रयास

किसी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रति भावनात्मक, धार्मिक अथवा रूढ़िगत धारणाओं का परित्याग हो। भाषाओं की वैज्ञानिक व्याख्या और अनुसन्धान का व्यापक रूप में आरम्भ अन्य विषयों की अपेक्षा बहुत देर से हुआ। मुख्य कारण यह था कि भाषा की उत्पत्ति के बारे में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक अनेकानेक लोकापवादी धारणाएँ व्याप्त थीं। धर्म, देवता, ईश्वर, रीति, अनुष्ठान यहाँ तक कि कहीं-कहीं अन्धविश्वास से सम्बद्ध भाषा-विषयक मान्यताएँ शिक्षित समाज में भी व्याप्त थीं। भारत में संस्कृत देव-वाणी और उसकी लिपि देवनागरी लिपि कहलाती थी-

"देवी वाचमजन्यन्त देवा:
तां विश्वरूपा: पश्व: वदन्ति"[1]

स्वयं भाषाविद् पाणिनि ने ऐसे प्रत्याहार सूत्रों का उद्धरण दिया है जिन्हें शिव के डमरूघोष से उत्पन्न माना गया है। स्वाभाविक ही ऐसी भाषा एक वर्ग विशेष का एकाधिकार बन गयी। जनसामान्य को इससे अलग रखने का प्रयास किया जाता था और शूद्रों एवं विदेशी म्लेच्छों के लिए देवभाषा सीखना और सिखाना दोनों वर्जित थे। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं लोकभाषाएँ होने के कारण असंस्कृत एंवं अपभ्रष्ट मानी जाती थीं, दूसरी ओर भाषाओं का क्रांतिकारी रूप में प्रयोग करने वाले बुद्ध और महाबीर के अनीश्वरवादी अनुयायियों ने भी पालि और अर्धमागधी को आदि भाषा कहकर भाषा की दिव्योत्पत्ति के सिद्धांत को पुष्ट कर दिया। कारण केवल इतना बताया गया कि इन भाषाओं में तीर्थकरों और स्वयं भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश दिये हैं। अतएव ये पुनीत और दिव्यता के प्रतीक हैं। लेकिन इस तथ्य को बिसार दिया गया कि जन-साधारण इन भाषाओं को स्वभावत: बोलते हैं।

---

1. ऋग्वेद 8-100-11

यहूदी और ईसाई 'ओल्डटैस्टामेंट' की भाषा हिब्रू को और इस्लामधर्मी कुरान की भाषा अरबी को ही मानव की प्रथम भाषा मानते हैं। बाइबिल में वर्णित 'बाबेल' की मीनार वाली घटना के सन्दर्भ में ईसाईयों का विश्वास है कि 'जगतस्रष्टा' ने आदम और हौवा को हिब्रू भाषा के साथ ही इस पृथ्वी पर भेजा था और उनकी सन्तानों ने आपसी झगड़ों और महत्वाकांक्षा के कारण ही विश्व में भाषा विवाद उत्पन्न किया और अपने पिता को भुला दिया। यही कारण है कि धीरे-धीरे अधर्म के साथ भाषा के नानारूपों और संख्या में वृद्धि हुई अन्यथा आज भी सर्वत्र हिब्रू का ही प्रयोग होता है।[1]

लगभग सभी सभ्यताओं और जातियों में भाषा को देवी, पवित्र और सृष्टि की ही एक अवश्यंभावी वस्तु माना गया है। उसकी अन्य प्रकार से उत्पत्ति की संभावना पर शायद ही किसी ने अनुसंधान करने का विचार किया हो। केवल पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने किसी मिस्री राजा सामेटिकोस का उल्लेख किया है जिसने भाषा की वास्तविक उत्पत्ति का पता लगाने के लिए एक प्रयोग कराया था। उसने दो नवजात शिशुओं को बिलकुल एकान्त में रखा दिया। बड़े होने पर देखा गया कि वे बालक बेकोस (Bekos) से मिलता-जुलता कोई शब्द बोलने लगे जो पश्चिमी एशिया में बोली जाने वाली फ्रीजियन भाषा का वह शब्द था जिससे रोटी का बोध होता था। इस आधार पर सामेटिकोस ने फ्रीजियन को ही विश्व की सर्वाधिक प्राचीन और कदाचित् मनुष्य की आदि भाषा मान लिया। यद्यपि भाषा की उत्पत्ति का यह प्रमाण किसी सूक्ष्म अन्वेषण का परिणाम नहीं था, तथापि यह स्पष्ट है कि संभवत: पहली बार किसी व्यक्ति ने भाषा उत्पत्ति के ईश्वरवादी सिद्धांत पर दृढ़ता से शंका उठायी। उसको चुनौती दी। अन्यथा सिद्ध करने के लिए एक अभिनय प्रयोग किया। लेकिन सामेटिकोस की इस जिज्ञासापूर्ण खोज की परम्परा आगे नहीं बढ़ी। आने वाली पीढ़ियों ने धर्मान्धता के अन्धकार में मानववाणी को आकाश से अवतरित देववाणी मानने में ही सुख का अनुभव किया।

पन्द्रहवीं शताब्दी तक जीवन और जगत के अनेक उपकरणों पर विज्ञान की मुहर लग चुकी थी। मध्ययुगीन रहस्यमयता का मकड़जाल शनै: शनै: छिन्न होने लगा था। यद्यपि ईश्वर और धर्म का भय अब भी ज्ञान पिपासुओं के मन पर छाया रहता था तथापि वास्तविकता जानने की उत्कंठा तीव्रतर होती जाती थी। अपनी-अपनी भाषा को ही

1. Book of Genesis, ch 11, verses 1-10

प्राचीनतम या आदि भाषा मानने वाले विद्वान एक दूसरे की ओर जिज्ञासा से देखने लगे, सम्पर्क स्थापित करने लगे और अन्यान्य भाषाएँ सीखने लगे। मातृभाषा से इतर भाषाओं के ज्ञान ने उस रूढ़िग्रस्त अंधविश्वास को ही नहीं तोड़ा बल्कि सामाजिक विज्ञान के एक नये द्वार पर दस्तक भी दी जो आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्म का सूचक था। सामान्यतया अभी तक विज्ञान मुख्यत: भौतिक विज्ञान ही था जो पदार्थों की व्याख्या और खोज तक सीमित था। अब मानव जीवन के रहस्यों पर भी उसने दृष्टिपात किया जिसमें विद्वानों की उस नई पीढ़ी ने पूरा योग दिया जो धर्म के मोह और आतंक से निष्कृति पा चुकी थी।

भाषा-अध्ययन अथवा व्याकरण लेखन की परम्परा, जिसका सूत्रपात आचार्य पाणिनि ने भारत में किया था, यद्यपि अब तक दो हजार साल पुरानी हो चुकी थी। उसमें वैज्ञानिक और वस्तुपरक दृष्टि से अध्ययन का कार्य एक नया प्रयास था। मध्ययुगीन रूढ़िवादिता के खंडहरों को तोड़कर निकली हुई भाषा-शोध की इस धारा को ही वैज्ञानिक भाषा अध्ययन माना गया। विद्वानों का भाषाविज्ञान और आधुनिक भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में अभी भी किंचित मतभेद है। सोलहवीं शताब्दी तक के भाषा अध्ययन को कई भाषाविज्ञानी-(विशेष रूप से पश्चिम के) भाषाविज्ञान नहीं मानते। वे पिछले दो ढाई सौ वर्षों के अध्ययन को ही वैज्ञानिक शोध के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं और प्राचीन तथा मध्ययुगीन परम्पराओं के आधार पर किये गये आधुनिक शोध कार्य को भी वे केवल भाषा का सामान्य आकृतिमूलक अध्ययन ही मानते हैं। यह विशेष रूप से भाषाओं के लिखित रूपों की शास्त्रीय व्याख्या मात्र होती थी जिसे वाङ् मीमांसा अथवा फिलॉलॉजी (Philology) कहा गया। शेष वैज्ञानिक अध्ययन को भाषाविज्ञान अथवा लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) माना गया। यदि इस उक्ति को स्वीकार कर लिया जाये तो भाषाविज्ञान का इतिहास मात्र ढाई तीन सौ साल पहले आरम्भ होता है। तदनुसार आधुनिक भाषाविज्ञान वर्तमान काल का भाषाविज्ञान ही हो जाता है। जबकि मध्ययुगीन और आधुनिक भाषा अध्ययन को आधुनिक भाषाविज्ञान मान लेने से प्राचीन भाषा अध्ययन को स्वत: भाषाविज्ञान की मान्यता मिल जाती है। अतएव समग्र भाषाविज्ञान के संदर्भ में आधुनिक भाषाविज्ञान का इतिहास उस समय से आरम्भ होता है जब भाषाविदों की दृष्टि से वस्तुपरक आधुनिकता का निस्संकोच समावेश दिखाई देने लगता है। इस आधार पर आधुनिक भाषाविज्ञान का समारम्भ सोलहवीं शताब्दी से माना जाना उचित है।

भाषा अध्ययन से भाषाविज्ञान

धर्म और परम्परा की मानसिक बाधा दूर होते ही भाषा से वस्तुपरक एवं पूर्वग्रहरहित अध्ययन का मार्ग खुल गया। विद्वान यह अनुभव करने लगे कि भाषा एक निरन्तर विकसनशील वस्तु है, इसका अपना जन्म और इतिहास होता है और इसकी उत्पत्ति तथा विकास प्रक्रिया का अध्ययन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिए। यद्यपि तब तक मानव इतिहास का अध्ययन सामान्यतया राज्यों और राजवंशों के उत्थान-पतन, युद्धों और संधियों का ही अध्ययन होता था तथापि अठारहवीं शताब्दी के अंत या उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही भाषाविदों ने भाषा के इतिहास को मानव-समाज, मानव संस्कृति और मानव इतिहास के संदर्भ में समझने और उद्घाटित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। इस अध्ययन प्रणाली से प्रसूत जिस भाषा ज्ञान का 1800 ईसवी से प्रचुर प्लावन आरम्भ हुआ वही सही और आधुनिक अर्थ में वैज्ञानिक भाषा अध्ययन अथवा भाषाविज्ञान कहलाया।

भारत में संस्कृत के व्याकरण ग्रंथों की अटूट परम्परा, उनकी टीकाओं, व्याख्याओं प्रतिटीकाओं और प्रतिव्याख्याओं का सिलसिला उस समय तक चलता रहा जब तक हमारा सीधा सम्पर्क पश्चिम से नहीं हो गया। इस लम्बी परम्परा में केवल दो ऐसे वैयाकरण और भाषा टीकाकरण को स्मरण किया जा सकता है जिन्होंने पहली बार किंचित रूढ़िमुक्ति दृष्टिकोण से संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के व्याकरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' जिसे 'सिद्धं हेमचन्द्र' भी कहा गया—की रचना की। यत्र-तत्र 'सिद्ध हेम' नाम का भी उल्लेख मिलता है। इसमें संस्कृत और प्राकृत तो नहीं अपभ्रंश सूत्रों के उदाहरण तत्कालीन लोक भाषाओं और विशेष रूप से लिखित साहित्य से प्राप्त किये गये हैं। इसमें कई तत्कालीन कवियों का उपयोगी रूप में उद्धरण दिया गया है जिनसे इन भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन में सुविधा होती है। इनको छोड़कर संस्कृत के शेष सूत्रों के सात अध्यायों और प्राकृत सूत्रों के एक अध्याय में लौकिक (Classical) भाषा को ही व्याख्या का आधार बनाया गया है। स्वयं हेमचन्द्र के काल अपभ्रंश का कैसा रूप विकसित हो गया था इसकी जानकारी के लिए आधुनिक भाषाविज्ञानियों को व्याकरण के माध्यम से ही पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। लेकिन हेमचन्द्र की इस नई भाषा दृष्टि का उसके उत्तराधिकारियों ने अनुसरण नहीं किया। लगभग पाँच सौ वर्षों बाद सत्रहवीं शताब्दी में मार्कण्डेय ने अपनी 'प्राकृत सर्वस्त्र' में व्याकरण के रूप में प्राकृतों के वर्गीकरण पर स्वतन्त्र रूप से ध्यान दिया है। उसने भाषा, विभाषा

और अपभ्रंश नाम से तीन वर्ग बनाये हैं। पैशाची को आकृति के आधार पर अलग श्रेणी में रखा गया है। उसकी सूक्ष्म व्याख्या करते हुए केक्य, शूरसेन और पंचाल क्षेत्रों के अनुसार उसका पुन: विभाजन किया गया है। विभाषा के अन्तर्गत जनजातियों ने भी मार्कण्डेय के श्रेणी-निर्धारण सिद्धांत को प्रभावित किया है। शाकारी, साबरी-चाण्डाली, आमीरी, ढक्की आदि जातियों का उल्लेख यथास्थान मिलता है। इन दोनों ग्रंथों में परम्परावादी दृष्टिकोण का परित्याग न करते हुए भी प्राकृत भाषाओं पर विशेष बल दिया गया है। भाषाविज्ञान जनपदीय भाषाओं को ही मानव समाज की सहज, स्वाभावित और प्रतिनिधि वाणी मानता है। इन दोनों आचार्यों ने इस तथ्य को पहचाना और प्राकृत के ज्ञान को प्रसारित करने में अमूल्य सहायता दी। आज भी प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के ऐतिहासिक भाषा अध्ययन के लिए इन ग्रन्थों की उपादेयता निर्विवाद है।

पश्चिम से सम्पर्क

मार्कण्डेय के बाद पुन: भारतीय भाषा अध्ययन की जो भी और जैसी भी परम्परा थी लगभग टूट गई। अगले दो सौ वर्षों तक इस क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया गया। वैसे भी भारतीय संस्कृति और इतिहास का यह घोर संकटकाल था। पश्चिम की प्रखर और प्रसारवादी सभ्यता समस्त एशिया पर हावी हो रही थी। योरोप के उपनिवेशवादी देशों—ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, हॉलैण्ड, स्पेन, बेल्जियम—में औद्योगिक-तकनीकी क्राँति प्रचंड शक्ति के साथ समुद्रों और महाद्वीपों को पार करती जा रही थी। उनकी भाषा, साहित्य, शिक्षा, विचारधारा और शोध पद्धति व्यापक प्रचार व्यवस्था तथा प्रशासनिक शक्ति के माध्यम से भारत-भूमि में उतरने लगी थी। यह एक ऐसा बौद्धिक आक्रमण था जो सदियों से ठहराव और संकोच से ग्रस्त भारतीय संस्कृति के संधि-काल के लिए बहुत भारी साबित हुआ। जनपदीय भाषाओं के अध्ययन की जो जिज्ञासा और महत्ता हेमचन्द्र तथा मार्कण्डेय ने भारतीय विद्वानों में उत्पन्न की थी वह पाश्चात्य विद्याओं के अंधड़ में एक ओर उद्दीप्त हुई तो दूसरी ओर पूर्णतया पश्चिमोभिमुख भी हो गई। मार्कण्डेय की अध्ययन पद्धति आगे बढ़ती भी तो वह कितनी भारतीय होती इसका अनुमान लगाना ही उचित है।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक योरोप के साथ भारतीय राजनीति का ही नहीं भारतीय बुद्धिजीवी का भी पर्याप्त संपर्क हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी भाषा साहित्य के अलावा ग्रीक, लेटिन के प्राचीन साहित्य और फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी आदि साहित्यों का भी अध्ययन आरम्भ हो गया था। आधुनिकता की व्यापक प्रवृत्ति के कारण भारतीय विद्वानों

का झुकाव भौतिक विज्ञानों की ओर ही नहीं सामाजिक विद्याओं की ओर भी हुआ। तब तक इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में संस्कृत एवं भारत की मध्ययुगीन भाषाओं का अध्ययन और कहीं-कहीं विधिवत अध्यनपन भी—आरंभ हो गया था। सर विलियम जोन्स ने संस्कृत और ग्रीक लेटिन के ऐतिहासिक संबंध की खोज कर यूरोपीय भाषा-जगत में एक अपूर्व हलचल पैदा कर दी थी। परिणामस्वरूप भारतीय भाषाओं के आधुनिक अध्ययन का मार्ग दर्शन सहज ही पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा ही होने लगा। पाणिनि के संस्कृत व्याकरण की परंपरा और मार्कण्डेय की प्राकृत-अपभ्रंश पर आधारित लोक भाषाओं की अपेक्षाकृत ताजी अध्ययन-धारा की आवश्यकता और जिज्ञासा दोनों पर प्राचीनता की धूल चढ़ गयी। सत्रहवीं शताब्दी के भारत में जन्मा मार्कण्डेय परम्परावादी वैयाकरण बनकर ही रह गया। दूसरी ओर योरोप की अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक-तकनीकी क्रांति के मध्य जन्मे जोन्स, रास्क, हर्डर और ग्रिम भाषाविज्ञानी कहलाये। भौतिक विज्ञानों के साथ सामाजिक विज्ञानों और वैज्ञानिक विश्लेषण के दृष्टिकोण का आयात भारतीय विद्वानों के लिए एक अनिवार्यता बन गया। तब तक यह भी स्पष्ट होने लगा था कि वह उनकी भावी पीढ़ियों की भी नियति बन कर रहेगा। अन्य विज्ञानों की अपेक्षा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में यह सत्य सबसे मुखर और रचनात्मक साबित हुआ। वस्तुत: आधुनिक भाषाविज्ञान सामान्यतया पाश्चात्य भाषाविज्ञान बन गया।

आधुनिक भाषाविज्ञान की पाश्चात्य भूमिका

पश्चिम में भाषा अध्ययन की परिपाटी मध्य युग तक उसी प्रवृत्ति का द्योतक रही जो हमें भारत में दिखाई देती है। बल्कि परिणामतया भारतीय भाषाविद् विश्व के अन्य विद्वानों से अधिक सफलता प्राप्त कर चुके थे। अंतर था तो यह कि योरोप में वैज्ञनिक युग ने इस प्रवृत्ति में जो नया मोड़ उत्पन्न किया वह भारत में स्वाभाविक ही सौ वर्ष देर से आया। इस व्यवधान के कारण ऐसी धारणा बनी कि आधुनिक भाषाविज्ञान भी पश्चिम का उच्छिष्ट है। अन्य वस्तुओं की भांति यह भी भारत के आधुनिक बुद्धिजीवियों द्वारा पश्चिम की नकलमात्र है। किन्तु वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य भाषाविज्ञान के-जिसे आज निश्चित रूप से आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रथम उन्मेष माना जाता है—भारत में पदार्पण के पहले विगत तीन सौ वर्षों से लगभग आठ सौ भाषाओं और विभाषाओं के इस महादेश में भाषा अध्ययन, शोध यहाँ तक कि व्याकरण-लेखन, पुनर्व्याख्या और शास्त्रीय टीका की शुद्ध देशी परंपरा भी शिथिल हो चुकी थी। यह भारतीय साहित्य ही नहीं, भारतीय प्रतिभा

और विज्ञान का भी रीतिकाल था। विद्या और ज्ञान के धनी लोग या तो बुद्धि-विलास में निमग्न थे या पद और धन बटोरने में जुटे थे। इस रिक्तता में पाश्चात्य भाषाविज्ञान का अनायास स्वागत हुआ जिसने उस रिक्तता की पूर्ति ही नहीं की अपितु पूर्व और पश्चिम के प्राचीनतम संबंधों पर नई रोशनी भी डाली। दोनों महादेशों के विद्वत् समाज के बीच एक ऐसा नया सम्बन्ध संपर्क शुरू हुआ जो पहले कभी किसी क्षेत्र में नहीं हुआ था। राजनीति, धर्म, दर्शन और विज्ञान के द्वारा वैचारिक विनिमय फिर भी सतही था। उससे शासक और शासित देशों की पारस्परिक दूरी में कमी नहीं आई। किन्तु भाषाविज्ञान के उदय से एक जबर्दस्त कार्य हुआ। समस्त योरोप और अमेरिका में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी और उर्दू का व्यापक अध्ययन शुरू हुआ। भारत में अंग्रेजी के अलावा ग्रीक, लैटिन, फ्रांसीसी, जर्मन, स्पेनी और रूसी में रुचि पैदा हुई। दो संस्कृतियों को समझने और समझाने के महती कार्य में आधुनिक भाषाविज्ञान की युगांतरकारी भूमिका उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्णतया निश्चित हो गयी। इस दृष्टि से देखें तो भाषाविज्ञान ने मानवविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान आदि आधुनिक सामाजिक विज्ञानों का नेतृत्व किया तथा भावी अन्तरसांस्कृतिक संबंधों के लिए एक नई प्रस्तावना तैयार की।

भारत की तरह योरोप में भी धर्म और चर्च ने भाषा के क्षेत्र में सदैव सक्रिय रुचि ली और समय-समय पर आवश्यकतानुसार उसके विकास में हस्तक्षेप भी किया। इससे एक ओर भाषाओं का प्रयोगक्षेत्र विस्तृत हुआ तो दूसरी ओर उसके प्रचार के साधन भी विकसित हुए। भारत में जहाँ संस्कृत व्याकरणों की रचना भाषा के प्रचार और प्रसार के निमित्त नहीं होती थी वहाँ योरोप में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए भाषा शिक्षण की नवीन विधियों का विकास किया जाता रहा। आधुनिक भाषाविज्ञान की प्रायोगिक भूमिका तैयार करने में ईसाई मिशनों का विशेष योगदान रहा है। योरोप, अमेरिका और अन्य क्षेत्रों में, जहाँ मिशनरी गतिविधि तीव्रतम थी, व्याकरण, पाठ्य पुस्तकें, गद्य-पद्य संकलन, रीडर, टीकाएँ आदि तैयार करने का प्रारंभिक कार्य ईसाई पादरी विद्वान लगभग बारहवीं शताब्दी में ही करते रहे हैं। 1199 में अलेक्जेंडर द विला देर ने 'दाक्त्रिनाल प्यूरोरम' (Doctrinale Puerorum) नाम से लैटिन का एक मानक व्याकरण तैयार किया जिसका उपयोग धर्म प्रचार के कार्यों के अलावा स्कूलों में भी होता था। इन व्याकरणों में धार्मिक तत्व चिन्तन के संदर्भ में भी यत्र-तत्र भाषा के विभिन्न अंगों की व्याख्या मिलती है। निश्चय ही यह व्याख्या धार्मिक प्रयोजन के लिए लिखी होती थी। तथापि आगे चलकर इससे वैज्ञानिक व्याख्या की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

मुद्रण उद्योग का सहयोग : गैसनर, पल्लस और आडलुंग

पन्द्रहवीं शताब्दी में मुद्रण यन्त्र के आविष्कार के बाद साहित्य रचना ही नहीं भाषाविज्ञान में भी एक नया युग आया। प्रचारवादी भाषाविदों के लिए ये यन्त्र वरदान स्वरूप थे। सोलहवीं शताब्दी में ही बड़े पैमाने पर भाषाशिक्षण की लिखित सामग्री देशविदेश में वितरित होने लगी। छपाई की सुविधा हो जाने से अब पुस्तकों में स्थानाभाव आदि की समस्या नहीं रह गयी। बड़े ग्रन्थों की रचना की पुरानी इच्छा साकार होने लगी। एकाधिक भाषाओं के जानने वाले विद्वान अपनी भाषा के विशद् सर्वेक्षण के अलावा अन्य भाषाओं के तुलनात्मक वर्णन की ओर भी प्रवृत्त हुए। प्राचीन क्लासिकल भाषाओं के अलावा अब तत्कालीन लोकभाषाओं पर भी आवश्यकतानुसार सूचनात्मक सामग्री प्रकाशित होने लगी। उनके व्याकरण, शब्दकोष और अन्य पाठ्य पुस्तकें बड़ी संख्या में छपने लगी। एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी हुआ कि भौगोलिक अध्ययन के विकास के कारण सुदूर देशों की सामान्य दैनिक उपयोग की भाषाओं की भी जानकारी होने लगी। सीमित मात्रा में ही सही स्थानीय भाषा के साथ इन भाषाओं की समाविष्ट सामग्री आगे चलकर तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की प्रगति में बहुत सहायक सिद्ध हुई। 1560-62 में एक फ्लैमिस राजनयिक ओगियेर घिसलिन वान बुसबैंक (Ogier Ghiselin van Busbecq) ने, जो उन दिनों टर्की के कुस्तुनतुनिया (आज का इस्ताम्बूल) नगर में कार्यरत थे, गैथिक भाषा के शब्दों को संग्रहीत किया था जिससे क्रीमिया टापू में बोली जाने वाली तत्कालीन पूर्वी जैर्मनिक बोली का प्रामाणिक रूप, जो आज सर्वथा लुप्त हो चुका है, प्राप्त होता है। बुसबैक ने एक ठेठ भाषण द्वारा बोली गयी सामग्री के आधार पर इसे तैयार किया था। इसके कुछ और महत्वपूर्ण अध्ययन भी प्रकाश में आये। सर्वेक्षण कार्य की परम्परा शुरू हो चुकी थी सभी ज्ञात भाषाओं का एक ऐसा सर्वेक्षण गैसनर (C. Gesner) द्वारा मिथौरीडाटस (Mithoridatas) नाम से 1555 में ज्यूरिख (स्विट्जरलैण्ड) से और हायरोनिमस मेगिसर (Hieronymus Megiser) द्वारा 'चालीस भाषाओं का संग्रह' (Specimens of Forty Languages) 1592 में फ्रैंकफर्ट (जर्मनी) से प्रकाशित हुए। इसी काल में सामान्य अध्ययन और आधुनिक व्याकरण की रचना भी सामने आई जो 1660 में 'पोर्ट-रॉयल ग्रामर' नाम से बहुत प्रसिद्ध हुई। मूलत: फ्रेंच भाषा के इस ग्रन्थ में प्रमुख यूरोपीय भाषाओं की तात्विक विवेचना और आकृतिमूलक तथ्यों की व्याख्या की गई है। इस प्रकार के अनेक उल्लेखनीय प्रयास सत्रहवीं शताब्दी में हुए।

अठारहवीं शताब्दी में ऐसे वृहद् अध्ययनों में विशेष वृद्धि हुई जिनमें प्रमुख था 'विश्व भाषाओं की तुलनात्मक शब्दावली' (A Comparative Vocabulary of the World's Languages) (1786-89)। इसके कोशकार थे प्रसिद्ध जर्मन विज्ञानी और भ्रमणकर्ता पी.एस. पल्लस। कुछ ही वर्षों बाद 1805 में एक स्पेनी पादरी लोरेंजो हरवासी पांडुरो ने लगभग आठ सौ भाषाओं से चुने हुए शब्दों का तुलनात्मक विवरण कोश रूप में प्रस्तुत किया। उन्हीं दिनों योहान क्रिस्टोफ आडलुंग अपने प्रसिद्ध संकलन (Mithridatas) पर कार्य कर रहे थे। इसमें पाँच सौ भाषाओं और बोलियों में ईसामसीह की प्रार्थनाओं को तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया जो आडलुंग की मुत्यु के बाद 1806-17 के दौरान चार खंडों में प्रकाशित हुआ।

प्रारंभिक प्रयास : सन्दर्भ साहित्य का निर्माण

अगली शताब्दी में जिसे मध्ययुग का उत्तरार्द्ध अथवा आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रारंभिक प्रयास का काल कहा जा सकता है, आधुनिक भाषाओं पर प्रचुर सामग्री संकलन, शब्दसंग्रह तथा अन्यान्य संदर्भ साहित्य का निर्माण हुआ। हालांकि विश्लेषण और व्याख्या की पद्धति अब भी बहुत कुछ परम्परा और धार्मिकता से प्रभावित होती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैड में विशेष रूप से कुछ के भाषाविद् हुए हैं जिन्होंने भाषाओं की भरसक वैज्ञानिक व्याख्या का आग्रह लेकर अनुसंधान के क्षेत्र में पदार्पण किया। पुनर्जागरण (Renaissance) के फलस्वरूप योरोपीय विद्वानों का ध्यान एक बार पुन: अपनी प्राचीन संस्कृति और भाषाओं की अज्ञात गहराइयों की ओर जाने लगा। किन्तु पुनर्जागरण के साथ वैज्ञानिक युग के संयोग ने गतानुगतिका का पुराना आग्रह शिथिल कर दिया। स्वनिक समानता के आधार पर प्राचीन शब्दों को भी शब्द कोशों में लिया जाने लगा जिनका तुलनात्मक विवरण स्वन, अर्थ और शब्द-रचना की विकासात्मक खोज के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में तुलनात्मक अध्ययन की व्यापक पद्धति के विकास में इन संग्रहों ने एक निश्चित आधार का काम किया इससे यह लाभ भी हुआ कि धातुओं के अस्तित्व के स्पष्ट संकेत मिलने लगे। अभी तक पाश्चात्य भाषाविदों ने शब्द रचना और स्वन परिवर्तन के सन्दर्भ में धातु या शब्द के मूलरूप पर कोई निश्चयपूर्ण चिन्तन नहीं किया था। उपर्युक्त संकलनों से इसके लिए प्रेरणा ही नहीं एक प्रकार से कच्चा माल भी प्राप्त हुआ। आगे चलकर इसी के आधार पर यह संभावना भी उठने लगी कि ग्रीक और लैटिन एक ही मूल प्राचीन भाषा की सन्तानें हैं। इस स्थापना

के शीघ्र बाद ही सर विलियम जोन्स की युगान्तरकारी खोज सामने आई जिसके अनुसार ग्रीक और लैटिन ही नहीं उनके साथ संस्कृत भी यानी तीनों-किसी एक मूलभूत प्राचीन भाषा की प्रसूता हैं। भाषा परिवार की परिकल्पना और तदोपरान्त संयोजन भी इसी अनुसंधान के दूरवर्ता परिणाम थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पुष्ट होने वाले भाषाविज्ञान के प्रमुख रूप थे। तुलनात्मक भाषा अध्ययन, भाषा की ऐतिहासिक व्याख्या, पारिवारिक वर्गीकरण और व्युत्पत्ति अन्वेषण जिनकी पीठिका निर्विवाद रूप से उपर्युक्त संकलनों से ही तैयार हुई।

प्राचीन भाषाविज्ञान के इतिहास में शब्द व्युत्पत्ति के अध्ययन को यूनानी और रोमन परम्पराओं का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। वस्तुत: पाश्चात्य भाषाविदों का शब्द रचना के अध्ययन की ओर आरम्भ से ही विशेष झुकाव रहा है। 1488-1513 में स्काटलैंड के राजा जैम्स चतुर्थ ने भी राजा सामेटिकोस की तरह विश्व की प्रथम भाषा की खोज करने के लिए प्रयास किया। उसने भी दो नवजात शिशुओं को एकान्त-वास में वर्षों तक रखने के उपरांत यही घोषित किया कि जो शब्द बच्चे स्वत: बोले उनकी व्युत्पत्ति हिब्रू के शब्दों से प्राप्त होती है। अर्थात् वे बड़ी अच्छी हिब्रू बोले (Spak Very Guid Ebrew)। अतएव हिब्रू ही विश्व की प्रथम भाषा है। स्पष्टतया सामेटिकोस की भाँति जेम्स भी कुछ दकियानूसी धार्मिक तथा भावनात्मक पूर्वग्रहों से जकड़ा था। तथापि यह प्रयास व्युत्पत्ति-अनुसंधान की आधुनिक पद्धति का स्पष्ट परिचायक था। धार्मिकता से ग्रस्थ अन्य व्युत्पत्ति अध्ययन भी सोलहवीं शताब्दी में हुए। हॉलैंड के गोरोपियस बेकानुस (1518-72) और स्वीडन के अद्रियाज केम्के ने अपनी भाषा को ही मनुष्य की आदि भाषा घोषित किया। केम्के की तो यह मान्यता थी कि आदम और हौवा के क्रीडांगन (Garden of Eden) में जहाँ से मानव सृष्टि का आरम्भ हुआ था, ईश्वर ने स्वीडिश भाषा में ही वचन कहे थे। आदम डेनिश भाषा में बोला था और सर्प फ्रेंच में बोला था। फ्रांस में व्युत्पत्ति के कार्य की ओर कुछ विद्वान अपेक्षाकृत बौद्धिक ढंग से अग्रसर हो रहे थे। 1606 में गिकर्ड (E. Guichard) ने अपना बहुचर्चित व्युत्पत्ति कोश तैयार किया जिसमें हिब्रू, सीरियाई, चल्डाइक (Chaldaiae), ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, इतालवी, स्पेनी, जर्मन, फ्लैमिश और अंग्रेजी का सम्मिलित विवेचन किया गया है। उसने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि विभिन्न भाषाओं में अक्षरों के योग, विच्छेद, उलट देने और प्रतिरोपित कर देने से शब्दों के मूल आधार का पता लगाया जा सकता है। हिब्रू के बायें से दायें लिखे जाने में यही रहस्य निहित है।

महेश प्रसाद जायसवाल

पुनर्जागरण : भाषा की दार्शनिक पहचान : हॉब्स, लॉक और रीड

योरोपीय पुनर्जागरण के उपरान्त प्राचीन भाषाओं के प्रति योरोपीय बौद्धिकों में जो एक नई चेतना उत्पन्न हुई वह व्याकरण अथवा भाषा की आकृति की बजाय उसके शब्द रूप पर केन्द्रित हुई। अर्थतत्व पर माथापच्ची करने का एक फैशन सा चल पड़ा था। इस कार्य के अग्रणियों में टॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes, 1588-1673) नामक अंग्रेज विद्वान सर्वप्रमुख था। इसने राजभक्ति के जोश में यह व्यवस्था दी कि शब्दों के अर्थविषयक विवाद पर अंतिम निर्णय देने का अधिकार केवल राजा को होना चाहिए। मानववादी विचारधारा के अनुरूप हॉब्स की मान्यता थी कि भाषा और कुछ नहीं नामों और क्रियाओं का एक संकलन मात्र है। अपने अंग्रेजों की भाँति वह भाषा को राजा और दैवी शक्ति से विलग नहीं कर सका। शुद्ध आस्तिक की तरह उसने घोषित किया–भाषा का प्रथम रचयिता स्वयं ईश्वर था जिसने आदम को यह सिखाया कि उसकी रची वस्तुओं को किस प्रकार पुकारना चाहिए[1] एवं भाषा का सामान्य उपयोग मानसिक विचारों को मौखिक रूप देना है अथवा शृंखला को शब्द शृंखला में बदल देना।[2]

धर्म पर आधारित मानववाद का समर्थन करने वाला दार्शनिक जॉन लॉक (1632-1704) हॉब्स की अधिकचरी मान्यताओं का कटु आलोचक था। साथ ही उसने अपनी असाधारण तर्क शक्ति के द्वारा भाषा की तात्विक विवेचना हेतु मानव-मस्तिष्क को ही अपनी प्रयोगशाला बनायी। इसके पहले किसी भाषाविज्ञानी ने भाषाविज्ञान को मनोविज्ञान के साथ जाने अनजाने जोड़ने का प्रयास नहीं किया था। इस दृष्टि से देखने पर हॉब्स का योगदान मौलिक, साहसिक एवं नेतृत्वपूर्ण था।

मानव मस्तिष्क को जन्म के समय बिल्कुल खाली पटल करार देते हुए हॉब्स ने प्रतिपादित किया कि विचार (Idea) पहले से ही मन में अंतर्भूत नहीं होते। वे स्थूल अनुभवों से ही जीवन्त बनते हैं जिन्हें मस्तिष्क अपनी अज्ञात क्षमताओं के द्वारा संयोजित करके पद, शब्द और वाक्य के माध्यम से भाषा का रूप देते हैं। लॉक ने इस विवेचना पद्धति के द्वारा शब्द रचना प्रक्रिया पर महत्वपूर्ण और गहन व्याख्या प्रस्तुत की जिसका प्रभाव आने

1, 2. "The first author of speech was God himself, that instructed Adam how to name such creatures as he presented to his sight, "and" the general use of speech is to transfer our mental discourse into verbal; or the train or our thoughts, into a train of words..." Hobbes, Leviathan, p. 18.

वाली पीढ़ियों पर पड़े बिना नहीं रहा। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Essay Concerning Human Under Standing" में उसने स्पष्ट किया है–ईश्वर ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाकर इस उद्देश्य, अर्थात् सामाजिकता उत्पन्न करने के लिए, उसे वैचारिक समागम के लिए भाषा प्रदान की जो समाज का एक महान अस्त्र और एकता का सूत्र बनी। अतएव प्रकृतया मनुष्य की वागेन्द्रियों को ऐसा रूप मिला जिनके द्वारा स्वनों का सही उच्चारण किया जा सके।[1] लॉक ने भाषा को उत्पत्ति के अलावा उसके प्रायोगिक पक्ष पर भी तत्कालीन विकास की सीमाओं में ही सही सोचने का प्रयास किया है। इसका आधार दैनिक जीवन की बजाय भाषा का तात्विक दर्शन अधिक है। शब्द के दुरुपयोगों पर उसकी टिप्पणी इसी के अनुरूप है और जिसके उसने पाँच रूप बताये-(1) वैचारिक अस्पष्टता (2) उनके प्रयोगों में विसंगति और अनियमितता (3) शब्द को वस्तु मान लेना। (4) शब्द और वस्तु के अर्थगत महत्व में एकांगिता (5) चित्रात्मक भाषा का भाषाविलास की बजाय इतिवृत्ति के लिए प्रयोग।

स्पष्ट है कि लॉक ने अपनी दृष्टि भाषा के दार्शनिक पक्ष तक सीमित रखी। पुनर्जागरण काल में दर्शन शास्त्र से व्याकरणिक परिकल्पना को अलग कर देने से स्वाभाविक ही उसके भाषिक अध्ययन का सम्बन्ध मात्र शब्दों से ही रहा। उपयुक्त ग्रंथ में उसने तीन पृष्ठ अवश्य निपातों (particles) पर लिखे एवं 'किन्तु' संयोजक पर भी विचार किया जो उसकी लेखन और चिंतन शैली के अनुरूप अधिकांशत: अस्पष्ट अथवा दार्शनिकता से बोझिल हो गये हैं। अनेक परवर्ती भाषाविज्ञानियों ने इसीलिए उसे एक ऐसा दार्शनिक माना जिसने भाषा को अध्ययन का लक्ष्य नहीं माध्यम भर बनाया। उसका प्रयोजन भाषा का विश्लेषण करना नहीं था। अमेरिकी भाषाविज्ञान क्षेत्र में तो लॉक की स्पष्ट उपेक्षा देखी जाती है। किन्तु निष्पक्ष भाव से विचारने पर यह निश्चय हो जाता है कि लॉक की दृष्टि विचार (Idea) के भाषागत महत्व भूमिका का बड़ी क्रमबद्धता के साथ अवलोकन करती रही है जिसने आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों को प्रेरणा दी। वह कितना

---

1. "God, having designed man for a sociable creature, made him not only with an inclination and under a necessary to have fellowship with those of his own kind, but furnished him also with language which was to be the great instrument and common tie of the Society. Man, therefore, had by nature his organs so fashioned as to be fit to articulate sounds... "Locke, Essay, book III, Chapter I, Section I.

दार्शनिक और कितना भाषाविज्ञानी था इस विवाद के बावजूद भाषावैज्ञानिक अन्वेषण में उसका अंशदान महत्वपूर्ण था।

लॉक का एक प्रमुख आलोचक था टॉमस रीड (1710-1796) जिसने उसकी आलोचना के साथ उसकी तार्किक व्याख्या भी की। लॉक की ही दार्शनिक शैली में रीड ने एक स्थान पर लिखा है—"सामान्य व्यवहार के शब्दों का अर्थ गणित की परिभाषाओं की तरह बिलकुल सही और दो टूक रूप में नहीं सीखा जा सकता बल्कि उनके प्रयोगों को दैनिक जीवन में बारंबार सुनकर अर्थात् प्रयोगगत अनुभवों के द्वारा सीखा जाता है।[1] जॉर्ज बर्कले (1685-1753) ने लॉक की इस मान्यता का प्रतिवाद किया कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी विचार का प्रतिनिधित्व करता है और जो नहीं करता वह किसी अमूर्त (Abstract) विचार को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है : बर्कले ने भी दार्शनिक अंदाज में यही प्रतिपादित किया कि विचार अपने आप में अमूर्त अथवा सूक्ष्म नहीं होते क्योंकि अमूर्तता या सूक्ष्मता का सम्बन्ध ग्रहणकर्त्ता (Recipient) की क्षमता से होता है।

जर्मनी में नयी भाषिक चेतना

इंग्लैंड में आधुनिक भाषाविज्ञान के जिस दार्शनिक पक्ष ने जन्म लिया था वह योरोप के अन्य देशों में विवाद और किंचित उपेक्षा का विषय बना रहा। फ्रांस और जर्मनी के विद्वानों का बल भाषा के रूपात्मक विवेचना पर अधिक था उनमें से सभी उसके स्थूल पक्ष के अन्वेषण, विश्लेषण, पोषण और संकलनकार्य में व्यस्त थे। जर्मनी इसका विशेष महत्वपूर्ण केन्द्र था। सत्रहवीं शताब्दी में जिन अन्य विद्वानों ने विशेष रूप से भाषा की उत्पत्ति, विकास के सैद्धान्तिक पक्ष और ऐतिहासिक सम्बन्धों पर महत्वपूर्ण कार्य किया उनमें से दो जर्मन और एक अंग्रेज थे। इनको शोध कृतियों से भाषाविज्ञान के सिद्धान्त पक्ष की खोज अग्रसर हुई। फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न भाषाओं पर ही नहीं भाषाविज्ञान के सामान्य नियमों और तत्वों पर भी गहन चिंतन हुआ। इस प्रकार यदि गैसनर, मैगिसर और पल्लस भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के आदि पुरुष थे तो लीबनिज, हर्डर और विलियम जोन्स सामान्य भाषाविज्ञान एवं तुलनात्मक पद्धति के आदिपुरुष थे।

---

1. "The meaning of most general wards is not learned, like that of mathematical terms, by an accurate definition, but by the experience we happen to have, by hearing them used in conversation Reid." Reid Essays on the Intellectual Powers

लाइबनाइज़ : मार्गदर्शन

गॉटफ्रीड बिल्हेल्म वॉन लाइबनाइज़ का जन्म जर्मनी में 1646 में हुआ था। मूलत: वह दर्शन और गणित का विशेषज्ञ था किन्तु उसका ज्ञान इतना व्यापक और विविध था कि उसके प्रशंसक उसे 'सर्वज्ञ' कहते थे। लगभग सभी तत्कालीन विधाओं में उसका कुछ न कुछ दखल था। भाषा के क्षेत्र में उसकी रुचि शब्द गठन और शैली के प्रति विशेष थी। तथापि भाषाओं के अध्ययन का जहाँ भी प्रश्न उठा इस दार्शनिक की दृष्टि गणित से होती हुई विज्ञान की ओर उन्मुख हुई। सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध की दकियानूस बौद्धिकता के परिवेश में इस साहसी विद्वान ने भाषा अनुशीलन को रूढ़िवादी पटरियों से उठाकर उन्मुक्त मैदान में लाकर खड़ा किया जहाँ अन्य भौतिक और सामाजिक विज्ञान आधुनिक युग की दौड़ के लिए तत्पर खड़े थे। लीबनीज़ ने अपना ध्यान विशेष रूप से भाषाओं के पारम्परिक सम्बन्ध और वंशोत्तपत्ति पर केन्द्रित किया। आरम्भ से ही उसे यह बात खटक रही थी कि सभी विद्वान पर्याप्त शोध किये बिना हिब्रू को आदि भाषा मान बैठते हैं। बाइबिल के प्राचीन आधार ग्रंथ 'ओल्डटेस्टामेण्ट' की भाषा हिब्रू के ऐतिहासिक महत्व को उसने हृदय से स्वीकारा और इस बात पर दूसरे विद्वानों से अधिक बल दिया कि ग्रीक, लैटिन और गैथिक की भाँति हिब्रू का अध्ययन भी प्रत्येक ईसाई धर्म प्रचारक और शोधकर्ता के लिए आवश्यक है। परन्तु ग्रीक, लैटिन और गैथिक के मिलते-जुलते रूपों को और उसने बहुत भिन्न हिब्रू को देखकर लीबनिज ने आरम्भ में ही यह शंका उठाई कि हिब्रू इन सबसे प्राचीन होते हुए भी भिन्न वर्ग की भाषा है। उसका यह आशय स्पष्ट था कि हिब्रू आदि भाषा नहीं है। स्वाभाविक ही रूढ़िवादी विद्वानों ने इस पर रोष व्यक्त किया। लीबनिज इससे विचलित हुए बिना नये सिद्धान्तों का प्रयोग करता रहा। 1710 में बर्लिन अकादमी की स्मारिक Miscellanea Berolinensia में योरोप, एशिया और मिस्र की भाषाओं के नये वर्गीकरण और वैशात्तपत्ति की विवेचना प्रकाशित हुई। शीघ्र ही यह पुस्तक तुलनात्मक भाषाविज्ञान का गुरुग्रंथ बन गई। इसमें लीबनिज ने इन भाषाओं की तुलनात्मक विवेचना करते हुए यह स्पष्ट किया कि इनमें इतना साम्य है कि वह संयोगवश नहीं अपितु किसी एक जननी भाषा से उत्पत्ति के कारण ही संभव है। इस स्थापना के आधार पर ही सौ वर्ष बाद विलियम जोन्स ने यह मत निर्धारित किया कि ग्रीक, लैटिन ही नहीं उसके साथ संस्कृत भी एक ही मूल भाषा की संततियाँ हैं। इतना होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि लीबनिज के कुछ निष्कर्ष सामग्री और तथ्यों के अभाव के कारण अल्पकालिक

साबित हुए। उदाहरणार्थ यह कि योरोप और एशिया की समस्त भाषाओं को एक परिवार-यूरेशियाई परिवार के अंतर्गत माना जाना चाहिए। इस उक्ति के पीछे शायद उसकी सांस्कृतिक भावना ही दिखाई देती है जैसा कि बाद की मान्यताओं से स्पष्ट होता है।

पारिवारिक वर्गों की खोज के अलावा लीबनिज ने तत्कालीन जनभाषाओं के संकलन और सर्वांगीण अनुशीलन की आवश्यकता को भी समझा। वह कदाचित प्रथम भाषाविज्ञानी था जिसने निवर्तमान जनभाषाओं को शिक्षा और साहित्य का संप्रेषक बनाने की तकरीर की। हिब्रू के अलावा ग्रीक और लैटिन जैसी अतीतकालीन भाषाओं के प्रति अनावश्यक मोह और अंधविश्वास देकर उसे दुख होता था। यह चाहता था कि उसके देशवासी अपनी शानदार जीवित मातृभाषा जर्मन पर गर्व करना सीखें। उसके अध्ययन और व्यापक प्रयोग के द्वारा उसे समृद्ध बनायें। तभी वह सभ्य समाज की परिनिष्ठित वाणी बन सकेगी। इस भावना से प्रेरित होकर उसने साहित्य की बहु-प्रचलित माध्यमों लैटिन या फ्रेंच की बजाय जर्मन में कई लेख लिखे। यह भी भाषा-क्षेत्र में एक साहसिक प्रयास था जिसने आगे चलकर अन्य जर्मन लेखकों की भाषागत हीन भावना को दूर किया।

लाइबनाइज़ केवल भाषाविद् ही नहीं अपने समय का प्रभावशाली सांस्कृतिक नेता भी था। उसकी मित्रमण्डली विस्तृत थी उसके व्यक्तित्व की छाप संपर्क में आये हर बुद्धिजीवी पर पड़ती थी। बड़े-बड़े राजघरानों में उसकी पहुँच होने के कारण उसने रूस के जार पीटर महान से अनुरोध किया कि रूस की सभी भाषाओं को सिखाने की व्यवस्था करायी जाय। उनका संकलन व्याकरण-लेखन और यथासंभव वैज्ञानिक अनुसंधान कराया जाय तथा शब्दकोशों का संपादन हो। लीबनिज से प्रभावित होकर ही रूसी सम्राज्ञी कैथरिन द्वितीय ने पल्लस द्वारा संकलित, संपादित दो सौ भाषाओं और बोलियों के शब्दों का संग्रह प्रकाशित कराया। वस्तुत: आडलुंग, हर्बस आदि तत्कालीन विद्वानों के कार्यों के लिए साधन जुटाने और प्रोत्साहित करने में इसी विलक्षण व्यक्ति का सबसे अधिक योगदान रहा।

भाषा की उत्पत्ति पर भी लाइबनाइज़ ने मौलिक रूप से विचार किया जिसका मुख्य आधार मनोविज्ञान था। अपने समकालीन जॉक लॉक की आलोचना करते हुए उसने यह दर्शाया कि मानव मस्तिष्क जन्म के समय एकदम रिक्त नहीं होता। उसमें अंतर्भूत विचार अवश्य छिपे रहते हैं जो दृश्य जगत के अनुभवों के प्रत्यक्षीकरण से साकार हो उठते हैं। और चूँकि

इन अनुभवों या दृश्य प्रतीकों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। वह अपनी कल्पना ही से अस्थायी तौर पर एक नाममात्र की परिभाषा (Nominal Definition) तय कर लेता है। अन्यथा होना तो यह चाहिए कि प्रत्येक शब्द का अर्थ उस वस्तु की वैज्ञानिक जानकारी के अनुसार निर्धारित किया जाय। आधुनिक भाषाविज्ञान में पदार्थवादी विचारधारा का यह प्रथम आग्रह था। लाइबनाइज़ ने अरस्तू के परिभाषा विषयक प्राचीन मान्यताओं का समर्थन किया और 'तार्किक परिभाषा' एवं 'भौतिक परिभाषा' को वस्तुओं के सामान्य प्राविधिक नाम और स्थूल समानता के सन्दर्भ में पृथक करके समझाया। अतएव अचरज नहीं कि उसने एक ऐसी 'आदर्श' भाषा की कल्पना की जिसमें किसी विचार (Idea) का प्रतिनिधित्व एक निश्चित प्रतीक ही करेगा और इन प्रतीकों का समन्वय अथवा संयोग निर्धारित नियमों के अंतर्गत होगा। लाइबनाइज़ की यह कल्पना एक ऐसी मानव भाषा, मानव समाज और मानव मस्तिष्क की अपेक्षा करती है जिसमें प्रत्येक वस्तु क्रमिक व्यवस्था के साथ संगठित हो तथा आवश्यकता पड़ने पर यांत्रिक शुद्धता के साथ अर्थ प्रतिपादित करे। आज संगणक की कार्य प्रणाली कदाचित लीबिनिज़ की दूरदर्शी बुद्धि का साक्षी बनकर आयी है।

हर्डर : नवीन दृष्टिकोण

दूसरे जर्मन भाषाविद् योहान गॉटफ्रीड वॉन हर्डर का जन्म लाइबनाइज़ के लगभग सौ वर्ष बाद 1744 में हुआ था। भाषा-अध्ययन को आधुनिक भाषाविज्ञान का रूप देने में इस व्यक्ति का भी उल्लेखनीय योगदान रहा। 1772 में उसका एक बहुचर्चित निबंध 'भाषा की उत्पत्ति' (Uberden Ursprung der Sprache) प्रकाशित हुआ जिसमें उत्पत्ति विषयक ईश्वरवादी सिद्धान्त की कटु आलोचना की गयी थी। पुराणपंथी भाषा भक्तों की चुटकी लेते हुए उसने कहा कि यदि भाषा भगवान की देन होती तो उसमें ऐसी अनियमिताएं और विरोधाभास न होते जो प्राय: हर प्राचीन और अर्वाचीन परिनिष्ठित और जनपदीय भाषा में पाये जाते हैं। उपरांत चीनी और लैटिन, संस्कृत और अरबी आदि भाषाओं की पूर्ण भिन्नता को देखकर एक ही निर्माता की--चाहे वह ईश्वर हो या मनुष्य-कल्पना सर्वथा निराधार लगती है। हर्डर ने उस तथाकथित मानववादी आग्रह का भी विरोध किया जिसके अनुसार भाषा को स्वयं मनुष्य ने जन्म दिया। उसने अपनी ओजस्वी शैली में बारम्बार इस पर बल दिया कि मनुष्य एक ऐसा संवेदनशील प्राणी है जिसमें अपने मनोभावों को भौतिक अभिव्यक्ति देने की अपूर्व क्षमता है। उसके मुख से भाषा उसी प्रकार फूट पड़ती है जैसे गर्भ से पूर्ण विकसित शिशु बाहर निकल जाने को मचल उठता है। यह प्रकृति का तकाजा

है, एक प्रकार की शारीरिक और मानसिक भी विवशता है जिसे मनुष्य ही सहज भाव से भाषा का रूप प्रदान कर सकता है। दूसरे शब्दों में हर्डर ने भाषा को आवश्यकता की संतान माना। आवश्यकतानुसार शब्दों के निर्माण अथवा स्वन परिवर्तन का सिद्धान्त इस मत से पुष्ट होता है। इसी आधार पर उसने भाषा-अर्थात शब्द की उत्पत्ति धातुओं से हुई, इस सिद्धांत को भी मान्यता दी। धातुओं की खोज का काम पन्द्रहवी शताब्दी में जेन्स चतुर्थ, गिकर्ड, केम्के और बेकानुस ने शुरू किया था। हर्डर की सहमति से इस मत को विशेष बल मिला जिसके फलस्वरूप विभिन्न भावनाओं की तुलनात्मक व्युत्पत्ति तैयार करने का काम तेजी से होने लगा। इसके पहले लीबनिज ने शब्दिक बिंबों की परिकल्पना की थी। हर्डर ने इस मत को भी आगे बढ़ाया और दृढ़ता के साथ यह स्थापित किया कि आदि मानव स्वयं रूपकों का आविष्कर्ता था।

हर्डर के इस मत का परवर्ती भाषाविज्ञानियों ने बड़ी सराहना की क्योंकि उनका मत था कि हर्डर अपने युग के कई स्वनामधन्य मानववादियों से भी आगे निकल गया। उसने भाषा को मनुष्य की सर्जनात्मकता का प्रतिफल घोषित कर उसे विशेष गौरव प्रदान किया।

(फ्रांस में) रूसो की सामाजिक व्याख्या

इस सबके उपरांत भी हर्डर को नास्तिक अथवा अनीश्वरवादी समझना भूल होगी। दरअसल वह आधुनिक भाषाविज्ञान के प्रथम उन्नायाकों में होते हुए भी अपेक्षाकृत एक धार्मिक व्यक्ति था। शायद यही कारण है कि उसने भाषा उत्पत्ति की मानववादी विचारधारा को पोषित करते हुए भी यही माना कि हिब्रू ही सबकी मूल भाषा थी। भाषा के जन्मकाल में मनुष्य की भाषा की आन्तरिक आवश्यकता इतनी तीव्र हो उठी कि उससे हिब्रू का निर्माण हुआ। इतना ही नहीं हर्डर ने एक प्रकार का यह संशोधन भी प्रस्तुत किया कि मनुष्य की भाषागत आदिम प्रवृत्ति ईश्वर प्रदत्त ही है। बिना ईश्वर अनुकम्पा के उसके हृदय से भाषा का स्रोत नहीं फूट सकता था। हाँ मनुष्य ने उस प्रकृतिगत अभिव्यक्ति को सजा सँवारकर विधिवत भाषा का रचनात्मक रूप दिया। उस युग की भावधारा को देखते हुए हर्डर का यह संशोधनवादी दृष्टिकोण सहज बोधगम्य है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसने आने वाले भाषाविज्ञान के युग का पूर्वाभास दे दिया।

फ्रांस में भाषा की उत्पत्ति पर जिन विद्वानों द्वारा विचार हो रहा या उनमें प्रसिद्ध समाज विज्ञानी रूसो (1712-78) सर्वप्रमुख था। "सामाजिक अनुबन्ध" (Contract Society)

नामक अपनी बहुचर्चित पुस्तक में उसने सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के संदर्भ में इसकी सम्यक विवेचना की है। उसके अनुसार भाषा का जन्म मनुष्य के पारम्परिक विचार विनिमय के परिणामस्वरूप हुआ। अपने आदिकालीन जीवन में वह पशु की भाँति शारीरिक चेष्टाओं और सहज प्रतिक्रियासों द्वारा भावों को व्यक्त करता था। कालान्तर में आवश्यकतानुसार उसने कुछ संकेतों का साभिप्राय आविष्कार किया। इसका प्रमाण हमें आज भी सेना, पुलिस, स्काउट, नाटक, पेंतो-माइम (मूक-अभिनय) आदि में प्रयुक्त कायिक संकेतों से मिलता है। किन्तु मनुष्य का जैसे-जैसे सामाजिक विकास हुआ उसकी भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ भावाभिव्यक्ति की व्याकुलता भी बढ़ती गयी। अत्यंत सीमित संकेतों—अर्थात् आंगिक भाषा से उल्टे भ्रम और जटिलता अनुभव होने लगी। अतएव उसने शरीर के हाथ, पैर आदि अंगों के स्थान पर मुख के भीतरी बारीक यंत्रों के स्वन उत्पादक सामर्थ्य का उपयोग करते हुए एक विशिष्ट स्वन व्यवस्था अर्थात् 'भाषा' का आविष्कार किया। आरंभ में यह व्यवस्था भले सांकेतिक ही रही हो। कालांतर में मनुष्य ने इसी आदिम स्वन व्यवस्था से रचनात्मक भाषा का निर्माण किया। इतिहासकारों ने इसे भाषा की उत्पत्ति का संकेत सिद्धान्त कहा है। इससे मिलती-जुलती उक्ति भामह के इस श्लोक में भी मिलती है-

इयन्त ईदृशा वणां ईदृगथमिधामिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः।।[1]

रूसों ने यह सिद्धान्त केवल कल्पना के आधार पर गढ़ा था। मनुष्य के क्रमिक सामाजिक, शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक विकास का इसमें कोई आधार नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी तक के साधारण प्रयोगों पर भी रूसों ने कोई ध्यान नहीं दिया। भाषा को मात्र सामाजिक वस्तु—बल्कि एक बड़ी सामाजिक शक्ति—मानकर उसने इसे सामाजिक आवश्यकता के साथ जोड़ दिया। परिणामतः आधुनिक भाषाविज्ञान के प्रायः सभी विद्वानों ने इसे अग्राह्य माना। आगे यह अवश्य हुआ कि रूसों के इस मतवाद से उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में होने वाले भाषा के व्यापक समाजवैज्ञानिक अध्ययन का मानसिक संकेत अभी से मिलने लगा। समाज ने भाषा को जन्म दिया या भाषा ने समाज को? क्या भाषा भी अन्य साधारण वस्तुओं की भाँति आवश्यकता की उपज है? क्या यह आवश्यकता की उपज है? क्या

---

1. काव्यालंकार 6/13

यह आवश्यकता समाजगत एवं व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर भाषा की उत्पत्ति तथा निर्माण का कारण बन सकती है? इस प्रश्नों पर भाषाविचारकों ने आधुनिक दृष्टिकोण से सोचना शुरू कर दिया।

अमेरिका में भी हलचल

इस प्रकार सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में लगभग सभी भाषाविदों एवं भाषा में रुचि लेने वाले दार्शनिकों और समाज विज्ञानियों ने भाषा की उत्पत्ति पर अलग से चिंतन किया और अपना कोई न कोई स्वतन्त्र मत प्रतिपादित किया। कुछ ने ऐसे मतों की व्याख्या भर की। अमेरिका में सत्रहवीं शताब्दी में रोजर विलियम्स ने आलोगोन्कियन (Alogonkian) जाति की भाषा का अध्ययन करके भाषाविज्ञान का संबन्ध मानव-विज्ञान से जोड़ने का प्रथम प्रयास किया जो आगे बीसवीं शताब्दी के मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान का अभिसूचक सिद्ध हुआ। अमेरिका में यह परम्परा निरंतर चलती रही।

(इंग्लैण्ड में) विलियम जोन्स : यूरोपीय परिवार का आग्रह

जिस समय जर्मनी आधुनिक भाषाविज्ञान का केन्द्र था और लिबनिज के सौ वर्ष बाद हर्डर अपनी भाषावैज्ञानिक प्रतिभा से पाश्चात्य विद्वत्समाज को प्रभावित कर रहा था उस समय इंग्लैंड में भी सर विलियम जोन्स नामक एक युवक (1746-94) विश्व के भाषाविदों का ध्यान अनवरत खींच रहा था। जोन्स भाषाविज्ञानी नहीं विधि विशेषज्ञ था। उसकी नियुक्ति 1783 में कलकत्ता हाईकोर्ट में जज्ञ के रूप में हुई। 36 वर्षीय युवा जज को ब्रिटिश कानून और शासन से अधिक दिलचस्पी भारत जैसे प्राचीन देश की संस्कृति में थी। अध्ययन का आरम्भ उसने भाषाओं के साथ किया और कुछ ही समय में उसने संस्कृत पर अपूर्व अधिकार कर लिया। ग्रीक, लैटिन और मध्य योरोप की पुरानी भाषाओं का ज्ञान उसे पहले से ही था। उसकी कानून विशेषज्ञ की पैनी दृष्टि इन भाषाओं की तुलनात्मकता पर गयी। 2 फरवरी 1786 को उसने कलकत्ते में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के उद्घाटन अवसर पर एक व्याख्यान दिया जिसमें उसने संस्कृत को 'ग्रीक और लैटिन से कहीं अधिक परिनिष्ठित और विलक्षण आकृति की भाषा कहा। तीनों की धातु क्रिया की समानता और व्याकरणिक तुलनीयता को उसने मात्र संयोग की बात मानने से इंकार कर दिया और यह

घोषित किया कि ये तीनों भाषाएँ किसी एक मूल भाषा की वंशज हैं जिसके साथ प्राचीन फारसी को भी सम्मिलित किया जा सकता है।"[1]

यूरोपीय भाषाविज्ञान, पुनर्निर्माण पद्धति अथवा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के इतिहास में जोन्स के ये शब्द एक नये युग का संवाहक थे। पहली बार यह स्पष्ट हुआ कि भाषाओं की तुलना केवल अटकल का काम नहीं एक विधिवत अध्ययन पद्धति है जिससे सदियों पुरानी भाषाओं के उद्गम, विकास एवं पारस्परिक सम्बन्ध अथवा पृथकता का उद्घाटन किया जा सकता है। इसके आधार पर यह स्पष्ट हो गया है संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गैथिक केल्टिक, फारसी एवं उनके प्रभाव क्षेत्र की भाषाओं का एक वृहत परिवार है जिसे यूरोपीय भाषा परिवार कहा गया। वैसे जोन्स ने यह भ्रम अवश्य पैदा कर दिया कि उत्तर भारत की प्रमुख भाषा हिन्दी, संस्कृत से उत्पन्न नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र भाषा है जो संस्कृतभाषी आर्यों के भारत आगमन के पहले से बोली जाती है। बाद में शीघ्र ही इस भ्रम का निवारण कर दिया गया।

विलियम जोन्स के आलोचकों ने इस खोज को इतना मौलिक और महत्वपूर्ण नहीं माना। उनके अनुसार जोन्स के लगभग 20 वर्ष पहले ही 1767 में एक फ्रांसीसी विद्वान कूर्दो (Coeurdoux) ने भी इसी आशय की बात कही थी। किन्तु अभाग्यवश उसका यह शोध-प्रबन्ध जोन्स के व्याख्यान के 20 वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। अतएव जो यश कूर्दो को मिलना चाहिए था वह जोन्स को मिला। यह दलील सही होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं है कि जोन्स ने यह खोज भारत में रहते हुए स्वतन्त्र रूप से अपनी विलक्षण प्रतिभा, ज्ञान और परिश्रम के बल पर की थी। उसे पेरिस में 20 वर्ष पूर्व किये गये अप्रकाशित अन्वेषण का कोई पता नहीं था। कूर्दो के अलावा अन्य फ्रांसीसी और जर्मनभाषाविद भी

---

1. The Sanskrit Language. Whatever be its antiquity, is of a Wonderful structure, more perfect than the Greek, more copious than the Latin, and more exquisitely refined than either, yet bearing to both of them a stronger affinity, both in the roots of verbs and in the forms of grammer, than could possibly have been produced by accident: so strong indeed that no philologer could examine them all three, without believing them to have sprung from some common source, which, perhaps, no longer exists: there is a similar reason, though not quite so forcible, for supposing that both the Gothick and the Celtick, though blended with a very different idiom, had the same origin with the Sanskrit; and the old Persian might be added to the same family.

थे जिन्होंने जोन्स के पहले ही प्राचीन भाषाओं के कुछ शब्दों का तुलनात्मक परीक्षण किया था। किन्तु इस साहसपूर्ण निश्चय पर पहुँचने वाला और उसे अदम्य विश्वास के साथ आलोचकों के बीच स्थापित करने वाला प्रथम व्यक्ति जोन्स ही था। दूसरे, जोन्स की यह स्थापना किसी अंतर्ज्ञान के सहारे नहीं तथ्यों के विधिवत अन्वेषण के आधार पर थी।

अभाग्ववश जोन्स को लम्बी आयु नहीं मिली थी। सन् 1794 में मात्र 48 वर्ष की उम्र में उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी यह प्रथम भाषावैज्ञानिक खोज अन्तिम भी बनकर रह गयी। उसके जीवनकाल में ही योरोप में संस्कृत के प्रति गम्भीर रुचि उत्पन्न हो गयी थी। कई संस्थाओं में इसका विधिवत अध्ययन आरम्भ हो गया। अनेक विद्वान अध्ययन के लिए स्वयं भारत आने लगे। कई अंग्रेज अफसर भारतीय विद्याओं के अध्ययन का अवसर पाने के लिए अपनी नियुक्ति भारत में करा लेते। उन्नीसवीं शताब्दी में और 20वीं शताब्दी के आरम्भ तक ऐसे विद्वानों का सिलसिला चलता रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी एक व्यक्ति ने अपनी एक खोज से अभी तक भाषा अध्ययन क्षेत्र में इतना व्यापक और दूरस्थ प्रभाव नहीं छोड़ा था और न आगे छोड़ सकने में समर्थ हुआ। इसका एक सहज कारण यह भी था कि जिन भाषाओं के आनुवंशिक संबंधों पर जोन्स ने प्रकाश डाला था वे विश्व के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, विशाल और शक्तिशाली क्षेत्रों की भाषाएँ थीं। पूर्व में असम से लेकर पश्चिम में कैलीफोर्निया तक उनका वैभव फैला हुआ था। दूसरे, इनमें कई देशों के पारस्परिक सम्बन्ध शासक और प्रजा के सम्बन्ध थे। इंग्लैंड, फ्रांस, हॉलैण्ड और पुर्तगाल के छोटे बड़े कई उपनिवेश पूर्व में थे। तीसरे, इन देशों के निवासी रंग, रूप, संस्कार, स्वभाव आदि में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। सदियों से अनेक प्रकार की जातीय दुर्भावनाएँ और पूर्वग्रह दोनों ओर व्याप्त थे जो निवर्तमान राजनीतिक, आर्थिक शोषण के कारण अधिकाधिक कटु होते जा रहे थे। जातीय दंभ और सामंती मनोवृत्ति के वातावरण में सहज, सामाजिक-सांस्कृतिक सद्भावना की कल्पना तक व्यर्थ लगती थी। ऐसे माहौल में जौन्स की—जो स्वयं ब्रिटिश साम्राज्य का अनन्य सहयोगी था—स्थापना ने समुद्र के दोनों ओर सबको चौंका दिया। यह सुनकर कि हजारों वर्ष पूर्व गोरी और काली जातियाँ कदाचित एक ही मूल जन-जाति का वंशज़ हैं कई कट्टर जातिपंथी (Racist) तंग दिमाग के अंग्रेजों ने जोन्स की भर्त्सना की। उसकी राजभक्ति पर शंका उठायी और विद्वत्समाज से अपील की कि उसकी मान्यताओं की उपेक्षा करे। किन्तु उपनिवेशवादियों का यह अभियान व्यर्थ सिद्ध हुआ। तथ्य पर आधारित सत्य को असत्य सिद्ध करने के लिए तथ्य की ही आवश्यकता होती है जो उनके पास नहीं था।

तुलनात्मक पद्धति : येनिश–भाषा की आन्तरिकता

अठारहवीं सदी के अंत तक भाषाओं की तुलनात्मक अध्ययन पद्धति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस पद्धति के द्वारा एक जर्मन भाषाविद् डी. येनिश ने भी कुछ महत्वपूर्ण शोधकार्य किये। 1794 में बर्लिन अकादमी द्वारा आयोजित एक शोध प्रतियोगिता में उसने 'पूर्णभाषा का आदर्श और योरोपीय भाषायें' नामक एक शोधपत्र प्रस्तुत किया। इसमें योरोप की मूलभूत भाषाओं की तुलना करते हुए यह दर्शाया गया कि भाषा मात्र एक वस्तु नहीं मानव जाति की बौद्धिक एवं नैतिक जीवन की अभिव्यक्ति है। भाषा आदिम काल से बोली जाती रही है किन्तु वह सदैव एक जैसी नहीं रही। मनुष्य की अभिलाषाओं, भावनाओं और सांस्कृतिक प्रगति के साथ उसमें तदनुरूप परिवर्तन होते रहे। आदिम जीवन और आदिम भाषा की रूक्षता और स्थूलता अब आधुनिक जीवन और भाषा में नहीं है। माधुर्य, सूक्ष्मता, शक्ति, स्पष्टता एवं ओज से संपन्न होना जीवित भाषा का अनिवार्य लक्षण है। यही लक्षण निरन्तर विकसनशील एवं प्रबुद्ध जनजाति का भी होता है। सफल भाषा ही पूर्ण भाषा हो सकती है और पूर्ण भाषा ही सफल भाषा बन सकती है। सफलता और पूर्णता एक दूसरे की पूरक और सापेक्ष हैं। ऐसी भाषा में मनुष्य की अनायास उठी हुई भावनात्मक आवश्यकता को पूरा करने–अर्थात् अभिव्यक्ति करने–की क्षमता होनी चाहिए। शब्द भंडार और व्याकरणिक स्पष्टता से ही यह संभव है जो वस्तुतः भाषा की समृद्धि का द्योतक है। वेदों से लेकर कालिदास और मार्कण्डेय तक संस्कृत की शब्द–शक्ति की व्यावहारिक सफलता इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि इस भाषा शक्ति में उसके बोलने वालों की सांस्कृतिक शक्ति के अनुसार क्षय और वृद्धि होती रहती है। सूर, बिहारी की मध्ययुगीन ब्रज और आज की ब्रज में इसीलिए बहुत अन्तर हो गया है।

भाषा की आन्तरिक चेतना पर विचार करने के साथ ही साथ येनिश ने उसके भौतिक रूप की भी चर्चा की है। यथा, उसका सुबोध एवं सुश्रव्य होना आवश्यक है। स्वन विषयक सहजता सफल भाषा का एक ऐसा लक्षण है जिसका सम्बन्ध बोलने वाले की स्वाभाविक अभिव्यक्ति से है। इसके बिना भाषा में ऊपर से थोपी हुई कृत्रिमता आ जाती है। अतएव भाषा के साहित्यिक प्रयोग में शब्दों की समरस आयोजना वाक्य–विन्यास की स्निग्धता का बहुत महत्व है। तथापि येनिश के मतानुसार यह आवश्यक नहीं कि गैरसाहित्यिक भाषाओं में ये गुण नहीं हो सकते। दरअसल किसी भाषा में श्रेष्ठ लेखन परम्परा का होना या न होना कई आकस्मिक घटनाओं पर निर्भर करता है। कई साहित्य विहीन भाषाएँ कई

साहित्य-समृद्ध भाषाओं से श्रेष्ठ होती हैं। मैथिली और कोंकणी में थोड़ा साहित्य रचा गया किन्तु इनकी भाषिक श्रेष्ठता बुन्देली और भोजपुरी की ही तरह असन्दिग्ध है। किसी समय जापानी, असमिया और जर्मन में भी साहित्य रचना नहीं होती थी। खड़ी बोली (हिन्दी) अद्‌भुत अभिव्यंजना शक्ति से संपन्न होते हुए भी एक शताब्दी पहले तक लेखकों द्वारा उपेक्षित रही। इस प्रकार येनिश ने जनपदीय भाषाओं और बोलियों के प्रति व्याप्त तिरस्कारपूर्ण पूर्वग्रह को दूर करने और उसकी गुणात्मक विशेषता के आधार पर प्रतिष्ठा देने की पुरजोर तकरीर की। इसका परिणाम शीघ्र ही सामने आया। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गैथिक, फारसी, चीनी और हिब्रू की भीड़ में तथाकथित 'साधारण' और 'स्थानीय' भाषाओं पर भी लोगों का ध्यान जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से भारत में भी जनप्रदाय भाषाओं पर उनके भाषाभाषी स्थानीय अध्येताओं ने शोध-कार्य शुरू कर दिया।

सम्पूर्ण अठारहवीं शताब्दी को आधुनिक भाषाविज्ञान की तैयारी का काल कहा जा सकता है। इसमें कोई बड़ी वस्तुगत उपलब्धि नहीं हुई और न उसकी अपेक्षा थी। वैज्ञानिक दृष्टि से भाषाविज्ञान के स्वतंत्र अस्तित्व पर भी अभी आस्था का समय नहीं आया था। सत्रहवीं शताब्दी की हिचक, दिशाहीनता एवं बौद्धिक शिथिलता की स्थिति से विद्वानों ने अब मुक्ति अवश्य पा ली थी। विश्व की हजारों भाषाओं के दुर्गम वन में उन्हें अब कई मार्ग नजर आने लगे थे। भाषा की प्रकृति और मानव जीवन के साथ उसके जीवंत सम्बन्धों की प्रतीति प्रतिदिन बढ़ रही थी। भाषा की उत्पत्ति पर इतना विवाद हो चुका था कि अब सब थक कर या उसकी सीमा को स्वीकार करके एकमत हो गये थे और शांत होकर उसके अन्य पक्षों पर ध्यान केन्द्रित करने लगे थे। योरोपीय विद्वानों ने इस अगाध ऊर्जा-सम्पन्न विज्ञान के विराट यज्ञ में समुद्र पार के साथियों को भी अपने साथ लेना आरम्भ कर दिया। भारत, अमरीका, चीन और अरब देशों में नवीन भाषित जागरण के स्पष्ट लक्षण दिखायी देने लगे। जैसे-जैसे योरोपीय भाषा-वैज्ञानिक मैदान का कुहासा और धूल छटने लगी वैसे-वैसे योरोपीय शिक्षा और भाषा के सीधे सम्पर्क में रहने वाले इन देशों में आधुनिक भाषा की नींव पड़ने लगी।

4

भाषा : व्यवस्था और संरचना

-रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

खंड I

भाषा, भाषिक व्यवस्था और संरचना

भाषा और भाषा-बोध

भाषा हमारे सम्प्रेषण का महत्त्वपूर्ण माध्यम और भावबोध का अन्यतम साधन है। भाषा के सहारे व्यक्ति न केवल अपने विचार व्यक्त करता है, बल्कि उसे दूसरे तक सम्प्रेपित भी करता है। सम्प्रेषण-व्यापार के संदर्भ में यह देखा जा सकता है कि इसके एक छोर पर 'सम्बोधक' होता है जो किसी 'संदेश' को भेजता है और दूसरे छोर पर 'सम्बोधित' होता है जो इस संदेश को ग्रहण करता है। सम्बोधक और सम्बोधित के सम्प्रेषण-व्यापार के माध्यम के रूप में भाषा रहती है। इस भाषा के सहारे सम्बोधक अपने अव्यक्त संदेश को व्यक्त करता है और इसी भाषा में अभिव्यक्त संदेश को अर्थ के रूप में सम्बोधित ग्रहण करता है।

अभिव्यक्ति के स्तर पर भाषा के दो रूप सम्भव हैं–(1) मौखिक और (2) लिखित। मौखिक रूप में अभिव्यक्ति का साधन ध्वनि है। सम्बोधक के रूप में वक्ता संदेश को भाषा में बाँधकर मुँह से उच्चरित करता है और सम्बोधित के रूप से श्रोता उसे सुनकर अर्थग्रहण करता है। इसके विपरीत लिखित रूप में भाषिक अभिव्यक्ति का साधन लेखन होता है। इस संदर्भ में सम्बोधक के रूप में लेखक संदेश को लिखकर व्यक्त करता है और सम्बोधित के रूप में पाठक पढ़कर उसका अर्थ समझता है।

स्पष्ट है, हम अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने और दूसरों की बात समझने के लिए भाषा का सहारा लेते हैं। न केवल हम आमने-सामने रहकर एक-दूसरे से बातचीत करते हैं, बल्कि भाषा के सहारे स्थान और समय की दूरी को लाँघकर अपनी बात दूसरों तक

पहुँचाने में समर्थ भी होते हैं। हमारे जीवन के विभिन्न क्रिया-कलाप भाषा के सहारे इस प्रकार बँधे होते हैं कि उसके बिना हम सामाजिक रह ही नहीं सकते। भाषा के सम्प्रेषण-व्यापार के सहारे ही व्यक्ति अपने भाषायी समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, उनके साथ विचार-विनिमय करता है, और एक-दूसरे का सहयोग प्राप्त करता है।

भाषा सम्प्रेषण का माध्यम ही नहीं, अपितु हमारे भावबोध का साधन भी है। हम सोचते हैं तो भाषा के सहारे और किसी बात को समझते-समझाते हैं तो भी भाषा के सहारे। हमारे स्मृतिकोश और चिंतन-प्रक्रिया का आधार भाषा ही है। मानव-मन की सृजनात्क शक्ति की अनुपम देन के रूप में यह भाषा ही वाह्य जगत और हमारे भावबोध के बीच सेतु का काम करती है। यही कारण है कि भाषा की व्याकरणिक कोटियों के रूप में जिस लिंग (पुल्लिग और स्त्रीलिंग), वचन (एकवचन और बहुवचन), काल (वर्तमान, भूत और भविष्य) आदि की बात की जाती है, वे भौतिक जगत के स्वीकृत तथ्यों से भिन्न होते हैं। इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि भौतिक जगत का लिंग (सेक्स), व्याकरणिक लिंग (जेंडर) नहीं होता, अन्यथा निर्जीव पदार्थों को संकेतित करने वाले शब्दों को हम पुल्लिंग या स्त्रीलिंग के रूप में ग्रहण नहीं करते और न एक ही भौतिक वस्तु को संकेतित करने वाले दो पर्यायवाची शब्दों में हम लिंगभेद की कल्पना करते।

इसी प्रकार वाह्य जगत के भौतिक धरातल पर वचन की दृष्टि से 'एक' होकर भी व्यक्ति भाषा-प्रयोग के संदर्भ में 'बहुवचन' हो सकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान दें

	भाषा-प्रयोग	भौतिक धरातल	भाषिक सन्दर्भ
1.	तू कहाँ जा रहा है?	एक व्यक्ति	एकवचन
2.	(क) तुम कहाँ जा रहे हो?	एक व्यक्ति	बहुवचन
	(ख) आप कहाँ जा रहे हैं?	एक व्यक्ति	बहुवचन
3.	(क) तुम लोग कहाँ जा रहे हो?	एक से अधिक व्यक्ति	बहुवचन
	(ख) आप लोग कहाँ जा रहे हैं?	एक से अधिक व्यक्ति	बहुवचन

भाषा-प्रयोग के 2 (क) और (ख) वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक धरातल पर संख्या में जो 'एक' है वह भाषा-बोध के संदर्भ में बहुवचन है। भाषाबोध के संदर्भ में 'वचन' मात्र संख्या को व्यक्त नहीं करता। वह तो वक्ता के सामाजिक बोध का भी संवाहक है। किसे हम अपने से नीचे या ऊपर स्तर का समझते हैं; किसको हम आत्मीय और घनिष्ठ मानते हैं और किसे अपरिचित और अजनबी; किसको हम आदर की दृष्टि से देखते हैं और किसे तुच्छ समझते हैं; कौन सा पेशा हमें उच्च वर्ग के नज़दीक ले जाता है और कौन सा निम्नवर्ग की ओर—ये सब संसार को देखने की दृष्टि देते हैं। इस दृष्टि पर हमारा वचनबोध आधारित रहता है। इसीलिए हम एक ओर कहते है—'अनुराधा आई है' तो दूसरी ओर बोलते हैं—'अनुराधा जी आई हैं'। इसी प्रकार कहा जाता है कि 'धोबी आज आया था' पर उसके साथ बोला जाता है—'प्रोफ़ेसर आज आए थे'। कहते हैं—'बड़े भाई आज आए थे' पर छोटों के संदर्भ में बोलते है—छोटा भाई आज आया था'।

भाषा के सहारे जिस प्रकार हम भौतिक धरातल के लिंग और वचन को अपने विचार-बोध में रूपांतरित करते हैं, उसी प्रकार भौतिक 'समय' को भी हम व्याकरणिक 'काल' में बदल लेते हैं। यही कारण है कि एक ओर विगत घटना को हम भूतकाल से जोड़ सकते हैं और वर्तमान काल से भी, तथा दूसरी ओर भावी घटनाओं को भविष्यकाल के संदर्भ में देख सकते हैं और उसे वर्तमान काल की सीमा में भी खींच सकते हैं। उदाहरण के लिए नीचे दिए वाक्यों पर ध्यान दें

भाषा-प्रयोग	भौतिक धरातल	भाषिक संदर्भ
1. (क) कालिदास ने शकुंतला की रचना की थी।	विगत	भूतकाल
(क) कालिदास ने शकुंतला की रचना की है।	विगत	वर्तमानकाल
2. (क) मोहन एक साल बाद विदेश जाएगा।	भावी	भविष्यकाल
(ख) मोहन एक साल बाद विदेश जा रहा है।	भावी	वर्तमानकाल

ऊपर दिए गए तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लिंग, वचन, काल आदि विभिन्न व्याकरिणक कोटियों का आधार हमारा भावबोध है। वे भौतिक धरातल की इकाई न होकर भाषिक स्तर की संकल्पनात्मक इकाइयाँ हैं।

भाषा और भाषाज्ञान

सम्प्रेषण की आवश्यकता के कारण हम कभी वक्ता या लेखक की भूमिका निभाते हैं और कभी श्रोता या पाठक की। बातचीत के दौरान हम एक समय पर वक्ता के रूप में अपनी बात दूसरे से कहते हैं और दूसरे समय श्रोता के रूप में दूसरे की बात सुनते और समझते हैं। हमारा भाषा-व्यवहार वक्ता/लेखक और श्रोता/पाठक की दो भूमिकाओं के बीच सिद्ध होता चलता है। इन दो भूमिकाओं के साथ सम्प्रेषण तभी सम्भव हो पाता है जब व्यवहार में आने वाली भाषा का ज्ञान वक्ता/लेखक और श्रोता/पाठक, दोनों को ही हो।

यह जरूरी है कि वक्ता और श्रोता के भाषाज्ञान की एक समान आधारभूमि हो। वक्ता के रूप में कोई बात कहने के लिए जिस भाषाज्ञान को व्यक्ति व्यवहार में लाता है और उसकी जानकारी श्रोता को न होगी, तो वह कही हुई बात को समझ नहीं पाएगा। उदाहरण के लिए अगर वक्ता के भाषाज्ञान की आधारभूमि 'हिन्दी' है और श्रोता की 'रूसी' या 'फ्रेंच', तो वक्ता के भाषाज्ञान के आधार पर कहे गए हिन्दी के वाक्य का अर्थग्रहण श्रोता को नहीं हो पाएगा। विचार-विनियम की कड़ी कहीं टूट न जाए, इसके लिए यह आवश्यक है कि वक्ता और श्रोता के बीच कुछ विभिन्नताओं के बावजूद भाषाज्ञान की एक समान आधारभूमि हो।

अपने भाषाज्ञान के आधार पर ही व्यक्ति वक्ता और श्रोता के रूप में विविध संदर्भों में भाषा का प्रयोग करने में सक्षम होता है। भाषा-व्यवहार के समय भले ही व्यक्ति अपने भाषाज्ञान के प्रति सचेत न हो और अपनी भाषा-क्षमता के बारे में नियम के रूप में कुछ भी कहने में समर्थ न हो, पर अज्ञात रूप से भाषा के नियमों का वह सही प्रयोग जरूर करता है। अगर वह ऐसा नहीं करता होता, तो वह अपनी भाषा में शुद्ध वाक्य नहीं बोल पाता या दूसरों द्वारा कही गई बात को सही ढंग से समझ नहीं पाता। भाषाज्ञान की प्रकृति भले ही अमूर्त हो और भाषा-क्षमता भले ही अचेतन स्तर पर हो, पर व्यक्ति अग्रलिखित संदर्भों में उसकी सत्ता का परिचय अवश्य देता है।

(1) **मान्य और अमान्य वाक्यों का भेद**–हर व्यक्ति अपनी भाषा के उन वाक्यों को पहचानने में सक्षम है जो मान्य होते हैं। वाक्य, शब्दों की कड़ी के रूप में बोले जाते हैं। नीचे दिए 'क' वाक्य को तो वह स्वीकार कर लेता है पर 'ख' वाक्य में प्रयुक्त शब्दों की कड़ी को अपनी भाषा का वाक्य नहीं मानता (यद्यपि 'ख' में भी वे ही शब्द हैं जो 'क' में हैं) –

(क) लड़के ने मोहन को किताब दे दी थी।
(ख) ने थी को लड़के दे मोहन दी किताब।

कहने का तात्पर्य यह है कि वाक्य, शब्दों की कड़ी तो होता है पर शब्दों की हर कड़ी वाक्य नहीं होती। हर व्यक्ति न केवल यह बात जानता है, बल्कि अपने भाषाज्ञान के आधार पर मान्य और अमान्य वाक्यों की पहचान की क्षमता भी रखता है।

(2) **'कौन', 'क्या', आदि के रूप में अर्थ**–ग्रहण-शब्दों की कड़ी के रूप में बोले गए वाक्य ऊपर से भले ही एक जैसे दिखते हों, पर व्यक्ति ऊपर से समान दिखाई देने वाले वाक्यों के अर्थभेद को पहचानने की क्षमता रखता है। उदाहरण के लिए नीचे दिए गए वाक्यों को ही लें-

1. (क) मोहन शीला को बेवकूफ़ समझता है।
   (ख) मोहन शीला को बेवकूफ़ लगता है।

2. (क) श्याम ने सीता को कमरा साफ़ करने के लिए कह दिया है।
   (ख) श्याम ने सीता को कमरा साफ़ करने के लिए वचन दिया है।

अगर (1) और (2) के (क) और (ख) वाक्यों की बुनावट पर ध्यान दें, तो शब्दों की कड़ी के रूप में वे समान हैं, पर अगर हम (1) और (2) वाक्य के संदर्भ में पूछें कि 'बेवकूफ़ कौन व्यक्ति है', और 'कमरा किस व्यक्ति को साफ़ करना है', तो उसके जवाब भिन्न-भिन्न होंगे। 1 (क) में बेवकूफ़, शीला ठहरती है जबकि 1 (ख) में मोहन। इसी प्रकार 2 (क) में कमरा सीता को साफ़ करना चाहिए, जबकि 2 (ख) में श्याम को। यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति अपने भाषाज्ञान के आधार पर शब्दों की समान कड़ी के रूप में प्रयुक्त वाक्यों के अर्थभेद पहचानने की क्षमता रखता है।

(3) **संदिग्धार्थ वाक्यों का अर्थभेद**–वाक्य, अर्थ और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई होते हैं। पर भाषा में ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जो अभिव्यक्ति के धरातल पर 'एक' होते हैं पर अर्थ के स्तर पर एक से अधिक। उदाहरण के लिए अगर हम कहें–'लड़के ने दौड़ते हुए शेर को मारा', तो अभिव्यक्ति के धरातल पर वाक्य एक होते हुए भी अर्थ के धरातल पर वह दो है जिसका पता इस सवाल से लग सकता है कि 'मारने के समय दौड़ कौन रहा था?' भाषाज्ञान के आधार पर ऐसे संदिग्धार्थ वाक्यों का अर्थभेद संदर्भ के अनुसार करने की क्षमता व्यक्ति रखता है जिसके सहारे एक संदर्भ में वह यह कह सकता है–'लड़के ने जिस समय शेर को मारा, शेर दौड़ रहा था' और दूसरे संदर्भ में वह यह बोल सकता है–'लड़के ने जिस समय शेर को मारा, लड़का दौड़ रहा था।''

(4) **पर्यायवाची वाक्यों का शैली-भेद**–एक ही बात को हम दो या दो से अधिक ढंग से बोल सकते हैं। कभी हम जिसे 'कमल' कहते हैं उसी को 'जलज' या 'नीरज' कहकर भी संकेतित करते हैं। इसी प्रकार हम एक समय बोलते हैं–'आज मैंने एक बहुत मोटा उपन्यास खत्म किया' और दूसरे समय बोलते हैं–'आज मैने जो उपन्यास खत्म किया वह बहुत मोटा था।' अपने भाषाज्ञान के आधार पर व्यक्ति ऐसे पर्यायवाची कथन को पहचानने की क्षमता रखता है, और इसी कारण वह यह कह सकता है कि बात तो वही कही जा रही है, केवल कहने के ढंग में अंतर है।

(5) **अपूर्ण अभिव्यक्ति का अर्थग्रहण**–वाक्य के कुछ अंश को बोलते समय हम अपूर्ण छोड़ देते हैं, फिर भी श्रोता अपने भाषाज्ञान के आधार पर कथन के मन्तव्य को समझ लेता है। हम बोलते हैं–'मोहन किताब पढ़ रहा है और शीला भी', 'लड़का जैसा अच्छा काम कर रहा है वैसा ही लड़की भी'। अपने में 'शीला भी' या 'वैसा ही लड़की भी' अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण हैं पर अपने पूर्ववर्ती शब्दों की कड़ी से जुड़कर एक सार्थक अंश बन जाते हैं। अपने भाषाज्ञान के आधार पर श्रोता इन अपूर्ण अंशों के अर्थ को सही ढंग से ग्रहण कर लेने में समर्थ है।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी भाषा के नियमों को सचेतन ढंग से जाने या न जाने, अपने भाषाव्यवहार से अचेतन रूप से उसका उपयोग अवश्य करता है। अपने इसी भाषाज्ञान के आधार पर वक्ता की भूमिका में वह शब्दों की कड़ी के रूप में व्यवस्थित वाक्य बोलता है और श्रोता की भूमिका में अर्थग्रहण करने में समर्थ होता है।

बोलने के समय वह अर्थ से अभिव्यक्ति की ओर चलता है और सुनने के समय अभिव्यक्ति से अर्थ की ओर। बातचीत करते समय कभी वह बोलता है और कभी सुनता है। इस प्रकार वह अर्थ और अभिव्यक्ति तथा अभिव्यक्ति और अर्थ के सम्बन्धों की दोनों दिशाओं में अपने भाषाज्ञान का उपयोग करता है। अचेतन भाव से वह दोनों दिशाओं में अर्थ और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों का निर्वाह करता पाया जाता है। अचेतन मन में सिद्ध इस सम्बन्ध की जानकारी पाना ही वस्तुत: उस भाषा की व्यवस्था को जानना और समझना है।

भाषा-व्यवस्था और भाषिक संरचना

भाषा, केवल शब्दों का जमघंट नहीं। वह केवल शब्दों की कड़ी भी नहीं। वह तो सार्थक शब्दों की एक व्यवस्थित कड़ी है। इसीलिए पहले यह संकेत दिया गया कि भाषा या वाक्य, शब्दों की कड़ी तो होता है पर शब्दों की हर कड़ी वाक्य का दर्जा नहीं पाती। यहाँ यह भी जोड़ देना जरूरी है कि यह व्यवस्था, भाषासापेक्ष होती है और हर व्यवस्था, कुछेक नियमों की अपेक्षा रखती है।

भाषासापेक्ष कहने का मतलब केवल इतना है कि हर भाषा अपने ढंग से शब्दों को कड़ी के रूप में पिरोती है। हिन्दी में अगर हम कर्ता + कर्म + क्रिया के क्रम का निर्वाह करते हुए बोलते हैं-'लड़का किताब पढ़ रहा है' तो अंग्रेज़ी बोलने वाला एक दूसरे क्रम को ही अपनाता है—कर्ता + क्रिया + कर्म। इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि अगर कहीं व्यवस्था है तो उसके पीछे कुछ नियम भी अवश्य होंगे। ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि शब्दक्रम का नियम हिन्दी में 'कर्म' को 'क्रिया' के पहले रखने का है, जबकि अंग्रेज़ी में उसे 'क्रिया' के बाद।

ये व्यवस्थापरक नियम ही भाषित संरचना और उस संरचना के आधार पर बने वाक्यों की अभिरचना (पैटर्न) का निर्माण करते हैं। भाषाज्ञान का सम्बन्ध व्यवस्थापरक नियमों के आधार पर वाक्यसृजन की क्षमता से रहता है। भाषाज्ञान से तात्पर्य वाक्यों का सूचीपत्र प्रस्तुत करना नहीं होता। ऐसा सम्भव भी नहीं है, क्योंकि किसी भाषा के संभाव्य वाक्य संख्यातीत होते हैं और किसी भी भाषा के सबसे लंबे वाक्य को बोला या लिखा जाना संभव नहीं। यह हमारी भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का प्रमाण है कि हम नए वाक्यों की रचना करने में समर्थ हैं। व्यवस्थापरक नियमों की सर्जनात्मकता और नए वाक्य रचने की क्षमता भाषा को एक खुला आयाम देती है।

भाषा अपनी प्रकृति में कितनी भी खुली और व्यापक क्यों न हो, पर उसके व्यवस्थापरक नियम और उन नियमों के आधार पर बनने वाले वाक्यों की अभिरचना अपनी संख्या में सीमित होती है। व्यक्ति इन सीमित नियमों और अभिरचना के आधार पर ही भाषा की अगाध सम्भावना को साधता है, संख्यातीत वाक्यों को समझने की शक्ति रखता है और नए-नए वाक्यों को बोलने में समर्थ होता है।

खंड 2

भाषिक व्यवस्था और संरचनात्मक स्तर

भाषा, कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई है। वह न तो केवल कथ्य है और न ही केवल अभिव्यक्ति। उदाहरण के लिए हम 'कमल' शब्द पर ध्यान दें। यह शब्द एक तरफ़ तथ्य के रूप में 'कमल' फूल के जातिगत अर्थ का बोध कराता है और दूसरी तरफ़ अभिव्यक्ति के रूप में मौखिक या लिखित रूप ग्रहण करता है। कथ्य से रहित अभिव्यक्ति निरर्थक होती है और अभिव्यक्ति से रहित कथ्य असम्प्रेषणीय। अत: कहा जा सकता है कि भाषा के भीतर कथ्य और अभिव्यक्ति एक सिक्के के दो पहलू की तरह आपस में सम्बद्ध रहते हैं। कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई के रूप में जब भाषा का अध्ययन किया जाता है, तब उसके तीन निश्चित पक्ष हमारे सामने उभरते हैं–

(i) अभिव्यक्ति पक्ष,
(ii) कथ्य पक्ष, और
(iii) अभिव्यक्ति और कथ्य के सम्बन्धों का पक्ष।

(i) अभिव्यक्ति पक्ष

अभिव्यक्ति पक्ष से तात्पर्य उस माध्यम से है जो कथ्य को व्यक्त रूप देने का साधन बनता है। भाषा व्यवहार के संदर्भ में मूलत: यह माध्यम या तो उच्चारण का रूप लेता है अथवा लेखन का। इसलिए भाषा के दो अभिव्यक्त रूप देखने में आते हैं–मौखिक रूप और लिखित रूप। भाषा का मौखिक रूप माध्यम-सामग्री के रूप में ध्वनि-प्रतीकों को

को स्वीकार करता है। उच्चारण करते समय हम सार्थक ध्वनि-प्रतीकों को जन्म देते हैं और लेखन के समय दृश्य प्रतीकों को। उदाहरण के लिए अगर हम 'कमल' शब्द के कथ्य को अभिव्यक्त रूप देना चाहें, तब या तो हम ध्वनि-प्रतीकों, यथा–'क् + अ + म् + अ + ल्' का सहारा ले सकते हैं अथवा दृश्य चिह्नों का, यथा–'क + म + ल'। यहाँ इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि ये दोनों माध्यम–भाषा का मौखिक रूप और उसका लिखित रूप अथवा ध्वनि-प्रतीक संयोग और लिपि-प्रतीक–संयोग-एक ही भाषिक इकाई के दो अभिव्यक्त रूप हैं। इसलिए माध्यम भेद से भाषिक इकाइयों की स्वयं की प्रकृति नहीं बदला करती। हम शब्द या वाक्य जैसी सार्थक भाषिक इकाइयों को चाहे बोलकर ध्वनि-माध्यम से अभिव्यक्त करें। अथवा लिखकर उन्हें लिपि-माध्यम से, अपनी मूल प्रकृति में वे शब्द या वाक्य एक ही माने जाएँगे।

(ii) कथ्य पक्ष

कथ्य पक्ष से तात्पर्य भाषित इकाइयों के अर्थ पक्ष से है। अर्थ हमेशा एक सामाजिक एवं संकल्पनात्मक सत्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के लिए 'कमल' शब्द के संकेतार्थ पर ही ध्यान दें। 'कमल' कहने से जिस कथ्य का बोध होता है, वह उसकी जातीय संकल्पना ही है। यह शब्द, किसी कमल विशेष की ओर संकेत नहीं करता। अत: इसके द्वारा हमें लाल, नीले, और सफ़ेद आदि सभी प्रकार के कमल के फूल का अंतर्भाव मिलता है। कहा जा सकता है कि कथ्य पक्ष का सम्बन्ध बाह्य जगत की संकेतित वस्तु से सीधे न होकर उसके संकल्पनात्मक रूप से रहता है।

कथ्य पक्ष एक ओर भाषित इकाइयों के अर्थ से जुड़ा होता है और दूसरी ओर संदर्भ से। साधारण से साधारण वाक्य में निहित कथ्य बिना संदर्भ के स्पष्ट नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए 'बैठ' शब्द को ही लें। नीचे दिए गए वाक्यों में इसका अर्थ तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक हम इस शब्द के प्रयोग के संदर्भों पर ध्यान नहीं देते–

(1) वह कुर्सी पर बैठ गया।

(2) बीमारी की बात सुनकर उसका दिल बैठ गया।

(3) बोलते-बोलते उसका गला बैठ गया।

(4) उसकी आँखे बैठ गईं।

(5) उसका धन्धा बैठ गया।

(6) उसका मकान बैठ गया।

(7) हारने के डर से वह चुनाव में बैठ गया।

इसी प्रकार अगर हम वाक्य के धरातल पर यह कहें–'मोहन ने पिताजी को पत्र नहीं लिखा,' और कथ्य के संदर्भ में यह प्रश्न करें कि इस वाक्य में निषेध किसका है–क्रिया अर्थात् लिखने का अथवा संज्ञा पद पिता जी का, तब उचित उत्तर के लिए हमें संदर्भ का सहारा लेना पड़ता है। वास्तव में यह अनेकार्थी वाक्य है जो अर्थ की स्पष्टता के लिए संदर्भ की अपेक्षा रखता है, यथा–

(1) मोहन ने पिता जी को पत्र नहीं लिखा (लेकिन कल वह अवश्य लिख देगा)।
(2) मोहन ने पिता जी को पत्र नहीं लिखा (बल्कि चाचा जी को लिखा है)।

संदर्भ के दो पक्ष हैं–**भाषेतर** और **भाषिक। भाषेतर पक्ष** का सम्बन्ध उन सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों में रहता है, जो भाषाव्यवहार को नियंत्रित तो करती हैं, परंतु भाषा के भीतर की अपनी वस्तु नहीं होतीं। उदाहरण के लिए नीचे दिए गए तीन वाक्य-प्रयोगों पर ध्यान दें–

1. तू जा।
2. तुम जाओ।
3. आप जाइए।

जहाँ तक कथ्य का सम्बन्ध है, वह इन तीनों वाक्यों में समान है। उद्देश्य के रूप में मध्यम पुरुष सर्वनाम, विधेय के रूप में 'जाना' क्रिया और वृत्ति के रूप में 'आज्ञा' का विधान, इन तीनों को ही वाक्यों में हम पाते हैं। परन्तु इन तीनों वाक्यों का भाषिक कथ्य एक होने पर भी ये वाक्य समानार्थी या पर्याय न होकर भिन्न-भिन्न हैं। इसका कारण यह भी है कि भाषेतर संदर्भ में आज्ञा देने वाले वक्ता और उसके द्वारा सम्बोधित श्रोता के सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति इनमें एक-सी नहीं है। वाक्य (1) में वक्ता-श्रोता के सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति हमें यह सूचना देती है कि प्रसंग मालिक-नौकर अथवा दादा-पोते का हो सकता है, क्योंकि यहाँ वक्ता निश्चित रूप से श्रोता की तुलना में उच्च सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठित है। वाक्य (2) का प्रसंग दो मित्रों अथवा सहयोगियों के वार्तालाप का

हो सकता है; अर्थात् वक्ता-श्रोता दोनों ही समान सामाजिक स्तर से सम्बद्ध हैं। वाक्य (3) में भी भाषेतर संदर्भ ही हमें जानकारी देता है कि वक्ता-श्रोता के दायित्व का निर्वाह यहाँ नौकर-मालिक अथवा पोता-दादा कर रहे हैं अर्थात् श्रोता की तुलना में वक्ता निम्न सामाजिक स्तर का है।

कथ्य के परिप्रेक्ष्य में **भाषिक संदर्भ** से तात्पर्य भाषिक सहप्रयोग से है। भाषा की हर इकाई उसकी हर दूसरी इकाई के साथ प्रयुक्त नहीं होती। हम कहते हैं–'लौह पुरुष', परन्तु भाषिक प्रयोगों का संदर्भ हमें 'लौह महिला' के प्रयोग की अनुमति नहीं देता। इसी प्रकार हम बोलते हैं–'खाना खाना', लेकिन 'भोजन' और 'जलपान' के संदर्भ में हम कहते हैं– 'भोजन करना' और 'जलपान करना'। भाषिक संदर्भ हमें 'खाना करना', 'भोजन खाना' और 'जलपान खाना' जैसे प्रयोगों की अनुमति या छूट नहीं देता। (अगर हम 'खाना करना' प्रयोग को 'दावत देना' अर्थ में स्वीकार्य अथवा मान्य मानें, तब यहाँ उसका अर्थ बदल जाता है।)

(ii) कथ्य और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों का पक्ष

यह पक्ष मूलत: भाषा के रूप (संरचना) का क्षेत्र है। यह कहा जा सकता है कि भाषा अपनी मूल प्रकृति में शाब्दिक इकाइयों के बीच सम्बन्धों की व्यवस्था है और व्याकरण, विभिन्न स्तरों पर इन सम्बन्धों की व्यवस्था का अध्ययन करता है। एक दूसरे संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भाषा में कथ्य और अभिव्यक्ति की एकता बनी रहती है और व्याकरण, सम्बन्धों के रूप में पाई जाने वाली एकता का अध्ययन करता है। अगर हम भाषा की एक सार्थक इकाई 'वाक्य' को लें, तब हमें उसके दो स्पष्ट पक्ष दिखाई पड़ते हैं–(क) शब्द और (ख) शब्द-सम्बन्धों की व्यवस्था अर्थात् व्याकरण। उदाहरण के लिए इस वाक्य पर ध्यान दें–'लड़के ने चिट्ठी लिखी'। इस वाक्य में तीन शब्द हैं–'लड़का', 'चिट्ठी' और 'लिखना'। जिस व्याकरणिक व्यवस्था के आधार पर इन शब्दों में सम्बन्ध बना, उसका रूप है–'कर्ता + कर्म + क्रिया'। इसी व्यवस्था के संदर्भ में 'लड़का', 'लिखना' शब्दों का रूप-परिवर्तन हुआ है, यथा–'लड़के ने' और 'लिखी'।

ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि रूप या संरचना का एक स्तर शब्द और शब्द-समूह का है और दूसरा स्तर वाक्य-संरचना और व्याकरणिक व्यवस्था का है। इन्हें हम भाषिक इकाइयों से सम्बद्ध संरचना के स्तर कह सकते हैं। संरचना और व्यवस्था के दो अन्य संदर्भ

हैं। पहले संदर्भ का सम्बन्ध अभिव्यक्ति-माध्यम की संरचनात्मक व्यवस्था से है। इसे हम अभिव्यक्ति-माध्यम का स्तर कह सकते हैं। जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है, इसके दो पक्ष हैं—मौखिक भाषारूप से सम्बद्ध ध्वनि-व्यवस्था का स्तर और लिखित भाषारूप से सम्बद्ध वर्ण (लेखन)-व्यवस्था का स्तर। दूसरे संदर्भ का सम्बन्ध सम्प्रेष्य (कथ्य) की संरचनात्मक व्यवस्था से है। सम्प्रेष्य कथ्य, भाषा के जिस स्तर की अपेक्षा रखता है उसे 'अर्थ' की संज्ञा दी जा सकती है।

स्पष्ट है कि कथ्य और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों की व्यवस्था के निम्नलिखित तीन निश्चित संदर्भ और चार निर्धारित स्तर हैं।

भाषा के तीन संदर्भ-

(1) अभिव्यक्ति/माध्यम का संदर्भ
(2) भाषित रूप का संदर्भ
(3) सम्प्रेष्य/कथ्य का संदर्भ

भाषिक व्यवस्था के चार स्तर-

(1) ध्वनि/लिपि-व्यवस्था का स्तर,
(2) शब्द और शब्द-संरचना का स्तर,
(3) वाक्य और वाक्य-संरचना का स्तर,
(4) अर्थ-व्यवस्था का स्तर।

भाषा अध्ययन के इन तीनों संदर्भों एवं व्यवस्था से सम्बद्ध चार स्तरों को हम निम्नलिखित चित्र द्वारा समझ सकते हैं—

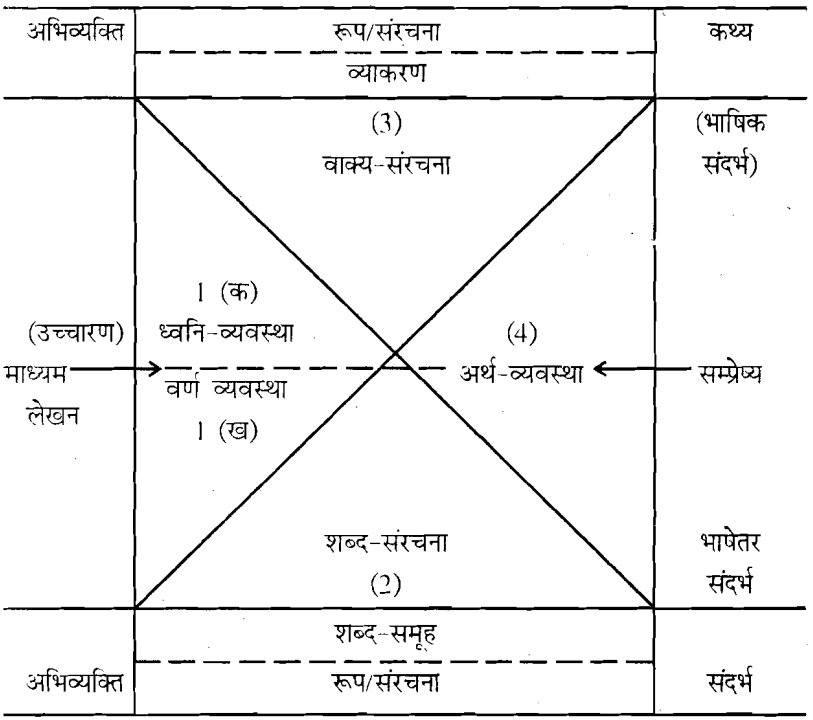

चित्र : 1

कुछ उदाहरणों द्वारा हम इन विभिन्न स्तरों पर पाई जाने वाली भाषिक इकाइयों के बीच सम्बन्धों की व्यवस्था की प्रकृति को स्पष्ट कर सकते हैं। **अभिव्यक्ति-माध्यम के स्तर पर** 'कलश' शब्द को ही लें। अगर हम इसके ध्वनि-प्रतीकों पर ध्यान दें तो हमें एक निश्चित क्रम का निर्वाह मिलता है, यथा–'क् + अ + ल् + अ + श'। साथ ही प्रतीक-चिह्न के रूप में हमें निश्चित ध्वनियों का चयन भी देखने को मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतीकों के चयन में हमें सबसे पहले 'क' और उसके बाद 'ल' और सबसे अंत में 'श' की स्थिति दिखाई देती है। ध्वनियों के इस क्रम को बदलने पर अभिव्यक्ति भी बदल जाती है। वह या तो 'शक्ल' के रूप में एक दूसरा ही शब्द बन जाती है अथवा 'लशक, शलक, कशल' के रूप में निरर्थक हो जाती है। इसी प्रकार 'कलश' शब्द में आए 'क + ल + श' ध्वनि/लिपि-प्रतीकों में से किसी एक को भी अगर

हम किसी दूसरे ध्वनि/लिपि-प्रतीक द्वारा परिवर्तित करते हैं, तब भी अभिव्यक्ति बदल जाती है। अंतिम 'श' ध्वनि-प्रतीक को यदि हम 'म' अथवा 'ह' द्वारा बदलें तो हमें 'कलम' और 'कलह' के रूप में सार्थक लेकिन भिन्न शब्द मिलते हैं। प्रतीकों का परिवर्तन अभिव्यक्ति को निरर्थक भी बना देता है, यथा–आदि 'क' प्रतीक के स्थान पर 'च, त, या प' रखने पर क्रमशः प्राप्त 'चलश, तलश, या पलश' शब्द; मध्य में आए 'ल' ध्वनि-प्रतीक के स्थान पर 'र' अथवा 'ब' रखने पर क्रमशः प्राप्त 'करश, कवश' शब्द; अत्य 'श' के स्थान पर 'ब' या 'न' रखने पर क्रमशः प्राप्त 'कलब' कलन' शब्द। ये सभी अभिव्यक्तियाँ निरर्थक कहलाएँगी। स्पष्ट है, अभिव्यक्ति-स्तर पर व्यवस्था मुख्यतः दो पक्षों को अपने भीतर समेटती है–(1) ध्वनि/लिपि-प्रतीकों का चयन और (2) ध्वनि/लिपि-प्रतीकों का क्रमिक संयोजन।

शब्द-स्तर की इकाइयों के बीच पाई जाने वाली व्यवस्था के संदर्भ में भी यही स्थिति देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए हम 'सम्मानित' या 'अशुद्धता' शब्दों को ही लें यह कहा जा सकता है कि सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में इनके तीन सार्थक अंश–प्रत्यय + मूल शब्द + प्रत्यय-जुड़े हुए हैं। पूर्वप्रत्यय के रूप में 'सम्' अथवा 'अ'; मूल शब्द के रूप में 'मान' अथवा 'शुद्ध' तथा प्रत्यय के रूप में 'इत' अथवा 'ता', यथा–सम् + मान + इत अथवा अ + शुद्ध + ता। इन शब्दों में आए हुए पूर्व प्रत्यय, मूल शब्द और प्रत्यय के क्रम को अगर हम बदलकर लिखें, तो शब्द के धरातल पर वह निरर्थक हो जाता है, यथा–'इतमानसम्'सम्इतमान, मानसमइत', और 'ताशुद्धअ, अताशुद्ध, शुद्धताअ'। इसी प्रकार अगर हम 'सम्' को 'अप' पूर्व प्रत्यय से परिवर्तित करें तो हमें दूसरा ही शब्द 'अपमानित' मिलेगा। यह देखा जा सकता है कि शब्द के सार्थक अंश के क्रम में परिवर्तन लाने अथवा उनके स्थानांतरण से या तो शब्द निरर्थक हो जाते हैं अथवा उससे भिन्न दूसरे शब्द बन जाते हैं।

वाक्य-स्तर पर भी इकाइयों की व्यवस्था-सम्बन्धी यही स्थिति देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए–'मोहन ने सोहन को किताब दी' वाक्य को ले सकते हैं। इस वाक्य में हिंदी के व्याकरण से अनुमोदित सम्बन्धों की व्यवस्था दिखाई देती है, अतः यह हिंदी का स्वीकृत व्याकरण-सम्मत वाक्य है। इस वाक्य की शाब्दिक इकाइयों का क्रम बदलकर अलग हम लिखें–'दी ने को सोहन लौटा किताब मोहन' तो शाब्दिक इकाइयाँ वही रहने पर भी वाक्य निरर्थक हो जाता है, क्योंकि इकाइयों के बीच की व्यवस्था के

नियम का पालन यहाँ नहीं है। इसी तरह, इस वाक्य में अगर हम 'मोहन' और 'सोहन' को क्रमशः स्थानांतरित कर दें, तो सम्प्रेप्य कथ्य बदल जाता है, यथा–'सोहन ने मोहन को किताब दी।' यहाँ सोहन गौण कर्म के स्थान पर कर्त्ता बन गया है, जिसके कारण अर्थ में परिवर्तन आ गया है।

अर्थ के स्तर पर भी व्यवस्थापक नियम देखे जा सकते हैं। अभिव्यक्ति एवं वाक्य-रचना की दृष्टि से वाक्य शुद्ध हो सकता है पर यह सम्भव है कि अर्थ-विसंगति के कारण वह वाक्य अमान्य हो। उदाहरण के लिए हम इस उक्ति को ही लें–'वह आग से सींचता है'। यह वाक्य, अभिव्यक्ति तथा व्याकरण की दृष्टि से संगत एवं शुद्ध होने पर भी अर्थ की दृष्टि से विसंगतिपूर्ण है। वास्तव में 'सींचना' क्रिया और 'आग' के बीच अर्थ-संगति न होने से यहाँ कथ्य विसंगतिपूर्ण हो गया है। इसी प्रकार निम्नलिखित प्रयोग में भी अर्थ की विसंगति स्पष्ट है–'उसने आज वह घड़ा फोड़ दिया, जिसे कल उसे बनाना है।' अर्थ की विसंगति का कारण यहाँ मुख्य उपवाक्य (उसने आज वह घड़ा फोड़ दिया) और आश्रित उपवाक्य (जिसे कल उसे बनाना है) के बीच अर्थ-सम्बन्धों की अव्यवस्था है, क्योंकि हम यह कह सकते हैं–'उसने आज वह घड़ा फोड़ दिया जिसे कल उसे बेचना है।' ध्यान देने की बात है कि इन मुख्य और आश्रित उपवाक्यों के बीच तर्कजन्य कार्य-कारण सम्बन्धी व्यवस्था का निर्वाह हमें दूसरे वाक्य में देखने को मिलता है, पर वाक्य-रचना की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी ऐसा निर्वाह पहले वाक्य में नहीं मिलता।

कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई के रूप में भाषा का अध्ययन करते समय हमें इसके विभिन्न स्तरों पर व्यवस्थापरक नियमों को ध्यान में रखना चाहिए। ये व्यवस्थापरक नियम ही भाषिक संरचना का निर्माण करते हैं।

खंड 3

भाषा और भाषिक संरचना

भाषा-अध्ययन के दो संदर्भ हैं–प्रयोजनपरक और संरचनापरक। प्रयोजनपरक संदर्भ के विषय में कहा जा सकता है कि भाषा, सम्प्रेष्ण का एक अन्यतम उदाहरण है। भाषा के सहारे व्यक्ति न केवल अपने विचार को व्यक्त करता है बल्कि उसे दूसरे तक सम्प्रेषित

भी करता है। सम्प्रेषण-व्यापार के संदर्भ में यह देखा जा सकता है कि इसके एक छोर पर वक्ता (लेखक) होता है जो किसी संदेश विशेष को भेजता है और दूसरे छोर पर श्रोता (पाठक) रहता है जो इस संदेश को ग्रहण करता है। वक्ता और श्रोता के संदेश की पृष्ठभूमि में भाषा रहती है। इसी भाषा के सहारे वक्ता अपने अव्यक्त संदेश को व्यक्त करता है और भाषा में इसी अभिव्यक्ति संदेश को श्रोता सुनकर अर्थ के रूप में ग्रहण करता है। अगर अभिव्यक्ति का माध्यम लेखन और लिपि-व्यवस्था है तो व्यक्ति उसे पढ़कर अर्थ ग्रहण करता है। अत: भाषा का प्रयोजनपरक संदर्भ सम्प्रेषण की आवश्यकता पर बल देते हुए यह संकेत देना चाहता है कि भाषा, सम्प्रेषण व्यापार का एक समर्थ साधन है। इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि भाषा के इस सम्प्रेषण-व्यापार के सहारे ही व्यक्ति अपने भाषायी समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, उनके साथ विचार-विनिमय करता है और एक-दूसरे का सहयोग प्राप्त करता है।

संरचनापरक संदर्भ का सम्बन्ध भाषा की प्रकृति में रहता है। यह संदर्भ इस पक्ष पर प्रकाश डालता है कि भाषा क्या है, न कि भाषा क्या करती है। यह बात ध्यान देने की है कि भाषाशिक्षण के संदर्भ में हम जिस भाषा की बात करते हैं, वह वस्तुत: 'मानव-भाषा' का एक प्रकार है, जैसे–हिंदी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, अंग्रेजी, फ्रेंच आदि। सम्प्रेषण-व्यवस्था के व्यापक संदर्भ में हम कभी-कभी 'भाषा' शब्द का प्रयोग अन्य संदर्भों में भी करते हैं। हम कभी 'पशु-पक्षियों' के सम्प्रेषण-व्यापार को भी 'भाषा' मान लेते हैं और आँखों से व्यक्त होने वाले सूचना-व्यापार को भी 'आँखों की भाषा' की संज्ञा दे बैठते हैं। वस्तुत: इन संदर्भों में हम भाषा का लाक्षणिक अर्थों में प्रयोग करते हैं अन्यथा मानव-भाषा अपनी प्रकृति में गुणात्मक स्तर पर इनसे भिन्न एक वस्तु है। यह मानव-भाषा ही है जिसके सहारे न केवल हम बोलते हैं वरन 'बातचीत करते' हैं, और यह मानव-भाषा की अपनी प्रकृति का ही परिणाम है कि हम उसके सहारे एक ओर विगत घटनाओं पर विचार कर सकते हैं और दूसरी ओर भविष्य की सम्भावित घटनाओं की कल्पना भी।

(1) भाषा का संरचनात्मक संदर्भ

ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि भाषा का संरचनात्मक संदर्भ यह बताता है कि भाषा, 'क्या' है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'भाषा, सार्थक प्रतीकों की एक व्यवस्थित कड़ी है'। यह परिभाषा भाषा की सार्थक इकाइयों को भी परिभाषित करने में समर्थ है।

उदाहरण के लिए अगर हम उसकी महत्त्वपूर्ण इकाई 'वाक्य' की प्रकृति पर प्रकाश डालना चाहें, तो कह सकते हैं कि 'वाक्य, अनुशासित शब्दों की एक व्यवस्थित कड़ी है।'

हम चाहे 'भाषा' की बात करें या वाक्य, उपवाक्य, पदबंध, पद आदि, उसकी सार्थक इकाइयों की, वे सभी संरचनात्मक नियमों में बँधकर ही व्यक्त होते हैं। उदाहरण के लिए भाषा की एक महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में वाक्य के निम्नलिखित लक्षण देखें जा सकते हैं–

(1) वाक्य में प्रयुक्त शब्द अनुशासित होते हैं।

वाक्य अपने से छोटी इकाइयों के संयोग से बनता है। अगर हम वाक्य से छोटी इकाई के रूप में 'शब्द' को स्वीकार कर लें, तो वाक्य शब्दों के संयोग से निर्मित माना जा सकता है। पर वाक्य में प्रयुक्त शब्द, मात्र शब्द नहीं होता। वह तो 'अनुशासित शब्द' है। अनुशासित कहने का यहाँ अर्थ यह है–संरचना के नियमों के अनुसार अपना रूप ग्रहण करना। उदाहरण के लिए नीचे दिए गए दो प्रकार के शब्द-संयोग पर ध्यान दें–

(1) * (क) लड़का बात कहा।
(ख) लड़के ने बात कही।

(क) के शब्द-संयोग के आधार पर निर्मित वाक्य को हम हिंदी का वाक्य नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ हमें शब्दों का अनुशासित रूप नहीं दिखलाई देता। पर अगर हम 'लड़का' और 'कहा' के स्थान पर उनके सही शब्द रूप जैसे 'लड़के ने बात कही' के साथ व्यक्त करें, तो यह हिंदी भाषा का स्वीकृत वाक्य बन जाता है, जैसा हम ऊपर दिए (ख) उदाहरण में देखते हैं–'लड़के ने बात कही'।

(2) वाक्य में शब्द एक व्यवस्थित कड़ी के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि वाक्य न तो शब्दों का जमघट है और न शब्दों की मात्र कड़ी। यही कारण है कि वाक्य, शब्दों की कड़ी तो होता है पर शब्दों की हर कड़ी वाक्य का दर्जा नहीं पाती। उदाहरण के लिए नीचे दी गई दो शब्द-शृंखलाओं को ही लें–

2. * (क) रहा पीट है को मोहन सोहन।
(ख) मोहन सोहन को पीट रहा है।

ऊपर के दोनों वाक्यों में शब्दों की न केवल संख्या समान है किंतु शब्द भी एक जैसे हैं। पर हिंदी भाषा केवल (ख) वाक्य की शब्द शृंखला की व्यवस्था को स्वीकार करती है। हिंदी भाषा की व्यवस्था के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि शब्दों की कड़ी के रूप में वाक्य (क) की व्यवस्था अस्वीकार्य है।

वस्तुतः, भाषा और उसकी सभी सार्थक इकाइयाँ; यथा-वाक्य, पदबंध, शब्द आदि-व्यवस्था-सापेक्ष होती हैं। हर व्यवस्था कुछ नियमों की अपेक्षा रखती है। जब ये नियम टूटते हैं, तब भाषा के प्रयोग 'अशुद्ध' और 'अमान्य' हो जाते हैं। ये व्यवस्थापरक नियम ही भाषिक संरचना का निर्माण करते हैं। इस तथ्य को ठीक ढंग से समझने के लिए यह ज़रूरी है कि हम जानें कि संरचना स्वयं में क्या है।

यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु या इकाई की संरचना उस वस्तु या इकाई के भीतर पाए जाने वाले 'सम्बन्धों की व्यवस्था' है। उदाहरण के लिए अगर हम ऊपर दिए 2 (क) और 2 (ख) वाक्यों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि 2 (क) अर्थात् 'रहा पीट है को मोहन सोहन' में सम्बन्धों की व्यवस्था नहीं है। अगर हम इस वाक्य से यह जानना चाहें कि मोहन और सोहन संज्ञा शब्दों में क्या सम्बन्ध है, पीटने क्रिया के साथ मोहन और सोहन का क्या सम्बन्ध है, या कौन, किसे पीट रहा है, तो हमें इसका उत्तर नहीं मिल पाता। इसके विपरीत अगर इन्हीं प्रश्नों के संदर्भ में 2 (ख) वाक्य (मोहन सोहन को पीट रहा है) को देखें, तो उनका उत्तर मिल जाता है। इसका कारण यही है कि इस वाक्य में 'सम्बन्धों की व्यवस्था' है, जिसके आधार पर हम सहज ही यह जान लेते हैं कि मोहन और सोहन में कौन 'पीटनेवाला' है और कौन 'पिटनेवाला'।

भाषिक संरचना की प्रकृति को ठीक से समझने के लिए नीचे दिए गए दो वाक्यों पर ध्यान दें–

3. मोहन कल आएगा
4. सोहन आम खाएगा।

दोनों ही वाक्यों में तीन-तीन शब्द हैं, और दोनों ही व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं। पर अमूर्त व्याकरणिक रूप में वाक्य (3) जहाँ (संज्ञा + क्रिया, विशेषण + क्रिया) के क्रम का निर्वाह कर रहा है, वहाँ वाक्य (4) में शब्दक्रम है (संज्ञा + संज्ञा + क्रिया) यहाँ यह

पूछा जा सकता है कि इन दोनों वाक्यों में प्रयुक्त होने वाले संज्ञा या क्रिया शब्दों के प्रकार्य क्या एक ही हैं, या वाक्य (4) में प्रयुक्त दो संज्ञा शब्दों के प्रकार्य क्या समान हैं? इन दोनों वाक्यों की भाषिक संरचना पर थोड़ा और गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों वाक्यों की संरचना में अंतर है, क्योंकि अपने अमूर्त और प्रकार्यात्मक स्तर पर इनकी प्रकृति निम्नलिखित है-

5. (क) कर्ता + क्रियाविशेषण + अकर्मक क्रिया
6. (ख) कर्ता + कर्मा + सकर्मक क्रिया

भाषिक संरचना अपने प्रकार्य के आधार पर शब्द-सम्बन्धों का एक नया आयाम खोलती है। यह आयाम किसी एक वाक्य में प्रयुक्त और व्यक्त शब्दों के साथ अप्रयुक्त और अव्यक्त उन शब्दों के सम्बन्ध का संदर्भ है जो भाषा की सम्भाव्य इकाई हैं, भले ही उनका उस वाक्य में प्रयोग न हुआ हो। उदाहरण के लिए अगर वाक्य (3) की संरचना को लें, तो 'मोहन' के स्थान पर हम 'सोहन, लड़का, वह' आदि किसी भी शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार 'कल' और 'आयेगा' के स्थान पर क्रमशः 'आज, परसों, अभी' और 'सोएगा, जाएगा, दौड़ेगा' आदि शब्दों का। पर वाक्य (3) में 'मोहन' के स्थान पर अगर भाववाची संज्ञा शब्द 'सौन्दर्य, विश्वास, दया' का प्रयोग करेंगे तो वह अशुद्ध हो जाएगा। इसी प्रकार वाक्य (4) में 'खाएगा' क्रिया शब्द के स्थान पर 'लाएगा, धोएगा, काटेगा' का प्रयोग तो सम्भव है पर अगर उसके स्थान पर हम 'आएगा, सोएगा, जाएगा' में से किसी एक का भी प्रयोग करें तो वाक्य अशुद्ध हो जाएगा।

ऊपर की विवेचना के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि व्यवस्थापरक नियमों और व्याकरणिक प्रकार्य के आधार पर भाषिक इकाइयों के भीतर पाए जाने वाले सम्बन्धों की व्यवस्था उस इकाई की संरचना है। यह इकाई भाषा के किसी भी स्तर पर देखी जा सकती है; यथा–प्रोक्ति, वाक्य, पदबंध, शब्द आदि।

यहाँ कुछेक तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहला, सम्बन्धों की व्यवस्था, भाषासापेक्ष होती है। दूसरा, हर व्यवस्था कुछेक नियमों की अपेक्षा रखती है। तीसरा, व्यवस्थापरक नियमों की प्रकृति सर्जनात्मक होती है।

भाषासापेक्ष कहने का अर्थ केवल इतना है कि हर भाषा अपने ढंग से शब्दों को कड़ी के रूप में पिरोती है। हिंदी में अगर हम कर्ता + कर्म + क्रिया के क्रम का निर्वाह करते

हुए बोलते हैं-'लड़का किताब पढ़ रहा है' तो अंग्रेजी में एक दूसरे ही क्रम का निर्वाह करते हैं—कर्ता + क्रिया + कर्म। इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि कहीं अगर व्यवस्था है तो उसके पीछे नियम भी अवश्य होंगे। ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि शब्द-क्रम का नियम हिंदी में कर्म को क्रिया के पहले रखने का है, जबकि अंग्रेजी में उसे क्रिया के बाद।

संरचना पर आधारित ये व्यवस्थापरक नियम ही हमारे भाषाज्ञान के मूल आधार बनते हैं। भाषाज्ञान से हमारा तात्पर्य—शुद्ध वाक्यों का सूचीपत्र नहीं होता। किसी ऐसे सूचीपत्र का ज्ञान सम्भव भी नहीं जो भाषा के हर सम्भव शुद्ध वाक्य को अपने भीतर समेटता हो, क्योंकि किसी भी भाषा के सम्भाव्य वाक्य संख्यातीत होते हैं और किसी भी भाषा के सबसे लम्बे वाक्य का बोला या लिखा जाना असम्भव है। यह हमारी भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का प्रमाण है कि हम भाषिक संरचना के आधार पर नये-नये वाक्यों की रचना करने में समर्थ हैं। इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि संरचनात्मक नियमों की सर्जनात्मकता और नये-नये वाक्य रचने की हमारी क्षमता ही भाषा को एक खुला आयाम देती है।

(2) संरचना और संरचनात्मक नियमों की प्रकृति

ऊपर की विवेचना के परिप्रेक्ष्य में संरचना की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए उसके निम्नलिखित लक्षणों की ओर संकेत दिया जा सकता है—

(1) किसी भाषिक इकाई की संरचना उस इकाई के भीतर स्थित 'सम्बन्धों की व्यवस्था' है।

उदाहरण के लिए अगर हम वाक्य (इकाई) के स्तर पर दो वाक्यों को लें— (क) मोहन कल आएगा, और (ख) मोहन आम खाएगा, तो हम देखते हैं कि दोनों वाक्यों में तीन-तीन शब्द हैं, पर इन शब्दों के आपसी सम्बन्धों की व्यवस्था के संदर्भ में ये दो भिन्न-भिन्न संरचनाओं के उदाहरण हैं।

(2) संरचना का सम्बन्ध इकाई के रूप (आकृति) के साथ रहता है न कि उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम के साथ।

भाषा अपनी व्यवस्था में रूप है। इस रूप को भाषा-व्यवहार के संदर्भ में अभिव्यक्ति करने की आवश्यकता पड़ती है। भाषा के संदर्भ में अभिव्यक्त रूप, ध्वनि का माध्यम चुनता है या फिर 'लिपि' का। पर किसी वाक्य को हम चाहे ध्वनि के सहारे बोलकर व्यक्त करें, चाहे लिपि के सहारे लिखकर, 'रूप' के धरातल पर वाक्य वही रहता है। संरचना का सम्बन्ध 'रूप' से रहता है, अत: अभिव्यक्ति-माध्यम के भेद से उसकी संरचना नहीं बदलती।

(3) संरचना बोधात्मक यथार्थ है न कि अभिव्यक्तिपरक तथ्य।

संरचना अपनी प्रकृति में अमूर्त और संकल्पनात्मक होती है। उदाहरण के लिए अगर इकाई के रूप में हर यह वाक्य लें– 'मोहन आम खाएगा', तो इसका संरचनात्मक रूप होगा–कर्ता + कर्म + सकर्मक क्रिया। इस संरचना के बोधात्मक यथार्थ के संदर्भ में 'मोहन आम खाएगा' कथन मात्र अभिव्यक्तिपरक तथ्य समझा जाएगा, क्योंकि ऐसे अन्य कई वाक्य सम्भव हैं; यथा–मोहन फल खाएगा, शीला चिट्ठी लिखेगी, राकेश लकड़ी काटेगा, राधा खाना बनाएगी आदि। यह ध्यान देने की बात है कि संरचना के बोधात्मक यथार्थ के धरातमल पर ये सभी वाक्य 'समान' हैं, जबकि अभिव्यक्तपरक तथ्य के रूप में यह वाक्य भिन्न-भिन्न माने जाएँगे।

(4) संरचनात्मक इकाई का आधार उसके अंगों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों का प्रकार्य होता है।

संरचना, सम्बन्धों की व्यवस्था होती है। पर ये सम्बन्ध भाषिक इकाइयों के प्रकार्य पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए दो वाक्यों को ही लें–(क) मोहन घर आएगा और (ख) पत्र घर आएगा। इन दो वाक्यों की संरचना भिन्न है, क्योंकि 'मोहन' (संज्ञा) जिस प्रकार्य की ओर संकेत दो रहा है उससे भिन्न 'पत्र' (संज्ञा)। पहले वाक्य में संज्ञा (मोहन) सजीव कर्ता है जो क्रिया (आने का काम) का सम्पादन स्वयं करनेवाला है, जबकि दूसरे वाक्य में संज्ञा (पत्र) निर्जीव है। अत: आने की क्रिया का सम्पादन वह स्वयं नहीं करने वाला है। यह संरचनात्मक प्रकृति का ही अंतर है कि (क) संरचना के विस्तार के रूप में हम कह सकते हैं–'मोहन जान-बूझकर घर नहीं आया।' पर (ख) के संदर्भ में हम यह नहीं कह सकते–'पत्र जान-बूझकर घर नहीं आया'।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि भाषा अपने प्रयोगगत संदर्भ में अगाध और सीमामुक्त होती है। उसके वाक्य संख्यातीत होते हैं। हम रोज नये-नये वाक्यों का प्रयोग करते हैं। यह सम्भव नहीं कि जितने वाक्य हम बोलें, उतने ही नियमों को भी याद रखें। वस्तुतः संरचनात्मक नियम अपनी संख्या में सीमित होते हैं पर उनकी प्रकृति सर्जनात्मक होती है। इन सीमित पर सर्जनात्मक नियमों के आधार पर ही हम संख्यातीत वाक्यों को व्यवहार में लाने में समर्थ हो पाते हैं।

5

बहुभाषिकता, हिन्दी भाषा समाज और हिंदी शिक्षण

-रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

भारतवर्ष एक बहुभाषी देश है। 1961 की जनगणना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस देश में 1019 मातृभाषाएं हैं जिनको 200 वर्गीकृत भाषाओं में बांटा जा सकता है। यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं हैं कि साक्षर व्यक्तियों की संख्या अनुपात में कम होने तथा भाषाशिक्षण के किसी निश्चित योजनाबद्ध अध्ययन-अध्ययापन के अभाव के बावजूद भी बहुभाषिकता देश की संचार-व्यवस्था की एक प्रमुख शर्त है। भारतवर्ष में बहुभाषिकता किसी समस्या के रूप में नहीं रही। यहां की संचार व्यवस्था समाज की अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप जिस प्रकृति में ढलती गई उसमें बहुभाषिक स्थिति एक सहज और प्राकृतिक लक्षण के रूप में उभरी। यही कारण है कि न केवल भारतवर्ष एक देश के रूप में बहुभाषी देश है वरन् हर भाषावार प्रदेश भी एक बहुभाषी प्रदेश है।

उदाहरण के लिए बिहार प्रदेश को ही लें। उसके कोड मैट्रिक्स को नीचे दी गई तालिका के आधार पर देखा जा सकता है।

कुल जनसंख्या 5, 64, 41, 502

हिंदी (पश्चिमी और पूर्वी बिहारी)	2,05,80,643 1,64,42,087	खरिया	96,016	अंगरेजी	8,387
		माल्तो	88,632	मलयालम	7,559
उर्दू	41,49,245	पंजाबी	72,191	मराठी	5,074
सन्थाली	14,59,235	राजस्थानी	61,618	सिन्धी	4,089
बंगाली	12,20,800	भूमिज	38,457	कोरवा	3,768
मुंडारी	4,74,482	तेलगू	37,222	असमिया	2,241
हो	4,45,068	नेपाली	29,747	ट्रविडन	1,931
उड़िया	3,02,969	मुडायामुंडा	20,301	विरजिया	1,506
		गुजराती	20,068	गढ़वाली	1,057
		तमिल	16,177		

इसके अतिरिक्त जिन भाषाओं को बोलने-समझने वाले सौ से ऊपर और हजार से नीचे हैं उनकी संख्या आठ है- कोरकू (816), कोंकनी (816), कन्नड़ (674), गोंडी (451), कश्मीरी (186), संस्कृत (129) और भीली (125)।

बिहार की भाषाई स्थिति भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में पाई जाने वाली भाषाई स्थिति से अलग-अलग या अनूठी हो- ऐसी बात नहीं। यह स्थिति अन्य प्रांतों में भी है कि प्राय: विभिन्न भाषा-परिवारों की बोलियां एक ही समाज में न केवल अगल-बगल प्रयोग में आती हों; वरन् एक भाषा-परिवार की बोली को मातृभाषा के रूप में ग्रहण करने वाले, दूसरे भाषा-परिवार की बोली को भी सहज रूप में अपनाते देखे जाएं। इस दृष्टि से बहुभाषिकता की प्रकृति के बारे में कुछ सामान्य अभिलक्षण देखे जा सकते हैं।

पहला तथ्य तो यही है कि बहुभाषिकता की यह प्रकृति **समुदायपरक** है न कि **व्यक्तिपरक।** व्यक्तिपरक बहुभाषिकता, एक भाषा-भाषी समुदाय में देखी जाती है जहाँ अन्य व्यक्ति अपने ज्ञान या अन्य वैयक्तिक आवश्यकताओं के कारण अन्य भाषा को स्वीकार करता और उसके प्रयोग को सीखता है। उदाहरण के लिए कोई अमरीकी या रूसी अपने देश में जब हिन्दी या अन्य कोई भारतीय भाषा सीखने की ओर प्रवृत्त होता है तब उसकी यह आवश्यकता उसके समाज की संचार व्यवस्था का उपांग बन कर सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत समुदायपरक बहुभाषिकता, एक बहुभाषी देश के समाज की व्यापक संचार व्यवस्था का एक उपांग बनकर सिद्ध रहती है। पारिवारिक व्यवहार, संप्रेषणीयता, दैनिक आचरण आदि के संदर्भ में जब समाज एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग को सहज और स्वाभाविक स्तर पर स्वीकार करने लगे तब समुदायपरक बहुभाषिकता की स्थिति उभरती है। इस दृष्टि से देखें तो जिसे हम हिंदी प्रदेश कहते हैं, वह भी एक समुदायपरक बहुभाषी प्रदेश के रूप में ही सामने आता है।

बिहार के सन्थाली समाज को ही लें। अपने जीवन के पारिवारिक संदर्भ में वे सन्थाली का प्रयोग करते हैं। पर अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन के दायरे से बाहर आकर वे स्थानीय बोलियों का उपयोग करते देखे जाते हैं और जीवन के एक दूसरे आयाम पर वे क्षेत्रीय बोलियों ;भोजपुरी, मैथिली और मगही) को भी अपनाते देखे जा सकते हैं, प्रारंभिक शिक्षा के लिए उनमें से अधिकांश अखिल भारतीय हिंदी के परिनिष्ठित रूप को ग्रहण करते हैं क्योंकि हिन्दी प्रदेश की यह विशेषता रही है कि वह स्थानीय बोली के घेरे से बाहर

निकल कर हिंदी को माध्यम भाषा के रूप में स्वीकार कर शिक्षा ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त होती है। इस पूरे समाज में साक्षरता का सवाल बोली के स्थान पर क्षेत्रीय भाषा या हिंदी के सीखने की प्रक्रिया से जुड़ा है। आगे जब उच्च शिक्षा की बात उठती है तब यही हिन्दी, अंग्रेजी भाषा के सीखने और अपनाने की समस्या से जुड़ जाती है।

परिवार, स्थानीय समुदाय, क्षेत्रीय जन व्यवहार, साक्षरता और सामान्य तथा उच्च शिक्षा इन विभिन्न संदर्भों में जब हम भारतीय किसी भाषा-भाषी समुदाय के कोड मैट्रिक्स को देखते हैं तो उसे बहुभाषा की एक जटिल प्रक्रिया से बंधा पाते हैं। पर उसकी यह जटिलता भाषाविदों के लिए भले ही समस्या के रूप में आती हो और भाषाविद भारत की इस आंतरिक संचार व्यवस्था के संदर्भ में भले ही उसे "भाषाई पागलपना" कहते हों पर स्वयं समाज उसे सहज और सामान्य रूप से ग्रहण करता आ रहा है। समाज के स्तर पर संप्रेषणीयता में न तो कभी कोई गतिरोध ही आया और न उसकी संचार व्यवस्था में ही कोई रुकावट आई। इसका कारण कोड-परिवर्तन (कोड स्विचिंग) की सहज स्वीकृति रही है।

यहां यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है कि जिस प्रकार एक गाँव की बोली अपने सीमावर्ती दूसरे गांव की बोली से भिन्न होकर भी एक-दूसरे के जन समुदाय के लिए बोधगम्य रही है और जिस प्रकार अगल-बगल के गाँव आपसी व्यवहार के लिए एक क्षेत्रीय सामान्य उस बोली का निर्वाह एवं प्रयोग करते रहे हैं जो दोनों के लिए मान्य एवं सुबोध हो उसी प्रकार सामाजिक स्तर भेद की भी एक ऐसी क्रमिक सीढ़ी को भी हम पाते हैं जहां पर स्तर अपने सीमावर्ती स्तर की भाषा अथवा शैली से परिचित रहता है। इसमें संदेह नहीं कि ये सभी भाषाएं एवं शैली भेद समाज संदर्भित हैं, सभी की अपनी इयत्ता एक विशिष्ट सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के साधन हैं और उन सभी की सत्ता समाज की पूरी संप्रेषण व्यवस्था की एक अनिवार्य उपांग बनकर सिद्ध है। संक्षेप में इसे हम नीचे दिए गए रेखाचित्र में समझ सकते हैं।

पारिवारिक : (परिवार में प्रयुक्त भाषा/बोली)
स्थानीय : (स्थानीय गाँव में प्रयुक्त बोली)
क्षेत्रीय : (क्षेत्रीय स्तर की बोली/भाषा)
साक्षरता का स्तर : (माध्यम भाषा ।)

सामान्य शिक्षा का स्तर : (माध्यम भाषा 2)
उच्च शिक्षा का स्तर : (माध्यम भाषा 3)

इसके संदर्भ में यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि संपूर्ण भारतवर्ष में परिवार के जीवन मूल्य और भाषारूप, समाज के बृहत्तर संदर्भ के सामाजिक मूल्य और भाषा प्रयोग से भिन्न रहे हैं। इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा निश्चित और सुदृढ़ रही है और ये दोनों आपस में नितांत भिन्न होने की स्थिति में भी एक-दूसरे की कभी विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी नहीं रही। भारतवर्ष की सामाजिक बनावट की यह प्रकृति ही रही है कि वह पारिवारिक मूल्यों का निर्वाह स्थानीय सामाजिक मूल्यों से टकराए बिना करती रही है। यह यहाँ की व्यवस्था का स्वीकृत तथ्य है कि अगर कोई व्यक्ति या समुदाय का वर्ग अपना भाषा-क्षेत्र छोड़कर अन्य भाषा क्षेत्र में जाकर बसा है तो उसे अपनी भाषा छोड़ने की आवश्यकता कभी भी सामाजिक दबाव के रूप में नहीं महसूस करनी पड़ी। यह स्थिति अमेरिका से काफी भिन्न है। वहाँ अगर किसी अन्य देश का भाषा-भाषी जाता है तो एक या दो पीढ़ी के बाद वह अपनी भाषा को छोड़कर वहाँ की भाषा (अंग्रेजी) अपना लेता है। अत: भाषा-निर्वाह वहाँ एक समस्या के रूप में सामने आता है। पर हिंदुस्तान के भीतर एक क्षेत्र की भाषा बोलने वाला जब दूसरे क्षेत्र में जाता है तब उसका अपना एक पाँव हमेशा धरती पर बंधा होता है। संयुक्त परिवार और कुल का सदस्य होने के नाते जीवन के एक दायरे में उसे उस परिवार या कुल से संबंध बनाए रखना पड़ता है जिसका वह मूलत: सदस्य है। परिणाम यह है कि हर भाषा क्षेत्र में ऐसे कई सामुदायिक वर्ग मिल जाते हैं जो अपने सामाजिक व्यवहार क्षेत्र में स्थानीय और क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग करते हैं पर अपने पारिवारिक आचरण के लिए उस क्षेत्र के बाहर की भाषा का सहज भाव से निर्वाह कर लेते हैं। अत: बहुभाषिक के संदर्भ में यह भाषा-निर्वाह भारत में कोई समस्या के रूप में सामने नहीं आता।

बहुभाषिकता के संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि हर भाषा समाज के हर प्रकार के दायित्व को नहीं निभाती। अगर बहुभाषिकता की प्रकृति व्यक्तिपरक न होकर समुदायपरक है तब विभिन्न भाषाओं का प्रयोग अपने एक निश्चित सामाजिक संदर्भ की अपेक्षा रखेगा। उसी संदर्भ में उस भाषा का प्रयोग सहज और सामान्य माना जाएगा। जिस प्रकार किसी एक भाषा के भीतर कई शैलियाँ होती हैं और हर शैली एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की मांग करती है। उसी प्रकार अगर हम भाषा की सीमा का

विस्तार कर अपनी दृष्टि भाषाई समाज तक ले जाएं और उसे विवेच्य सामग्री के लिए इकाई मान लें तब हम पाते हैं कि एक भाषा समाज के बीच स्थिर संबंधों के साथ निर्वाह करने वाली भाषाएं भी शैलीवत् ही सिद्ध रहती हैं। भाषा प्रयोग के इन स्थिर संबंधों की प्रकृति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार वाक्य स्तर पर पर्यायवाची शब्दों की सत्ता और महत्व है और जिस प्रकार भाषा स्तर पर शैली-भेद की स्थिति और प्रयोजन सिद्ध है उसी प्रकार बहु-भाषी समाज के संदर्भ में उस भाषा-भेद की प्रकृति और उनके प्रयोजन का महत्व है जो उस भाषाई समाज की कोड-मैट्रिक्स है।

बहुभाषा समाज की (कोड मैट्रिक्स) उन सभी प्रयोजनबद्ध भाषाओं एवं शैलियों के समूह को कहेंगे जिसे वह समाज अपने प्रभाव संचार के लिए अपनाने के लिए विवश है। शैली-भेद की जहां तक बात है, हर भाषा में उसकी सत्ता असंदिग्ध रूप से देखी जाती है। पर ऐसी स्थिति भी देखी जा सकती है कि एक भाषा, दो या दो से अधिक ऐसी शैलियों का प्रयोग करती हो जो न केवल सामाजिक संदर्भों द्वारा नियंत्रित हों अपितु जिन का भाषा के परिप्रेक्ष्य में प्रयोजन सिद्ध सापेक्षतया स्थिर हो। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक फ़रगुसन ने ऐसी स्थिति को 'डायग्लोसिया' नाम दिया है। उनके अनुसार 'डायग्लोसिया' एक ही भाषा की दो शैलियों के व्यवहार की वह स्थिर स्थिति होती है जिसमें भाषा की एक आधारभूत शैली के अतिरिक्त उससे भिन्न आरोपित एक और भाषा-शैली भी प्रयुक्त होती है। आधारभूत शैली का मानक रूप संभव है। आरोपित शैली का व्याकरण अतिरिक्त नियमों द्वारा न केवल सापेक्षतया जटिल होता है वरन् उसके प्रयोग को समाज में अधिक सम्मानजनक माना जाता है। वस्तुत: लिखित साहित्य में इसी का प्रयोग अधिक होता है और औपचारिक अवसरों पर इसी भाषा-शैली को लोग व्यवहार में लाते हैं इसलिए भाषा का यह शैली रूप किसी न किसी औपचारिक संदर्भ में सीखा जाता है।

भारतीय समाज न केवल बहुभाषी समाज है बल्कि स्तरीकृत होने के कारण उसकी भाषाओं में शैलीभेद सामाजिक प्रयोजनों के साथ संबद्ध होकर सामने आते हैं। इन भाषाओं में 'डायग्लोसिया' की स्थिति स्पष्ट देखने को मिलती है। बंगाली भाषा में 'चलित' और साधुभाषा' तेलगु में 'व्यावहारिक' और 'ग्रंथिका' शैली अथवा तमिल में 'पेचू' और 'सेन तमिल' की दो स्पष्ट शैलियाँ हैं। 'चलित' 'व्यावहारिक' और 'पेचू' आदि शैलियाँ वस्तुत: इन भाषाओं की आधारभूत शैलियाँ हैं जिन्हें सामान्य व्यक्ति सहज रूप में सीख लेता है। इनके विपरीत 'साधुभाषा' 'ग्रंथिका शैली' अथवा 'सेन तमिल' इन भाषाओं की वह शैली

है जिसे अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा मिली है और जिसके न जानने से व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं माना जाता अथवा उस भाषा का उसका ज्ञान अधूरा या अपूर्ण समझा जाता है।

हिंदी की स्थिति इन भाषाओं से जटिल इस अर्थ में है कि इसमें आधारभूत शैली के अतिरिक्त एक नहीं अपितु दो आरोपित शैलियाँ हैं। आधारभूत शैली को प्राय: सामान्य हिंदी या हिंदुस्तानी की संज्ञा दी जाती है और आरोपित शैलियों को संस्कृतनिष्ठ (या उच्च हिंदी) और फारसी-अरबीनिष्ठ (या उर्दू) शैलियाँ कहा जाता है। हिंदी और उर्दू के बीच गहरी खाई का काम करने वाले दो प्रमुख तत्व रहे हैं– लिपि और साहित्यिक परंपरा। हिंदी, नागरी लिपि की मुखापेक्षी है और उर्दू फ़ारसी लिपि की; हिंदी की परंपरा भारतवर्ष की उस जातीय संस्कृति का संवाहक रही है जो संस्कृत भाषा से अबाध गति से चली आ रही है जबकि उर्दू मुड़-मुड़कर फारसी काव्यधारा से भी काव्य-रूढ़ियाँ आत्मसात करती रही है। पर लिपि भाषा नहीं और लिपि भेद को भाषा भेद का आधार नहीं बनाया जा सकता। दूसरी बात यह भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इन दोनों आरोपित साहित्यिक शैलियों का मूलाधार एक ही है– हिंदुस्तानी, जो न केवल दोनों ही लिपियों में लिखी जा सकती है बल्कि लिखी जाने पर नागरी को देखकर जिस पाठ को एक वर्ग 'हिंदी' से जोड़ता है तो फ़ारसी लिपि में पाकर उसी पाठ को दूसरा वर्ग 'उर्दू' मान बैठता है।

स्पष्ट है कि जिसे हम हिंदी भाषा-समाज कहते हैं उसका भाषाई कोश (वर्बल रेपत्वा) दो या दो से अधिक बोलियों, हिंदुस्तानी, हिंदी की दो आरोपित शैलियों तथा उच्चवर्ग में अंग्रेजी भाषाओं से संक्रमित हैं और जो आपस में इस प्रकार ग्रंथित हैं कि उनमें कोड-परिवर्तन सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में देखने में आता है। बोली, शैली और भाषा भेद के ये अन्तरसंबंध विभिन्न सामाजिक स्तरों पर भिन्न रूप में प्रतिफलित होते हैं, पर सामाजिक प्रक्रिया के संदर्भ में जिनको सामान्यीकृत नियमों से बांधना संभव है। यह देखा जा सकता है कि जिन सामाजिक दबाव और औपचारिक परिस्थितियों के संदर्भ में उच्चवर्ग के सदस्य हिंदी और अंग्रेजी के बीच भाषा-परिवर्तन करते हैं, उन्हीं परिस्थितियों में बहुत कुछ आधारभूत शैली हिंदुस्तानी और आरोपित शैलियों–उच्च हिंदी अथवा उर्दू में भी परिवर्तन देखा जा सकता है और उसी प्रकार समाज के एक तीसरे स्तर पर उन्हीं संदर्भों से बोलियों और हिंदुस्तानी के बीच कोड-परिवर्तन संभव है।

हिंदी को उसके सही संदर्भ में समझने के लिए अत्यावश्यक है कि हम उसके समाज के भाषाई कोश (वर्बल रेपर्त्वा), कोड मैट्रिक्स, कोड परिवर्तन (कोड स्टाइल स्विचिंग) को उस समाज में पाई जाने वाली बहुभाषिकता की सही प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में देखें।

मातृभाषा का सवाल और उसकी समस्या एकभावी देश में जिस रूप में दिखाई देती है वहां बहुभाषी समाज में उसी रूप में नहीं प्रतिफलित होती। बहुभाषी देश में विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं एवं विभिन्न प्रयोजनों के निर्वाह के लिए भिन्न-भिन्न भाषाएं काम में आने के कारण आपस में एक स्थिर संबंधों का निर्माण करती चलती हैं। जब तक इन संबंधों की प्रकृति का हम सही आकलन न कर लें हम उस समाज की संप्रेषण व्यवस्था और भाषा संबंधी उनकी जातीय चेतना का भी पता नहीं लगा सकते। भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ बहुभाषिकता इतिहास समर्थित रही है और जहाँ भाषा-सहिष्णुता सामाजिक संस्कृति का निर्वाहक तत्व रहा है वहाँ आज भाषा वैमनस्य की भावना का तीव्र उद्रेक निश्चय ही भाषा नियोजन की किसी गहरी भूल का परिणाम कहा जा सकता है। भाषा नियोजन के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम देखें कि अन्य भाषा के रूप में कोई भाषा किन प्रयोजनों को साधती है और इस दृष्टि से आज की भाषाई स्थिति में हिंदी किन प्रयोजनों को लेकर प्रदेश अथवा भारत संघ की स्वीकृत भाषा बन सकती है।

अन्य भाषाओं के रूप में निम्नलिखित चार प्रयोजन देखे जा सकते हैं–

(1) **सहायक भाषा** (Auxiliary language)

जब अन्य भाषा सामाजिक संप्रेषण के लिए काम में न लायी जाए और उसे केवल ज्ञान के माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया जाए तब ऐसी भाषा को सहायक भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टि से क्लासिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

विभिन्न विदेशी विश्वविद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई भारतवर्ष की समाज, संस्कृति और साहित्य आदि की जानकारी के लिए उपकरण के रूप में की जाती है। पर ऐसे प्रशिक्षण से उस तरह के द्विभाषी निकलते हैं जो ज्ञान के धरातल पर तो हिंदी को सीख लेते हैं पर समाज के वास्तविक संदर्भों में इनका व्यावहारिक उपयोग नहीं कर पाते। इस सहायक भाषा को कभी-कभी पुस्तकालयी भाषा-रूप भी कहा जाता है।

(2) **संपूरक भाषा** (Supplementary language)

जब अन्य भाषा व्यवहार में तो प्रयुक्त हो लेकिन जिन आवश्यकताओं के लिए अपनायी जाती है वह अपनी प्रकृति में अस्थायी तथा अपने प्रयोग में अत्यंत सीमित हो (यथा– पर्यटकों के उपयोग तक सीमित भाषा) तब इसे संपूरक भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टि से पढ़ाई जाने वाली भाषा आंशिक क्षमता के रूप में उन द्विभाषियों को पैदा करती है जिसकी प्रकृति भाषिक क्षमता के संदर्भ में अस्थिर होती है।

भाषा का सहायक एवं संपूरक प्रयोजन व्यक्तिपरक और व्यक्तिसाधक है न कि समाजपूरक और समाजसाधक। ये दोनों प्रयोजन किसी भाषा-समाज की संप्रेषण व्यवस्था की आवश्यकता पर आधारित नहीं होते। अत: ऐसी भाषाओं का ज्ञान संस्था के रूप में किसी भाषा-समुदाय की आंतरिक आवश्यकताओं का परिणाम नहीं होते। इसके विपरीत नीचे दिए दो और प्रयोजनों के लिए भाषा समाज की अपनी आतंरिक व्यवस्था और संप्रेषण की सामाजिक आवश्यकताओं से बाधित होती है।

(3) **परिपूरक भाषा** (Complementary lanugage)

अन्य भाषा के रूप में प्रयोग में आने वाली भाषा पहली या मातृभाषा के परिपूरक प्रयोजन में सिद्ध तब मानी जा सकती है जब वही भाषा (न कि कोई अन्य भाषा) निर्धारित भाषा-समाज के सीमित परंतु निर्दिष्ट सामाजिक संदर्भों में स्वभावत: प्रयुक्त की जाती है। इस दृष्टि से अगर हम अंग्रेजी के प्रयोग पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि- वह भारतीय भाषा समाज के लिए परिपूरक प्रयोजनवत सिद्ध है। हम अपने समाज के विशिष्ट संदर्भ में ही अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं और जिन सीमित संदर्भों में इसका व्यवहार सहज रूप में होता है उसमें अन्य किसी विदेशी भाषा–रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि का व्यवहार नहीं होता। वस्तुत: अंग्रेजी इसी संदर्भ में एक अक्षेत्रीय लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर व्यवहार में लायी जाने वाली संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई।

संपर्क भाषा के रूप में सिद्ध प्रयोजन भाषा परिपूरक संदर्भ को सामने उभारती है। इसी संदर्भ में कोई भाषा लिंग्वा-फ्रांका भी बनती है। यही उस विशिष्ट रजिस्टर को सामने उभारती है जिसे कभी हम अखिल भारतीय स्तर पर संघ की राजभाषा कह लेते हैं और कभी ज्ञान के स्तर पर पारिभाषिक शब्दावली से युक्त तकनीकी भाषा के नाम से संबोधित

करते हैं। परिपूरक भाषा के रूप में अन्य भाषा शिक्षण उस स्थिर प्रकृति के द्विभाषी पैदा करता है जिसका ज्ञान अन्य भाषा के संदर्भ में आंशिक रहता है।

अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी शिक्षण का सही दृष्टिकोण परिपूरक प्रयोजनों को लेकर होना चाहिए। उन क्षेत्रों की अपनी मातृभाषा तो है ही इसलिए हिंदी की *शिक्षा उन संदर्भों में करना अनुचित* होगा जिनके लिए पहले से ही मातृभाषा का प्रयोग होता रहा है। ऐसा न करने पर हिंदी अनावश्यक रूप से अन्य भारतीय भाषाओं की प्रतिद्वंद्विता में उलझ जाएगी।

बहुभाषी समाज में प्राय: यह देखा जाता है कि समाज की पूरी संप्रेषण व्यवस्था के भीतर जब एक भाषा कुछ निश्चित क्षेत्रों में अपने दायित्व का निर्वाह करती है तो दूसरी भाषा कुछ अन्य निश्चित क्षेत्रों में। सीमित सामाजिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होने के कारण यह कहा जाने लगता है कि वह भाषा अधूरी और अक्षम है क्योंकि उसका वह रूप खुलकर नहीं आता जो उन क्षेत्रों में प्रयोग में आने पर होता है जिनमें कोई दूसरी भाषा प्रयोग में आती है। लेकिन एक भाषावैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कोई भी भाषा स्वयं में अधूरी अथवा अविकसित नहीं होती केवल उसका प्रयोग क्षेत्र और व्यवहार सीमित या विस्तृत होता है। सभी भाषाएं अपनी मूल रचना और प्रकृति में उन संभावनाओं मे युक्त रहती हैं जो किसी भी विकसित भाषा के लिए मान्य स्वरूपगत विशेषताओं को लिए होती हैं। हिंदी पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि वह अंग्रेजी भाषा की तुलना में अधूरी अथवा अविकसित है। यह कथन भ्रांत दृष्टि का परिणाम है क्योंकि अंग्रेजी उन विशिष्ट सामाजिक संदर्भों में प्रयोग में लायी जाती रही है जिनमें हिंदी का प्रयोग नहीं होता था। साम्राज्यवाद एवं अंतर्राष्ट्रीय दबाव के फलस्वरूप हिंदी को अवसर ही नहीं मिला कि वह अपने भाषा-समाज के वृहत्तर आयाम पर प्रयुक्त हो। अब जबकि अंग्रेजी का बल घटता जा रहा है और शिक्षा का आधार व्यापक होकर जन समाज के निचले स्तर तक बढ़ता जा रहा है, यहाँ की अपनी भाषाएं वह रास्ता स्वयं बनाती जा रही हैं जिस पर आधारित होकर वे समृद्ध और बहुप्रयोजनीय होती जा रही हैं। हिंदी शिक्षण को इस दृष्टि से भी अपने को सम्सामयिक मांग के अनुरूप सम्यक् बनाना जरूरी है।

(4) **समतुल्य भाषा** (Equative language)

जब अन्य भाषा उन सभी सामाजिक संदर्भों में प्रयुक्त होने लगे जिसमें मातृ-भाषा प्रयोग में लायी जाती है तब उसे समतुल्य भाषा प्रयोजन की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसी स्थिति

में द्विभाषी धीरे-धीरे अंततोगत्वा एक-भाषी बन जाता है, क्योंकि उसके लिए मातृभाषा एक अर्थहीन भाषा बन जाती है। यह स्थिति अमेरिका जैसे देशों में प्राय: देखने को मिलती है। जहाँ दूसरे भाषा समाज (यथा--रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि) के व्यक्ति जब वहाँ जाकर बस जाते हैं तब एक या दो पीढ़ी के बाद वे अपनी मातृभाषा को पहले आनुषंगिक और बाद में अर्थहीन देखकर उसे छोड़ते जाते हैं और अंत में वहाँ की भाषा को ही अपनी पहली भाषा के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। भारतवर्ष में भाषा परिवर्तन की यह स्थिति देखने को नहीं मिलती क्योंकि एक भाषाक्षेत्र से जब व्यक्ति दूसरे भाषाक्षेत्र में जाता है तब भी उसका एक पांव अपनी स्थानीय मातृभूमि की व्यवस्था में जमा रहता है और जिसके फलस्वरूप वह अपने कुल, जाति एवं परिवार से संबंधित दायित्वों के निर्वाह के लिए अपनी मातृभाषा का प्रयोग करने के लिए सदा बाध्य रहता है। इस तरह अन्य भाषा क्षेत्र के साथ-साथ अपनी मातृभाषा का भी वह निर्वाह करता है।

एक दूसरी स्थिति भी देखने को मिल सकती है। कभी-कभी विस्थापित परिवार अपनी जमीन से उखड़ कर बोली के धरातल पर मान्य संप्रेषण व्यवस्था को छोड़ता हुआ पाया जा सकता है। हिंदी भाषा क्षेत्र के भीतर अनेक बोलियों के उपक्षेत्र हैं। इन बोली-उपक्षेत्रों से उखड़ कर परिवार दूसरे बोली क्षेत्र के शहरी जीवन में जब प्रवेश करता है तो एक या दो पीढ़ी के बाद वह हिंदी भाषा को अपने उन जीवन संदर्भों में भी प्रयोग करता पाया जाता है जिसमें कभी वह अपनी बोली का प्रयोग करता था। ऐसी स्थिति में एक दो पीढ़ी के बाद हिंदी भाषा उसकी पहली भाषा बन जाती है।

भारतीय समाज भाषावैविध्य को बिना मिटाये हुए भाषा की एकता पर बल देती रही है। भाषा सहिष्णुता उसकी जातीय एवं सांस्कृतिक चेतना की आंतरिक शक्ति के रूप में स्थित रही है। जिस सामाजिक संस्कृति की बात हिंदी के माध्यम से संविधान में उठायी गई है, वह न तो भाषा परिवर्तन और न भाषा-लोप पर आधारित है बल्कि विभिन्न भाषाओं के परिपूरक प्रयोजनों पर आधारित सामाजिक संप्रेषण व्यवस्था से जुड़ी हुई है। आपसी भाषाई सहयोग उस बहुभाषी समाज का निर्माण करता है, जो अपनी प्रकृति में समानाधिकरणिक न होकर सामासिक होता है। हिंदी भाषा शिक्षण का सही संदर्भ यही है कि हम पहले भारतीय समाज की बहुभाषिकता की प्रकृति को ठीक से समझें और तदनुरूप विभिन्न भाषा प्रयोजनों के संदर्भ में हिंदी के अन्य भाषाओं के साथ संबंधों की सही जानकारी रखते हुए भाषा-शिक्षण को सार्थक बनाएँ।

6

हिंदी नाम: व्युत्पत्ति और अर्थ

-भोलानाथ तिवारी

पिछले अध्याय में पहले भारोपीय परिवार पर विचार किया गया और बाद में भारत-ईरानी, भारतीय आर्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश पर विचार करते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के उद्भव की चर्चा की गई। अब 'हिंदी' नाम की समस्या को ले सकते हैं। इसकी मुख्य समस्या दो प्रकार की है। एक तो यह कि 'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति क्या है और दूसरी यह कि 'हिंदी' शब्द का विभिन्न कालों में किन-किन अर्थों में प्रयोग होता रहा है, तथा वर्तमान काल में उसके क्या या क्या-क्या अर्थ हैं।

'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति

'हिंदी' शब्द का संबंध 'हिंद', 'हिंदू' आदि शब्दों से है। 'हिंद' या 'हिंदू' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी गई है:

(1) हमारे परंपरावादी संस्कृत-पंडित मूल शब्द 'हिंदु' मानते हैं। इसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी जाती है। कुछ लोग 'हिन्' (= नष्ट करना) + 'दु' (=दुष्ट) से 'हिंदु' मानते हैं। अर्थात 'हिंदु' का अर्थ है 'दुष्टों का विनाश करने वाल' (हिनस्ति दुष्टान्)।

(2) 'शब्दकल्पद्रुम' (खण्ड 5, 1961) में 'हीन + दुप् + डु' से 'हिंदु' शब्द को सिद्ध किया गया है। इस दृष्टि से 'हिंदु' का अर्थ हुआ 'हीनों या ओछों को दूषित करने वाला' (हीनं दूषयति)। 'मेरुतंत्र' के 23वें प्रकाश में शंकर पार्वती से कहते हैं–

हिंदुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनञ्च दूषयत्येव हिंदुरित्युच्यते प्रिये।।

अर्थात् 'हीनों को दूषित करने वाला' हिंदु है। यहां 'हीन' का अर्थ कुछ लोग 'म्लेच्छ' आदि विदेशी मानते हैं। 'मेरुतंत्र ' को प्राय: परंपरावादी पंडित प्राचीन ग्रंथ समझते हैं, किन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है। इसमें 'फिरंगी' शब्दा का प्रयोग मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि 'यह बहत बाद का ग्रंथ है और यूरोपीयों के भारत में आने के बाद लिखा गया है'।

(3) 'हिंदु' की एक तीसरी व्युत्पत्ति 'हीन + दु' [हीरों (म्लेच्छों) का दलन या दंडित करने वाला] से भी मानी गई है। कुछ लोग 'हीनता का दलन करने वाला' भी इसका अर्थ लेते हैं।

(4) 'हिंदु' की एक चौथी व्युत्पत्ति है– 'यो हिसाया: दूयते, स: हिंदु' अर्थात् 'हिंसा को देखकर जो दुखी होते हैं, वे हिंदू हैं'।

वस्तुत: उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियाँ कल्पना-प्रसूत हैं। 'हिंदू' शब्द 'ह' के साथ संस्कृत शब्द नहीं है। उल्लेख्य है कि किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। मुझे इसका प्राचीनतम प्रयोग सातवीं सदी के अंतिम चरण के ग्रंथ 'निशीथचूर्णि' में प्रथम बार मिला है।

(5) आज का पढ़ा-लिखा समाज इस शब्द को फारसी शब्द 'हिंदु' से संबंधित मानता है। 'हिंदु' शब्द भी मूलत: फारसी का न होकर संस्कृत शब्द 'सिंधु' का फारसी रूपांतरण है। प्रश्न उठता है कि 'सिंधु' की व्युत्पत्ति क्या है? संस्कृत के अधिकांश वैयाकरण इसका संबंध 'स्यंद्' धातु से माने हैं, जिसका अर्थ है 'पसीजना, द्रवना, स्रवित होना'। इसी में, 'य्' के सप्रसारण, 'दस्य' 'ध:' तथा 'उद्' प्रत्यय के योग से 'सिंधु' शब्द बना है, जिसका अर्थ नदी विशेष तथा समुद्र आदि हैं। हाथी के गंडस्थल से मद बहने के कारण उसे भी 'सिंधु' या 'सिंधुर' आदि कहा गया है। इस प्रकार इसमें मूल अर्थ 'बहना' है।

(6) इसकी एक और व्युत्पत्ति संस्कृत की 'इंद्' धातु से मानी गई है। 'इंद्' का अर्थ होता है 'ऐश्वर्य होना'। संस्कृत या इंद्र' शब्द भी इसी से संबद्ध है। ग्रासमान, रॉथ आदि विद्वान 'इंद्' को मूलत: 'इध् या इंध्' मानते हैं, यद्यपि बेनफ़े और कुछ विद्वान् 'इंद्र' को भी मूलत: 'स्यंद्' से ही निष्पन्न मानते हैं। अपने मूल भारोपीय रूप से चलकर इस 'इंद्' या स्यंद् से ही स्लाव शब्द जेद्रु, सं. इंद्र, अवेस्ता जेन्दाह (जिंदा, जिंदगी) आदि संबंधित हैं। 'सिंधु' शब्द को 'इंद्' या 'इंध्' से संबद्ध मानने वाले लोग उस नदी में ऐश्वर्य या उसकी जीवन शक्ति पर बल देते हैं।

(7) मोनियर विलियम्स 'सिंधु' शब्द को 'सिध्' (= जाना) धातु से निकला होने का अनुमान लगाते हैं।

(8) प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक उपर्युक्त किसी भी मत से सहमत नहीं है। ये सब पुरानी धातुएं तो ठीक हैं, किंतु मेरी निजी राय यह है कि इस नदी विशेष का 'सिंधु' नाम मूलत: संस्कृत का शब्द नहीं है। आर्य भारत में आए उस समय पश्चिमोत्तर भारत में आर्येतर लोग रहते थे, और ये लोग पर्याप्त सुसंस्कृत थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि सिंधु नदी का कोई-न-कोई नाम इन आर्येतर लोगों द्वारा प्रयुक्त होता रहा होगा। ऐसा प्राय: होता नहीं कि कोई विदेशी जाति किसी देश में आए और वहाँ के सारे-सारे के नामों को बदल डाले, विशेषत: ऐसी स्थिति में जबकि वहाँ रहने वाले असभ्य न होकर बहुत सुसंस्कृत हों। ऐसी नदियों या ऐसे पहाड़ों आदि के नाम तो नवागंतुक रख या बदल सकते या बदल लेते हैं, जिनको अधिक लोग नहीं जानते, किन्तु पश्चिमोत्तर भारत की सबसे बड़ी नदी के संबंध में, जिसकी घाटी में इतनी बड़ी संस्कृति थी, उनको ऐसा करना पड़ा हो, या उन्होंने ऐसा किया हो, ऐसा मानने का कोई खास कारण नहीं दिखता। ऐसी स्थिति में कम-से-कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह शब्द मूलत: द्रविड़ भाषा का है। 'यों, यह भी असंभव नहीं है कि द्रविड़ लोग जब भारत में आए हों तो उन्हें भी यह नाम आस्ट्रिक आदि किसी अन्य पुरानी जाति से मिला हो। साथ ही यह भी संभव है कि आर्यों के आने के समय इस नदी का जो नाम प्रचलित रहा हो, आर्यों ने 'सिंधु' रूप में उसका संस्कृत रूप बना लिया हो। शब्दों के संस्कृतीकरण की परंपरा आर्यों में प्राचीन काल से मिलती है। उन्होंने अनेक देशी-विदेशी नामों ('एलेग्जेंडर के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'अलकंद' आया है) एवं शब्दों के साथ ऐसा किया है। 'सिड्', 'सिद्', 'सित्' या 'चिन्द्' आदि रूपों में द्रविड़ परिवार की कई भाषाओं एवं बोलियों में एक अत्यंत प्राचीन धातु मिलती है, जिसका प्रयोग, अन्य अर्थों के साथ 'छिड़कने', 'सींचने' या 'बहने' आदि के लिए होता है। मेरा अनुमान है कि यदि द्रविड़ों को यह शब्द किसी पुरानी जाति से नहीं मिला था, तो इसी धातु के आधार पर प्राचीन द्रविड़ों ने इस बड़ी नदी (सिंधु) को 'सिद्' या 'सित्' नाम दिया। यह नाम, इसमें बहते हुए बहुत अधिक पानी के कारण भी हो सकता है, या इस कारण भी हो सकता है कि इनकी सभ्यता का उस काल में मूल केंद्र (सिंधु की घाटी) जो था, इसी से सींची जाने वाली भूमि पर बसा था। नदी ही नहीं, मेरे विचार में तो, नदी के आधार पर, आसपास के प्रदेश का भी तात्कालिक नाम कदाचित 'सिद्' या 'सित्' ही था। यह प्राय: बहु स्वीकृत तथ्य है कि हड़प्पा-मोहन-जोदड़ो से सुमेरिया का व्यापारिक संबंध था। सुमेरिया के जो पुराने अभिलेख मिले हैं, उनमें एक 'सिद्' नामक स्थान का उल्लेख आता है, जहाँ से सुमेरिया का संबंध था। मेरे विचार में यह 'सिद्' भारत का ही

'सिद्' या 'सित्' है। 1928-29 में पश्चिमोत्तर भारत में प्राप्त कुछ अभिलेखों से भी यह पता चलता है कि हड़प्पा-मोहन-जोदड़ो के लोगों के स्थान का नाम उस काल में 'सिद्' या 'सित्' था। इस प्रकार ये दोनों आधार मेरे इस अनुमान की पुष्टि करते है कि उस काल में सिंधु प्रदेश का नाम 'सिद्' या 'सित्' था। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्कृत में इस नदी या इस प्रदेश के लिए 'सिंधु' शब्द वस्तुत: संस्कृत शब्द न होकर प्राचीन द्रविड़ शब्द 'सिद्' या 'सित्' का ही संस्कृतीकृत रूप है, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है। उल्लेख है कि 'गंगा' नाम भी आर्यों को प्राचीन निवासियों से ही मिला था। ज्ञान की वर्तमान परिधि में 'सिंधु' शब्द को और पीछे तक ले जाना संभव नहीं। किंतु बहुत संभव है कि भविष्य में और प्रमाणों के मिलने पर, इसे आस्ट्रिक या और किसी प्राचीनतर भाषा का शब्द सिद्ध किया जा सके।

द्रविड़ 'सिद्' या 'सित्' के आधार पर संस्कृतीकरण के द्वारा बने इस 'सिंधु' शब्द के भारतीय साहित्य के प्रथम प्रयोग ऋग्वेद में मिलते हैं। ऋग्वेद में इसका प्रयोग सामान्य रूप से नदी (भात्वक्षमो अत्यक्तुर्न सिंधवोऽग्ने 1.143.3 आदि), नदी विशेष (10.75) तथा कदाचित् नदी के आस-पास के प्रदेश (2.8.96) के लिए हुआ है। यों जल-देवता आदि अन्य अर्थ भी हैं जो मूल अर्थ से बहुत दूर नहीं हैं। प्रदेश विशेष के अर्थ में बाद में यह महाभारत तथा परवर्ती काव्य-ग्रंथों में भी आता है। ऋग्वेद में 'सप्तसिंधव:' (सात नदियाँ) तथा 'सप्तसिंधुषु' आदि अन्य रूपों में भी यह शब्द मिलता है।

आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व भी भारत से ईरान का सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संबंध रहा है, जैसा कि ज्योतिष, पौराणिक कथाओं तथा अन्य क्षेत्रों में आपसी प्रभावों से स्पष्ट है। आर्यों के भारत आगमन के बाद यह संपर्क सगोत्रीय होने के कारण कदाचित् और अधिक बढ़ गया। 500 ई.पू. के आसपास दारा प्रथम के काल में सिंधु नदी के आस-पास का प्रदेश ईरानी लोगों के हाथ में था। इन्हीं संपर्कों के साथ भारत से ईरान तथा ईरान से भारत में याचक आया करते थे। शक, द्वीप के मग ब्राह्मण (जो भारत में शाकलद्वीपी ब्राह्मण कहलाये) फ़ारस के पूर्वोत्तर भाग से ही आकर यहां बसे थे। कदाचित् याजकों के साथ हमारे 'सिंधु' और 'सप्तसिंधव:' आदि शब्द भी ईरान पहुंचे। हमारी प्राचीन 'स' ध्वनि ईरान की अवेस्ता आदि में 'ह' उच्चरित होती रही है; जैसे सं. सप्त, अवेस्ता हफ़्त, सं. असुर, अवेस्ता अहुर आदि। इसी कारण ये 'सिंधु' और 'सप्तविंधव:' आदि शब्द अवेस्ता में 'हिंदू' (अवेस्ता में महाप्राण ध्वनियाँ नहीं होतीं अत: ध का द हो गया है) और

'हप्तहिंदव' आदि रूप में मिलते हैं। प्राचीन ईरानी साहित्य में 'हिंदु' शब्द नदी के अर्थ में तो प्रयुक्त हुआ ही, साथ ही सिंधु नदी के पास के प्रदेश के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। उस समय ईरान वालों के पास भारत की भूमि के लिए केवल वही एक शब्द था, अत: धीरे-धीरे ईरानी भारत के जितने भी भाग से परिचित होते गए, उसे वे इसी नाम से अभिहित करते गए। इस प्रकार किसी अन्य शब्द के अभाव में इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया और 'सिंधु नदी के पास की भूमि का वाचक' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। ईरानी सम्राट द्वारा (प्राचीन रूप दारय-वहु, सं. धारयद्वसु) के अभिलेखों में 'भारत' के लिए 'हिंदु' आया है। सूसा के राज-महल के अभिलेख में आता है: पिरुशह्या इदा क्रत हचा कुश उता हिंदौव उता हचा हर-उतिया अयरिय्। अर्थात राजमहल के लिए हाथीदांत, जिस पर यहां काम किया गया, कुश (संभवत: अबीसीनिया), हिंदु (भारत), और हरह्वैती (सं. सरस्वती, कदाचित् सीमाप्रांत) से लाया गया। अवेस्ता ग्रंथ वेंदीदाद (1.18) में हत्त-हिंदु (सप्तसिंधु) को सोलह पवित्र स्थानों में एक माना गया है। यस्न (57.29) में भी 'हिंदु' शब्द भारत के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन ईरानी साहित्य में हिंदुश (यूनानी शब्द Indos यही है), हिंदु', हिंदुवअ (सं. सिंधुव्य-सिंधुवासी) आदि के अनेक ऐसे अन्य प्रयोग भी मिलते हैं। 'हिंदु' शब्द में धीरे-धीरे यह आर्थिक विकास (सिंध प्रदेश' से बढ़कर 'भारत') तो हुआ ही, साथ ही इसमें ध्वनिक विकास भी हुआ और इसमें 'इ' पर बलाघात होने के कारण अंत्य 'उ' लुप्त हो गया, और इस प्रकार यह शब्द 'हिंदु' से हिंद' हो गया। आगे चलकर 'हिंद' शब्द में ईरानी के विशेषणार्थक प्रत्यय 'ईक' जुड़ने से हिंदीक[2] शब्द बना, जिसका अर्थ था 'हिंद का'। इसी 'हिंदीक' का विकास ('क' के लुप्त हो जाने के कारण) 'हिंदी' के रूप में हुआ। इस प्रकार 'हिंदी' का मूल अर्थ है 'हिंद का' या 'भारतीय'। इस अर्थ में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग मध्यकालीन फ़ारसी तथा अरबी आदि में अनेक स्थलों पर हुआ है। उदाहरणार्थ, अरबी में 'तमर' का अर्थ है 'सूखी खजूर'।

---

1. प्राचीन चीनी साहित्य में 'शिटु' (परिवर्ती साहित्य में 'इंतु') को देवों का देश कहा गया है, यह भी सिंधु' ही है। भारत में, भारत के लिए प्राचीनतम नाम मातृभूमि (अथर्ववेद) है। भारतवर्ष (महाभारत), भारत (विष्णु पुराण) 'भरतखण्ड, जंबुद्वीप (बौद्ध ग्रंथ), कुमारी द्वीप (परवर्ती पुराण) बाद में मिलते हैं। 'हिंदु' पर आधारित नाम भारत में प्रथम बार कदाचित् जैन ग्रंथ 'निशीथ चूर्णि' में 'एहि हिंदुगदेसं वच्चाओ' 7वीं सदी अंतिम चरण) में आता है।
2. यही 'हिंदीक' शब्द अरबी होता है, ग्रीक में 'इंदिक' 'इंदिका', लैटिन में 'इंदिया' तथा अंग्रेजी आदि में 'इण्डिआ' हुआ। चीनी साहित्य में कभी-कभार प्रयुक्त 'इंतुको' भी यही है।

इससे कुछ मिलते-जुलते होने का कारण उन लोगों ने 'इमली' को (जिसका परिचय उन्हें भारत से ही प्राप्त हुआ था) 'तमर-हिंदी' या 'तमर-ए-हिंद'[1] कहा। विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त 'हिंदी' शब्द संज्ञा रूप में भी बहुत-सी भाषाओं में प्रयुक्त होता रहा है। उदाहरणार्थ, फ़ारसी तथा अरबी में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग विशेष प्रकार की तलवार के लिए (जो भारतीय इस्पात की बनी होती थी या भारत से जाती थी) तथा तलवार के वार के लिए भी होता रहा है। मिस्र में मलमल (जो भारत से जाती थी) के लिए 'हिंदी' शब्द चलता रहा है। भारतीयों के काला होने के कारण फ़ारसी में 'हिंदू' का अर्थ 'काला' है। कभी भारतीयों से उनकी अनबन भी थी, इसी कारण फ़ारसी में 'हिंदू' के अन्य अर्थ 'डाकू' आदि भी हैं।

भाषा के अर्थ में 'हिंदी' और उसका विकास

भाषा के लिए 'हिंदी शब्द का प्रयोग भी फ़ारस और अरब से ही आरम्भ होता है। छठी सदी ई. के कुछ पूर्व से ही ईरान में 'जबान-ए-हिंदी' का प्रयोग भारत की भाषाओं के लिए होता रहा है। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण उल्लेख्य हैं: (1) ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवाँ (531-579 ई.) ने अपने दरबार के प्रमुख विद्वान हकीम बजरोया को 'पंचतंत्र' का अनुवाद कर लाने के लिए भारत भेजा था। बजरोया ने यह काम पूरा किया। 'कर्कटक और दमनक' के आधार पर उसने इस अनुवाद का नाम 'कलीला व दिम्ना' रखा। इसकी भूमिका नौशेरवाँ के मंत्री बुजर्च मिहर ने लिखी। भूमिका में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि यह अनुवाद 'जबाने हिंदी' से किया गया है। यहां स्पष्ट ही 'जबाने हिंदी' का प्रयोग 'भारतीय भाषा' या 'संस्कृत' के लिए है। (2) इस पहलवी अनुवाद से इस पुस्तक के अरबी गद्य तथा पद्य में कई नामों से कई अनुवाद हुए। 9वीं सदी तक के प्राय: सभी अनुवादों में मूल पुस्तक को 'जबाने हिंदी' का कहा गया है। उदाहरणार्थ, 700 ई. के आस-पास में किए गए अब्दुल्ला इब्नुल मुक़फ़्फ़ा के अनुवाद में, इब्न मक़ना के अनुवाद में, तथा 'जावेदाने ख़िरद' नाम से 813 ई. में इब्न सुहेल द्वारा किए गए अनुवाद में। (3) महाभारत के भी कुछ भागों का रूपान्तर पहलवी भाषा में 7वीं सदी में किया गया था। उसमें भी मूल भाषा को 'जबाने हिंदी' कहा गया। (4) 1227 में मिनहाजुस्सिराज भारत आया था। इसने अपनी पुस्तक 'तबकाते नासिरी' में लिखा है कि 'जबाने हिंदी' में

---

1. यही शब्द अंग्रेजी में टैमरिंड (Tamarind = इमली) है।

बिहार का अर्थ 'मदरसा' है। स्पष्ट ही यहाँ 'जबाने हिंदी' का प्रयोग संस्कृत के लिए न होकर या तो सामान्य भारतीय भाषा के अर्थ में है, या फिर भारत के 'मध्य भाग की भाषा' (कदाचित् 'हिदुवी या हिंदी') के लिए। (5) 1333 ई. में इब्न बतूता अपने 'रेहला इब्न नतूता' में तारन नगर के संबंध में लिखता है– 'किताबत अला बाज अलजदरात बिल हिंदी' अर्थात कुछ दीवारों पर हिंदी में लिखा था। भाषा के अर्थ में स्वतंत्रत: 'हिंदी' शब्द का विदेशों में यह कदाचित् प्राचीनतम प्रयोग है, यद्यपि यह नाम आज की 'हिंदी' के लिए न होकर संस्कृत के लिए है। (6) तैमूरलंग के पोते के काल में (1424 ई.) शरफुदीन यज़्दी ने तैमूर और उसके परिवार के संबंध में 'जफ़रनामा' नामक ग्रंथ लिखा। इसमें एक स्थान पर आता है कि 'राव' हिंदी शब्द है। विदेशों में 'हिंदी भाषा' के लिए 'हिंदी' शब्द का सम्भवत: यह प्रथम प्रयोग है।

भारतवर्ष में भी भाषा के अर्थ में 'हिंदी' शब्द के प्रयोग का प्रारंभ मुसलमानों द्वारा ही किया गया। भारतीय परंपरा में 'प्रचलित भाषा' के लिए प्राचीन काल से ही 'भाषा' शब्द का प्रयोग होता आया है। इसका प्रयोग क्रम से संस्कृत, प्राकृत तथा बाद में हिंदी आदि के लिए हुआ। 'सो देख कै बनमाली शिष्यार्थ भाषा टीका कीन्ह' (1438 में लिखित 'भास्वती की भाषा-टीका)। 'संस्कृत कबिरा कूप-जल भाषा बहता नीर'– कबीर; 'आदि अंत जसि कथ्था अहै, लिखि भाषा चौपाई कहै।'– जायसी; 'भाषा भनति मोर मति थोरी' तुलसीदास; 'भाषा निबद्ध मति मंजुल' तुलसी; 'भाषा बोल न जानहीं जेहि के कुल के दास'– केशवदास। संस्कृत आदि के ग्रंथों की हिंदी टीकाओं में 'भाषा-टीका' रूप में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रामप्रसाद निरंजनी कृत 'भाषा योगवासिष्ठ' (1741) ई.), 19 फरवरी 1802 को फ़ोर्ट विलियम कॉलिज द्वारा 'भाषा मुंशी' की मांग की स्वीकृति, तथा लल्लूलाल को उक्त कॉलिज के कागज़ों में 'भाषा मुंशी' कहे जाने से पता चलता है, कि हिंदी के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग आधुनिक काल तक चलता रहा है। संस्कृत के टीका ग्रन्थों में तो यह अब भी चल रहा है। पुरानी पीढ़ी के पंडित 'हिंदी टीका' न कहकर 'भाषा टीका' ही कहते हैं।

मुसलमान यहाँ आए तो यहाँ की भाषा को 'ज़बाने हिंदी' कहने लगे। उनका विशेष संबंध मध्यप्रदेश से था अत: धीरे धीरे इसकी मध्यदेशीय बोली के लिए उन्होंने 'ज़बाने हिंदी' या 'हिंदी ज़बान' या 'हिंदी' नाम का प्रयोग किया। आरंभ में इस नाम के अंतर्गत पंजाबी (कम-से-कम पूर्वी) भी कदाचित् आती थी।

'हिंदी' नाम का भारत में प्रथम प्रयोग कब किसने किया, यह अभी तक अनुसंधान का विषय है। प्राय: यही कहा जाता है कि अमीर खुसरो में सबसे पहले 'हिंदी' शब्द हिंदी भाषा के लिए मिलता है। मैं समझता हूं कि भाषा के अर्थ में खुसरो में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग संदिग्ध है। उन्होंने 'हिंदी' शब्द का प्रयोग 'भारतीय मुसलमानों' या 'भारतीय' (इलिअट 3-8.539) के लिए ही किया है। यहाँ बहुत विस्तार से इस विषय को लेना संभव नहीं है, किन्तु संक्षेप में कुछ बातें कही जा सकती हैं। इस संबंध में सबसे बड़ा तर्क तो यह दिया जाता है कि खुसरो लिखित 'ख़ालिकबारी' में 'हिंदी' शब्द कई बार आया है। वस्तुत: 'खालिकबारी' खुसरो की रचना नहीं है, वह खुसरो के बहुत बाद के किसी 'खुसरो शाह' की रचना है। इसके लिए कई तर्क दिए जा सकते हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं: (क) अमीर खुसरो जैसे विद्वान् की रचना आदि 'ख़ालिकबारी– होती तो वह पर्याप्त व्यवस्थित होती, जबकि 'ख़ालिकबारी' बहुत ही अव्यवस्थित है। कभी फ़ारसी शब्दों के समानार्थी हिंदी शब्दादि दिए गए हैं, तो कभी वाक्यों के समानार्थी वाक्य। भाषा सीखने की दृष्टि से इन वाक्यों या शब्दों में कोई भी एकरूपता नहीं है। जो शब्द लिए गए हैं, उनमें सब ऐसे नहीं हैं, जिनको भाषा के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए आवश्यक समझा जाय, साथ ही प्रारम्भिक ज्ञान के लिए बहुत से अत्यंत महत्वपूर्ण शब्द छूट गए हैं। जो वाक्य दिए गए हैं, वे भी तुक या छंद बैठाने की दृष्टि से लिए गए ज्ञात होते हैं। भाषा के प्रारंभिक ज्ञान की दृष्टि से उनका प्राय: बिल्कुल भी मूल्य नहीं है। कारक, काल-रचना आदि की दृष्टि से भी वे महत्व नहीं रखते। (ख) छंदों का बिना किसी योजना के परिवर्तन और कहीं-कहीं उनमें अप्रवाह या दोष भी 'ख़ालिकबारी' को महाकवि खुसरो की रचना मानने में व्याघात उपस्थित करते हैं। (ग) बीच में आता है– 'तुर्की जानी ना'। तुर्की का विद्वान खुसरो यह लिखे कि उसे अमुक शब्द की तुर्की नहीं आती, यह बात कल्पनातीत है। यों सभी शब्दों के लिए तुर्की शब्द दिए भी नहीं गए हैं। अत: ऐसा कथन बड़ा निरर्थक-सा लगता है। यह बात भी 'ख़ालिकबारी' को अमीर खुसरो से सम्बद्ध करने में अड़चन डालती है। (घ) 'ख़ालिकबारी' के अंत में आता है 'गदा भिखारी खुसरो शाह', यहाँ भी आपत्ति उठाई जा सकती है कि 'शाह' क्यों कहा? खुसरो के समय तक नामों के साथ इसे जोड़ने की परम्परा नहीं मिलती। (ङ) शब्दों की गलतियां भी हैं। हिंदी 'काना' के लिए फ़ारसी शब्द 'कोर' दिया गया है, जबकि 'कोर' का अर्थ 'अंधा' होता है। 'तिदर्थ', 'कुवक' और 'हंस' को एक माना है, जबकि तीनों अलग अलग हैं। 'तीतर' के लिए एक स्थान पर 'दुर्राज' तथा अन्यत्र 'लगलग' दिया गया है। 'ख़ालिकबारी' से इस तरह की अशुद्धियों के अनेक उदाहरण दिए

जा सकते हैं। ऐसी भद्दी गलतियाँ खुसरो नहीं कर सकते, और न ऐसी कम योग्यता के आदमी को, जैसा कि 'ख़ालिकबारी' का लेखक लगता है, ग़यासुद्दीन तुगलक अपने लड़के को हिंदी पढ़ाने के लिए पुस्तक लिखने का आदेश ही दे सकते हैं। (कहा जाता है कि ग़यासुद्दीन तुगलक के कहने से अमीर खुसरो ने उनके लड़कों को हिंदी पढ़ाने के लिए इसे लिखा था।) उपर्युक्त बातों को देखते हुए यह कहना उचित नहीं लगता कि 'ख़ालिकबारी' खुसरो की रचना है। ऐसी स्थिति में 'हिन्दी' शब्द का खुसरो द्वारा प्रयोग 'ख़ालिकबारी' के आधार पर नहीं माना जा सकता। दूसरे प्रमाण के रूप में खुसरो का एक वाक्य उद्धृत किया जाता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि मैंने फ़ारसी के साथ-साथ हिंदी में भी चंद नज्में कहीं 'जुज्वे चंद नज्में हिंदी नीज नजेदोस्ताँ करदा शुदा अस्त।' वस्तुत: यह वाक्य उनके किसी भी प्रामाणिक संस्करण में नहीं आया है। 'देवल देवी ख़िज्र खाँ' मसनवी से कुछ लोगों ने उद्धरण दिए हैं, किन्तु वहाँ भी मूलत: 'हिंदुवी' का प्रयोग है न कि 'हिंदी' का। इनके अतिरिक्त खुसरो द्वारा भाषा के अर्थ में 'हिंदी' शब्द के प्रयोग का कोई अन्य प्रमाण देखने में नहीं आया। यों भाषा के अर्थ में 'हिंदुवी' या 'हिन्दुई' शब्द का प्रयोग खुसरो में कई स्थलों पर मिलता है। एक स्थान पर वे कहते हैं: 'तुर्क हिंदुस्तानियम मन हिंदवी गोयम जवाब' अर्थात् 'मैं हिंदुस्तानी तुर्क हूँ, हिंदवी में जवाब देता हूं।' उनकी मसनवियों में भी यह शब्द एकाधिक स्थलों पर आया है। इस प्रकार खुसरो के द्वारा 'हिंदी' नाम के प्रयोग की बात बहुत प्रामाणिक नहीं ज्ञात होती। हां, यह अवश्य अनुमान है, कि उनके कुछ ही बाद इस शब्द का भाषा के अर्थ में प्रयोग प्रारम्भ हो गया।

यह प्राय: कहा गया है कि 'हिंदी' और 'हिंदवी' शब्द एक ही अर्थ रखते थे, और एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते थे। किन्तु मुझे यह बात ठीक नहीं ज्ञात होती। एक ही भाषा के लिए बिना किसी विशेष कारण दो नामों का साथ साथ उत्पन्न होना और बिल्कुल ही एक अर्थ में चलना कुछ जंचता नहीं। मुझे ऐसा लगता है आरम्भ में ये दोनों शब्द भिन्नार्थी थे। ऊपर कहा गया है खुसरो ने 'हिंदी' शब्द का प्रयोग भारतीय मुसलमानों के लिए किया है, और 'हिंदवी' शब्द का 'मध्यदेशीय भषा' के लिए। यह 'हिंदवी' शब्द वस्तुत: 'हिन्दुवी' या 'हिन्दुई' है। हिंदू + ई = अर्थात् हिन्दुओं की भाषा। 'हिंदुवी' शब्द के प्रयोग के कुछ दिन बाद 'हिंदी' (अर्थात् भारतीय मुसलमानों) की भाषा के लिए कदाचित् 'हिंदी' शब्द चल पड़ा। 'हिंदुवी' या 'हिंदवी' तो वह भाषा थी, जो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित थी और मध्यप्रदेश में सहज रूप से प्रयुक्त हो रही थी। हिंदी अर्थात् 'भारत के मुसलमानों' ने भी

कारणों से उनकी भाषा में अरबी, फ़ारसी, तुर्की के शब्द अधिक थे। इसी भाषा के लिए आरंभ में कदाचित् 'हिंदी' शब्द चला। इस प्रकार 'हिंदवी' शब्द पुराना है और 'हिंदी' अपेक्षाकृत बाद का। साथ ही मूलत: दोनों में कुछ अंतर भी है। शुद्ध हिंदी में लिखने वाले पुराने कवियों तथा लेखकों ने संभवत: इसी कारण अपनी भाषा को प्राय: 'हिन्दवी' ही कहा है– 'तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि। जामें मारग प्रेम का, सबें सराहैं ताहि।'– जायसी। श्रीपरकासदास (1666 ई.) के अंबेर के दीवान को लिखे गए पत्र, तुलसी के फ़ारसी पंचनामे, जटमल की गोरा-बादल की काया तथा इंशा अल्ला खां की रानी केतकी की कहानी में भी हिंदवी शब्द ही मिलता है, 'हिंदी' नहीं।

किन्तु ऐसा लगता है कि यह भेद अधिक दिनों तक चला नहीं। अरबी-फ़ारसी-तुर्की के बहुत-से आम-फ़हम शब्द हिन्दवी में आ गए, और दूसरी ओर हिन्दुओं एवं भारतीय वातावरण के प्रभाव से पर्याप्त भारतीय शब्द मुसलमानों की भाषा में भी गृहीत हो गए, और हिंदी-हिन्दवी दोनों ही शब्द प्राय: (किंतु पूर्णत: नहीं) समानार्थी हो गए। यों कुछ विशेष प्रयोगों में इन शब्दों के मूल अर्थ भी लगभग 18वीं सदी उत्तरार्द्ध तक या उसके भी बाद चलते रहे। हातिम (18वीं सदी उत्तरार्द्ध) ने 'दीवानजादे' के दीबाचे में लिखा है, "जबान हर दयार ता बहिन्दवी, कि आँरा भाका गोयन्द...।" इससे स्पष्ट है कि 'हिन्दवी' और भाषा प्राय: एक थीं। उसी के कुछ दिन बाद 'तज़किर: मखजन उल्गरायब' में लिखा मिलता है, "दर ज़बाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त।" अर्थात् हिंदी में जिससे मतलब उर्दू है। किन्तु जैसा कि संकेत किया गया है, तथा आगे भी कुछ उदाहरणों से स्पष्ट होगा, इस प्रकार का अंतर सर्वत्र नहीं किया गया है। चंद्रबली पांडे ने यह दिखाने का (उर्दू का रहस्य, पृष्ठ 40-48) प्रयास किया है कि 'हिंदवी' हिन्दुओं की भाषा नहीं थी, इसी आधार पर डॉ. उदयनारायण तिवारी (हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, प्रथम संस्करण, पृ. 184) ने भी कदाचित् इसे स्वीकार कर लिया है, किन्तु पांडेजी के तर्क वस्तुत: उनके मत को प्रमाणित करने में समर्थ नहीं दिखते।

'हिंदी' शब्द के प्रारंभिक प्रयोग जब भी और जिसके भी द्वारा हुए हों, इसके अविच्छिन्न प्रयोग की प्राचीन परंपरा 'दक्खिनी' या 'दक्खिनी हिंदी' के कवियों एवं गद्यकारों में ही मिलती है। उदाहरणार्थ: (1) शाही मीराजी (1457 ई.)– यों देखत हिंदी बोल। (2) शाह बुर्हानुद्दीन (1582 ई.))- ऐब न राखें हिंदी बोल (इर्शादनामा में)। (3) मुल्ला वजही (1635 ई.)- हिंदोस्तान में। हिंदी जबान सों (सबरस की भूमिका में)। (4) जुनूनी (1690

ई.)- मैं इसको दर हिंदी जबाँ इस वास्ते कहने लगा। (मौलाना रूम के 'मोज़जा' के अनुवाद में)। इसके साथ-साथ 'हिंदवी' शब्द भी प्रयुक्त हो रहा था। 7वीं सदी से 'हिंदी' शब्द उत्तर भारत में भी अविच्छिन्न रूप से मिलने लगता है। उदाहरणार्थ, खफ़ी खाँ के 'मुंतख़बुल्लबाब' (17वीं सदी उत्तरार्द्ध), मिर्जा खाँ के 'तुहफ़तुल हिंद' (1676 ई.), बरकतुल्ला प्रेमी के 'अवारफ़े हिंदी' (लगभग 1700 ई.) तथा 'मआसिरुल उमरा' (1742-1747) आदि में। हिंदी कवियों में 1773 ई. में सूफी कवि नूर मुहम्मद ने लिखा है– "हिंदू मग पर पांव न राख्यौ। का जो बहुतै हिंदी भाख्यौं।" इससे संकेत यह मिलता है, कि इस काल तक आते-आते हिंदी शब्द कुछ-कुछ हिंदुओं की भाषा की ओर झुक रहे थे, और इसमें से हिंदुओं की शब्दावली निकालकर, फ़ारसी शब्दों के आधार पर उर्दू की नींव पड़ रही थी। 1800 के लगभग गुरादशाह लिखते हैं:

झिंझोड़ा फ़ारसी के उस्तख़्वाँ को
किया पुर मग़्ज़ तब हिंदी जबाँ को।
फ़साहत फ़ारसी से जब निकाली
लताफ़त शेर में हिंदी के डाली।

यों जैसा कि हम आगे देखेंगे, 'हिंदी' शब्द का प्रयोग इसके विरुद्ध सामान्य अर्थों में लगभग 19वीं सदी के मध्य तक मिलता है।

यह ध्यातव्य है कि यद्यपि 'हिंदवी' या 'हिंदी' का प्रयोग मध्यदेश की जनभाषा के लिए चल रहा था, और वह उत्तर भारत से दक्षिण भारत में भी जा पहुंचा था, किंतु इसका स्वीकृत भाषा में अकबर के काल तक नाम नहीं मिलता। अमरी खुसरो ने अपने ग्रंथ 'नुहसिपर' में उस काल की प्रसिद्ध ग्यारह भाषाओं का उल्लेख किया है (सिंधी, लाहौरी, कश्मीरी, बंगाली, गौड़ी, गुजराती, तिलंगी, मावरी (कोकंणी), ध्रुव समुंदरी, अवधी, देहलवी), किन्तु इनमें 'हिंदवी' या 'हिंदी नहीं है। अबुल फ़जल की 'आइने अकबरी' में दी गई 12 भाषाओं (देहलवी, बंगाली, मुलतानी, मारवाड़ी, गुजराती, तिलंगा, मरहठी, कर्नाटकी, सिंधी, अफ़गानी, बलूचिस्तानी, कश्मीरी) में भी इनका नाम नहीं आता। हाँ, एक बात अवश्य विचार्य है। खुसरो और अबुल फ़जल दोनों ही ने 'देहलवी' का उल्लेख किया है, और मध्यप्रदेश की कोई और भाषा नहीं ली है। इसका आशय यह हुआ कि खुसरो से लेकर अबुल फ़जल के काल तक इस भाषा का स्वीकृत नाम शायद देहलवी ही था। अन्य नाम

हिंदवी, हिंदी कदाचित केवल साहित्य तक ही सीमित थे।

ऊपर यह संकेत दिया जा चुका है कि 'हिंदी' शब्द मूलत: मुसलमानों की हिंदी के लिए प्रयुक्त होकर, फिर हिंदुओं की भाषा की ओर आ रहा था। किंतु 19वीं सदी के मध्य के पूर्व तक उर्दू के लेखकों में प्राय: इसका प्रयोग 'उर्दू' या 'रेख़्ता' के समानार्थी रूप में चल रहा था। हातिम (18वीं सदी उत्तरार्द्ध), नासिख, सौदा (1713-1780 ई.), (1719-1958 ई.) आदि ने एकाधिक बार अपने शेरों को 'हिंदी' शेर कहा है। ग़ालिब ने अपने खतों में 'उर्दू', 'हिंदी' तथा 'रेख़्ता' को कई स्थलों पर समानार्थी शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है। 1803 ई. में लिखित 'तज़किर: मख़ज़न उल्ग़रायब' में आता है- 'दर जबाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त।' फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिंदी के अध्यापक गिलक्राइस्ट के लेखों से पता चलता है कि वे हिंदी, हिंदुस्तानी, उर्दू तथा रेख़्ता आदि को समानार्थी समझते थे। किन्तु उनकी दृष्टि में इनका परिनिष्ठित रूप अरबी-फारसी मिश्रित था, अर्थात् उनकी हिंदी आज की दृष्टि से उर्दू थी। 1820 में उनकी एक किताब निकली जिसका नाम था– "कवानीन सर्फ़ व नहो हिंदी'। पुस्तक पर अंग्रेजी में लिखा था- 'Rules of Hindee Grammar' । पुस्तक के भीतर सर्वत्र ही 'हिंदी' या 'रेख़्ता' शब्द का प्रयोग है, किन्तु व्याकरण उर्दू का है। इसकी भाषा भी अरबी-फ़ारसी शब्दों से लदी है, जैसा कि नाम (कवानीन सर्फ़ व नहो हिंदी) से भी स्पष्ट है। इस तरह गिलक्राइस्ट भी 'हिंदी' शब्द का प्रयोग 'उर्दू' के अर्थ में ही करते हैं। आशय यह है कि 1800 के आसपास 'हिंदी' शब्द का प्रयोग 'उर्दू' तथा 'रेख़्ता' के लिए हो रहा था।"

'हिंदी' शब्द के आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त होने का इतिहास बड़ा विचित्र है। पीछे के नूर मुहम्मद तथा मुरादशाह के उद्धरणों से इस बात का कुछ संकेत मिलता है, कि कभी-कभी उसका प्रयोग हिंदुओं की भाषा या अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों से रहित मध्यदेशीय भाषा के लिए होता था, किन्तु ऐसे प्रयोग प्राय: अपवादस्वरूप हैं। प्राय: 'हिंदी' का प्रयोग उस भाषा के लिए मिलता है, जो अरबी-फ़ारसी से भरती जा रही थी या जो वह भाषा थी, जो बाद में विकसित होकर 'उर्दू' कहलाई। जनता में 19वीं सदी के प्राय: मध्य तक, कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी का इसी अर्थ में प्रयोग मिलता है।

आधुनिक अर्थ में 'हिंदी' शब्द के व्यापक प्रयोग का श्रेय मूलत: अंग्रेजों को है। 1800 ई. में कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना हुई। वहां गिलक्राइस्ट हिंदी या

हिंदुस्तानी के अध्यापक नियुक्त हुए। यदि गिलक्राइस्ट ने मध्यदेश की वास्तविक प्रतिनिधि भाषा को, जो न तो अधिक अरबी-फ़ारसी की ओर झुकी हुई थी, और न संस्कृत की ओर, अपनाया होता, तो आज हिंदी-उर्दू नाम की दो भाषाएं न होतीं, और हिंदी भाषा एवं उसके साहित्य का नक्शा कुछ और ही होता। किन्तु उनकी हिंदी (जैसा कि उनके हिंदी-व्याकरण के नाम (क़वानीन सर्फ़ व नहो हिंदी) से स्पष्ट है, कि वह बहुत ही कठिन उर्दू थी। वे 1904 तक तो अध्यापक रहे, अत: वही भाषा हिंदी कही जाती रही। किन्तु वहां के कर्मचारियों का ध्यान इस बात की ओर गया कि प्रतिनिधि भाषा वह नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि 'हिंदुस्तानी' शब्द तो अरबी-फ़ारसी शब्दों से युक्त गिलक्राइस्ट की हिंदी (जो वस्तुत: उर्दू थी) के लिए प्रयुक्त होने लगा, और 'हिंदी' शब्द हिन्दुओं में प्रयुक्त संस्कृत मिश्रित भाषा के लिए। इस अर्थ में 'हिंदी' शब्द की परंपरा प्राप्त साहित्य में कहीं-कहीं ही मिली है। संभव है जनता में इस अर्थ में उस समय 'हिंदी' नाम का कुछ अधिक प्रचार रहा हो, जहां से अंग्रेजों ने उसे ले लिया हो। इस नवीन अर्थ में हिंदी का स्पष्ट रूप से लिखित प्रयोग कदाचित् सर्वप्रथम कैप्टिन टेलर ने किया: 1812 में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के वार्षिक विवरण में वे कहते हैं, **मैं केवल हिंदुस्तानी या रेख़्ता का जिक्र कर रहा हूं, जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है... मैं हिंदी का जिक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपि है... जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमण से पहले जो भारतवर्ष के समस्त उत्तर-पश्चिम प्रांत की भाषा थी।** (Imperial Records, Vol. IV, पृष्ठ 276-77) इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उस समय तक हिंदी शब्द इस अर्थ में कम-से-कम कॉलिज के लोगों में[1] कुछ समझा जाने लगा था, किन्तु बहुत अधिक नहीं, क्योंकि उसे 'हिंदुस्तानी' या रेख़्ता से अलग स्पष्ट करने की आवश्यकता अभी समाप्त नहीं हुई थी, जैसा कि टेलर के कथन से स्पष्ट है। कॉलिज में हिंदी-उर्दू (या हिंदुस्तानी) का यह अलगाव बढ़ता ही गया। 1824 में उक्त कॉलिज के हिंदी प्रोफेसर विलियम प्राइस ने स्पष्ट शब्दों में हिंदी के लगभग सभी शब्दों के संस्कृत होने की बात कही, तथा हिंदुस्तानी के शब्दों में अरबी-फ़ारसी होने की। 1825 में कॉलिज के वार्षिक अधिवेशन के भाषण में लार्ड हेमहर्स्ट ने हिंदी भाषा को हिंदुओं से संबद्ध कहा, तथा 'उर्दू' को उनके लिए उतनी ही विदेशी कहा जितनी 'अंग्रेजी'। इस

---

1. शासन के लोगों में इस रूप में प्रयुक्त होने पर भी 'हिंदी' शब्द 'उर्दू' के अर्थ में साहित्यिकों तथा जनता आदि में 19वीं सदी के लगभग मध्य तक चलता रहा। गालिब ने अपने पत्रों में हिंदी, उर्दू और रेख़्ता को प्राय: समान अर्थों में प्रयुक्त किया है।

प्रकार अंग्रेजों ने, चाहे जिस नीयत से भी किया हो, 19वीं सदी के प्रथम 25 वर्षों में, एक ओर 'हिंदवी' या 'हिंदी-देवनागरी-संस्कृत-हिंदू' शब्दों को जोड़ दिया, तो दूसरी ओर हिंदुस्तानी-रेख़्ता या उर्दू-फ़ारसी लिपि अरबी-फ़ारसी शब्द- 'मुसलमान' को। संभवत: शासन के ही इशारे पर। 1862 में हिंदी-उर्दू का प्रश्न शिक्षा के संयोजकों के समक्ष आया और इस प्रकार 'हिंदी' आजकल के अर्थ में निश्चित रूप से स्वीकृत हो गई। उर्दू और हिंदी भाषा को लेकर उस काल में कितनी गरमागरमी थी, इसके चित्र 'सितारे हिंद' और 'भारतेंदु' उपाधि की अंत:कथा में मूर्तिमान हैं।

भाषा के अर्थ में 'हिंदी' शब्द के विकास के प्रमुख काल

ऊपर हमने 'हिंदी' शब्द के लंबे इतिहास को देखा। 1850 के बाद भी उसके अर्थ में संकोच और विस्तार होता रहा है। यहाँ संक्षेप में उसके विकास के प्रमुख कालों को देखा जा सकता है। समवेत रूप से इसके विकास के इतिहास को **चार कालों** में विभाजित किया जा सकता है–

(1) **पहला** काल वह है जब यह शब्द विदेश में था और विशेषण (जबाने हिंदी) या संज्ञा (हिंदी) के रूप में भारतीय भाषाओं के लिए प्रयुक्त हो रहा था।

(2) **दूसरा** काल वह है जब यह भारत में आया और खुसरो के समय के आस-पास, 'हिंदवी' के प्रयोग में आने के बाद मुसलमानों की 'हिंदवी' के लिए (हिंदुओं की नहीं) प्रयुक्त होने लगा।

(3) **तीसरे** काल में उत्तर तथा दक्षिण भारत में यह 'हिंदवी' एवं 'दक्खिनी' का लगभग समानार्थी होकर मध्यदेशीय भारतीय भाषा के लिए प्रयुक्त हो रहा था। इस काल में सामान्यत: 'हिंदी' शब्द हिंदवी' का समानार्थी तो था, किन्तु विभिन्न प्रयोगों पर दृष्टि डालने से ऐसे संकेत मिलते हैं, कि 'हिंदवी' शब्द हिंदुओं की 'हिंदी' की ओर, तथा 'हिंदी' शब्द मुसलमानों की हिंदी की ओर करीब-करीब झुके हुए थे। हिंदू अपनी भाषा के लिए 'भाषा' के अतिरिक्त कभी-कभी यदि प्रयोग करते थे तो प्राय: 'हिंदवी' का। इस काल में, दक्षिणी भारत में, 'हिंदी' शब्द दक्खिनी का भी पर्याय था। इस काल के अंत में 'हिंदी' नाम अपने में उर्दू, रेख्ता, दक्खिनी या हिंदुस्तानी आदि को भी समाहित किए था। इस काल के पूर्वार्द्ध

में इस भाषा को 'देहलवी' (खुसरो तथा अबुल-फ़जल में) भी कहते थे। खुसरो ने 'लाहौरी' का अलग उल्लेख किया है, किन्तु अबुलफ़जल ने नहीं किया है। संभवत: उनके समय में पंजाबी भी देहलवी के अंतर्गत मानी जाती थी।

(4) **चौथा** काल 1800 ई. के बाद का है। लगभग गदर के काल तक जनता में **'हिंदी'** शब्द, कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय: पूर्ववर्ती अर्थ में ही प्रयुक्त हो रहा था, किन्तु फ़ोर्ट विलियम कॉलिज में तथा शासन के मस्तिष्क से वह हिंदुओं की भाषा का नाम था, जिसकी लिपि देवनागरी थी, तथा जिसका शब्द-समूह संस्कृत की ओर झुका था। 'हिंदी' नाम आज भी इस चौथे अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। यहां एक यह बात भी संकेत्य है कि उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि 1850 के पूर्व हिंदी शब्द के प्रयोग में वैज्ञानिक दो-टूकता नहीं थी। एक ही साथ कई अर्थों में इसके प्रयोग चल रहे थे। तीसरे काल में उल्लिखित यह बात कि संभवत: पंजाबी (पूर्वी) भी इसके अंतर्गत थी, इस चौथे काल में भी मिलती है, बल्कि इसका क्षेत्र और भी विस्तृत माना गया है। 1812 ई. में टेलर ने फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के वार्षिक विवरण में हिंदी का जो अर्थ बतलाया था, उससे भी ऐसा लगता है कि कम से कम पूर्वी पंजाबी हिंदी के अंतर्गत है। 1853 में बंबई के चीफ जस्टिस सर एरस्किन पेरी ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल के जनवरी के अंक में भारतीय भाषाओं के विभाजन पर एक लेख प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने सिंधी, पंजाबी, मुल्तानी को हिंदी की बोलियों के रूप में स्वीकार किया था। हां, इन्होंने मैथिली को हिंदी की बोली न मानकर बंगाली की बोली माना था। 19वीं सदी उत्तरार्द्ध के कुछ रूसी विद्वानों ने भी पंजाबी को हिंदी की एक बोली माना है। इस प्रसंग में एक और भी बात उल्लेख्य है। 1947, अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक की हिंदी को पहाड़ी उपभाषा में पश्चिमी तथा माध्यमिक पहाड़ी के अतिरिक्त पूर्वी पहाड़ी (या नेपाली) को भी स्थान दिया जाता था। यों नेपाली हिंदी के पर्याप्त निकट है, दोनों भाषाओं को जानने वाले इस बात से भली-भांति परिचित हैं। नेपाल में हिंदी-भाषी पर्याप्त संख्या में हैं, तथा वहां के अधिकांश लोग हिंदी समझते हैं। इसीलिए कुछ दिन तक यह भी सुना जा रहा था कि नेपाल भी अपनी राज्य-भाषा हिंदी को ही बनाएगा, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। नेपाल में हिंदी माध्यम से शिक्षा की भी व्यवस्था रही है, तथा वहाँ हिंदी में कुछ पत्र भी निकलते रहे हैं। किन्तु अब नेपाली को हिंदी के अंतर्गत नहीं माना जाता। इस तरह चौथे काल तक 'हिंदी' शब्द अपनी बोलियों के अतिरिक्त गलत या सही पंजाबी एवं नेपाली को भी अपने अंतर्गत समेटे था, और पेरी

'हिंदी' शब्द के आधुनिककालीन अर्थ

इस समय 'हिंदी' शब्द प्रमुखत: निम्नांकित पांच अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है–

(1) हिंदी साहित्य के इतिहास के ग्रंथों में 'हिंदी' शब्द का अर्थ है 'बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा तथा हिमाचल प्रदेश की भाषा।' यही हिंदी प्रदेश है। इस पूरे प्रदेश में लगभग 18 बोलियां हैं: **(क) राजस्थानी– 4** बोलियाँ (i) मेवाती-अहीरबाटी, (ii) मालवी, (iii) जयपुरी-हाड़ौती, (iv) मारवाड़ी-मेवाड़ी। **(ख) पश्चिमी हिंदी– 6** बोलियाँ: (i) हरियानी या बांगरू (ii) कौरवी, (iii) ब्रज, (iv) कनौजी, (v) बुंदेली, (vi) निमाड़ी। **(ग) पहाड़ी–** दो बोली वर्ग: (i) पश्चिमी पहाड़ी, (ii) कुमायूँनी-गढ़वाली। **(घ) पूर्वी हिंदी–3** बोलियाँ: (i) अवधी, (ii) बघेली, (iii) छत्तीसगढ़ी। **(ड़) बिहारी– 3** बोलियाँ: (i) भोजपुरी, (ii) मगही, (iii) मैथिली। हिंदी साहित्य के इतिहास में इन सभी बोलियों में प्राप्त साहित्य (जैसे डिंगल, ब्रज, खड़ीबोली, अवधी, मैथिली आदि), समाहित मिलता है। हिंदी का यही बहुप्रचलित अर्थ है। इसी अर्थ में 'हिंदी' बोलने वालों की संख्या (लगभग 40 करोड़) की दृष्टि से, विश्व में तीसरी भाषा (प्रथम अंग्रेजी, दूसरी चीनी) होने की बात की जाती है। सांस्कृतिक तथा व्यवहारिक दृष्टि 'हिंदी', शब्द का यह पर्याप्त व्यापक रूप या अर्थ है।

(2) कुछ लोग उपर्युक्त 18 बोलियों के अतिरिक्त उर्दू को भी, हिंदी की अरबी-फ़ारसी से प्रभावित एक शैली मानकर, हिंदी के अंतर्गत ही रखते हैं। वस्तुत: जहां तक कि रीढ़ की हड्डी, अर्थात् भाषा के व्याकरण का संबंध है, हिंदी और उर्दू दो नहीं हैं, भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उनको एक मानना ही उचित है। हिंदी का यह व्यापकतम अर्थ है।

(3) ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सर्वेक्षण में पश्चिमी और पूर्वी हिंदी को ही वस्तुत: हिंदी माना है। इसी कारण उन्होंने केवल इन्हीं दोनों (पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी) के साथ 'हिंदी' शब्द रखा है। अन्यों को पहाड़ी, राजस्थानी, बिहारी आदि अन्य नामों से अभिहित किया है। इस प्रकार उनके अनुसार भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हिंदी के अंतर्गत केवल 8-9 बोलियां हैं। 5-6 पश्चिमी हिंदी की और 3 पूर्वी हिंदी की। मैंने निमाड़ी को भी पश्चिमी हिंदी में माना है, अत: उसे भी जोड़ लें तो यह संख्या बढ़ जाएगी। शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हिंदी शब्द का यह अर्थ अशुद्ध नहीं कहा जा सकता।

(4) एक भाषाशास्त्रीय मत यह भी है कि केवल पश्चिमी हिंदी ही हिंदी के अंतर्गत है, अर्थात् हिंदी, केवल पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत आने वाली बोलियों के समूह का नाम है। ग्रियर्सन ने भी कभी इस मत को 1930 के लगभग व्यक्त किया था, किन्तु बाद में उन्होंने अपना यह मत वापिस ले लिया। डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी यह मत व्यक्त किया है, विशेषत: 1952 के बाद जब से वे हिंदी के राज्य या राष्ट्रभाषा होने के विरोधी हो गए थे। हिंदी जिसे वे (Proper Hindi कहते हैं) की वे दो शाखाएं मानते हैं– (1) आज की परिनिष्ठित हिंदी जिसकी हरियानी, तथा कौरवी बोलियाँ हैं। (2) ब्रजभाषा, बुंदेली तथा कनौजी, इन तीन बोलियों का समूह। (दे. The Language of India Madras, प्रथम संस्करण)। अन्य दृष्टियों की तो बात ही और है, भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी इस मत को ठीक नहीं कहा जा सकता। हिंदी के अंतर्गत और बोलियाँ भले न मानी जाएं किन्तु पश्चिमी-पूर्वी की बोलियां तो हैं ही। इस पर प्रश्नवाचक चिन्ह नहीं लगाया जा सकता।

(5) आज जब हम कहते हैं कि शिक्षा का माध्यम हिंदी हो, या हिंदी भारत की राजभाषा या राष्ट्रभाषा है, तो हमारा आशय न तो उपर्युक्त 18 बोलियों से होता है, और न 8 बोलियों से हमारा आशय होता है आज की 'परिनिष्ठित हिंदी' से जो प्रमुखत: खड़ीबोली पर आधारित है।

(6) सबसे छोटा अर्थ है हिंदी भाषा की एक बोली के रूप में हिंदी– अर्थात् उर्दू, हिंदुस्तानी से अलग। यह संकुचिततम (अर्थात् संस्कृतनिष्ठ हिंदी) है।

इन छह मतों में 6, 5, 3, 1 अर्थ ही अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है।

7

हिन्दी विभिन्न अंचलों से

-नीला, मंजु, वशिनी

बंबई की हिंदी 1. दिल्ली भारत का राजनीतिक केंद्र है तो बंबई भारत की अर्थव्यवस्था की रीढ़। इस कारण यहां भारत के सभी प्रदेशों के लोग रहते हैं। बंबई महाराष्ट्र की राजधानी है, इस कारण यहाँ मराठी भाषियों की बहुतायत है। इनके अलावा यहां गुजराती, दक्षिण की भाषाएं बोलने वाले, सिंधी, पंजाबी आदि हैं। इन सबके अंतरवर्गीय संपर्क की भाषा हिंदी है। बंबई में कई लाख हिंदी भाषी भी हैं। इनमें एक उपवर्ग पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से कई पीढ़ियों से यहां आकर बसे हुए मजदूरों और दूध और कोयले के व्यवसायियों का है और दूसरा उपवर्ग दफ्तरों और व्यापारिक संगठनों में कार्यरत शिक्षित नौकरी पेशे वालों का है, जिनकी संख्या आर्थिक विकास के साथ बढ़ती जा रही है। इस तरह समाज के हर स्तर के लोग हिंदी भाषा का प्रयोग करते हैं। ब.हि. में हिंदी की पूर्वी बोलियों के तत्व हैं और यह दो स्थानीय भाषाओं- मराठी और गुजराती- से प्रभाव ग्रहण कर एक लंबे अर्से में विकसित हुई है। बंबई के ज्यादातर घरेलू नौकर महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट के जिलों से आते हैं, इसलिए 'घाटी' कहलाते हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार के मजदूर और व्यापारी दूसरों को 'भैया' कह कर संबोधित करते हैं, इस कारण स्वयं 'भैया' कहलाते हैं। ब.हि. वास्तव में इन्हीं घाटियों और भैयाओं के संपर्क से निर्मित हिंदी की एक विशिष्ट शैली है। 2. उच्चारण तथा लेखन की विशेषताएँ: ब.हि. के मूल में एक तरफ हिंदी की पूर्वी बोलियाँ हैं, दूसरी तरफ मराठी और गुजराती इसके प्रभाव-स्रोत हैं। इन भाषाओं की स्वनिमिक रचना मानक हिंदी से अधिक भिन्न न होने के कारण ब.हि. में उच्चारण की विभिन्नता भी नहीं दिखायी पड़ती। तीनों आधारभूत भाषिक क्रोड़ों में सामान्य रूप से/ऐ औ/ का उच्चारण संध्यक्षर स्वर के समान होता है। इस कारण ब.हि. में /अइसा, कइसा, पइसा, अउरत, अउलाद/ आदि का ही उच्चारण होता है। कई शब्दों में, खासकर एकाक्षरिक शब्दों में, संध्यक्षर स्वर के विकल्प में अधिक उच्च स्वर का उच्चारण भी मिलता है. मैं /में, कौन /कोन/ इसके ही समान अंग्रेजी संध्यक्षर स्वर /आई/ भी मूल स्वर के रूप में उच्चरित होता है लाइन /लेन/, टाइम /टेम/। सभी शब्दों में /फ़/ का उच्चारण आधुनिक हिंदी की विशेषता है. इसी तरह उच्चारण में /ह/ का लोप तथा उसके

कारण शब्द के उच्चरित रूप में परिवर्तन भी हिंदी की विशेषता है। इसे *पोंचना* (पहुँचना), *भोत-बोत* (बहुत), *पेला* (पहला), *ठैर* (ठहर), *मूँ* (मुंह), *नई* (नहीं,) *पेनना* (पहनना), *पिचानना* (पहचानना), *लेंगा* (लहँगा) आदि शब्दों में देख सकते हैं। शब्द के दूसरे महाप्राण स्वन का अल्पप्राणीकरण मराठी की विशेषता है, जिसे ब.हि. में भी देख सकते हैं. *भूका, झूटा, धंदा, धोका*। /झ/ का /ज/ उच्चारण तथा /ज/ का /झ/ के रूप में लेखन मराठी-गुजराती भाषाओं के कारण है। मराठी भाषा में अग्र स्वरों में पहले वर्त्स्य /स/ तालव्य संघर्षी बन जाता है। /समश्या, सदश्य, रशीद, नशीब, शेठ/ आदि शब्दों का उच्चारण इस प्रभाव के कारण है। जहाँ उच्चारण की विशेषताएं एक ओर आंतरिक स्वन परिवर्तन या अन्य भाषाओं के कारण आती हैं, वहां दूसरी ओर भाषा के शिक्षित मान तथा तदनुसार मानकीकरण के अभाव में भाषा बाजारू बनती जाती है। ब.हि. में यह प्रवृत्ति भी है. किन्हीं शब्दों में यह प्रवृत्ति संरचनागत है, जैसे *पीछू, नीचू, देखकू* (देख के), *कू* (को) आदि का स्वन परिवर्तन; कई शब्दों में यह परिवर्तन अकारण है, जैसे मालम (मालूम), *एकला-इकल्ला* (अकेला), *सादी* (शादी), *जागा* (जगह), *सुबू* (सुबह), *नजिक* (नजदीक).

2.। प्राय: नामपट्टों, इश्तहारों में और पत्र-पत्रिकाओं में ब.हि. का लिखित रूप देखने को मिलता है, उसमें कई वर्तनी दोष दिखायी पड़ते हैं, जो ब.हि. की विशेषता है। /ज/ के लिए /झ/ ब.हि. की प्रमुख विशेषता है. (आझाद, झू, मझा, झेनिथ, बेकरीझ). मा.हि. में दो महाप्राण स्वनों का गुच्छ नहीं बनता– स्थानीय प्रभाव के कारण ब.हि. में *पथ्थर, चिठ्ठी, अठ्ठारह, शुध्ध* जैसे शब्द देखने को मिलते हैं। ह्रस्व-दीर्घ स्वरों के प्रयोग में वर्तनी-दोष ब.हि. की तीसरी सबसे बड़ी विशेषता है अनेक शब्दों में प्रारंभिक दीर्घ स्वर ह्रस्व लिखे जाते हैं (*दुसरा, तिसरा, इमान, ढुँढना*) और प्राय: सभी शब्दांत दीर्घ स्वर (ई ऊ) ह्रस्व लिखे जाते हैं.

3. रूप रचना संबंधी विशेषताएँ : 3.1. ब.हि. में क्रिया रचना का सरलीकरण दिखायी पड़ता है, निम्न स्तर की भाषा में तीनों पुरुषों और दोनों लिंगों में एक ही क्रिया रूप मिलता है, जैसे

अपन (मैं)	करता
तू, तुम	कियेला (किया)
वो	करेगा

विभिन्न वर्गों के वक्ताओं में अति सरलीकरण की इस स्थिति से लेकर मा.हि. के समस्त रूपों के प्रयोग तक का एक लंबा प्रयोक्ता-क्रम है, जिसमें कहीं लिंग की अन्विति दिखायी पड़ती है, कहीं वचन की; कहीं दो पुरुषों के क्रिया रूपों में अंतर है, कहीं तीनों में। इस प्रयोक्ता-क्रम को वर्ग-विशेष से जोड़ कर देखना संभव नहीं है। क्रिया रूपों से सहायक क्रिया /है/ का लोप कई जगह दिखायी पड़ता है। मराठी-गुजराती भाषाओं के प्रभाव के कारण 'करता-कर रहा' का अंतर प्रायः समाप्त हो जाता है। भूतकाल की क्रियाएँ आया, किया, देखा, पढ़ा आदि मा.हि. के समान हैं। मराठी-गुजराती के प्रभाव के कारण इनकी जगह *आयेला, कियेला, देखेला, पढ़ेला* आदि रूप विकल्प में मिलते हैं। मा. हि. में भूतकाल के रूप 'आया, किया' तथा कृदंत विशेषण के पूर्ण पक्ष के रूप 'आया (हुआ), किया (हुआ)' देखने में समान लगते हैं। उक्त दोनों भाषाओं में इन रूपों में रचना का अंतर है। आगे के उदाहरण देखिए-

मा.हि.	मराठी	गुजराती
पुस्तक गिरी	पुस्तक पडलं आहे	चोपड़ी पड़ी गयी
	(नपुंसक लिंग)	(स्त्रीलिंग)
गिरी हुई पुस्तक	पडलेलं पुस्तक	पडेली चोपड़ी
पुस्तक गिरी हुई है	पुस्तक पडलेलं आहे	चोपडी पडेली छे
लड़का गया	मुलगा गेला	छोकरो गयो
गया हुआ लड़का	गेलेला मुलगा	गयेलो छोकरो
लड़का गया हुआ है	मुलगा गेलेला आहे	छोकरो गयेलो छे
मैंने काम किया	मी काम केलं आहे	में काम कर्यु
किया हुआ काम	केलेलं काम	करेलुं काम

स्पष्ट है कि दोनों भाषाओं में कृदंत विशेषण के रूप /-ल/ से बनते हैं, मराठी में दोनों क्रिया रूपों में रचना का अंतर है और गुजराती में दोनों जगह भिन्न रूप हैं– ब.हि. में सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण मूल भाषा के अनुरूप दोनों जगह विकल्प में /एला/ वाले रूप प्रयुक्त होते हैं। वो गयेला (गया), आयेला होता (आया हुआ था,) शेठ सिनेमा कू गयेले,

आक्खा मुंबई तो अपन भी देखेला नई (सारी बंबई तो मैंने भी नहीं देखी है), यसोदा बेन से सादी बनायेला (यशोदा बेन से शादी की), अपन सिखेलाच नई (सीखा ही नहीं), बाई बैठेली (औरत बैठी हुई थी), लियेली (ली), बचेला माल, तेरा नाम लिखेला है क्या, अपुन पियेलाच होता (मैं पिया हुआ ही था). मा.हि. में 'मैंने यह पुस्तक पढ़ी है', 'मैं बी.ए. तक पढ़ा हूं' में जो अंतर ऊपर से प्रकट नहीं होता, वह इन दोनों भाषाओं में स्पष्ट होता है. ब.हि. इस रचना-वैपरीत्य को अपना कर भी खो देती है.

भविष्य काल के रूप में अकारण अनुनासिकता है. और कई जगह /एँ, इँ~ईं/ का विकल्प भी मिलता है. (वह) करेंगा~ करिंगा. अन्य कुछ रूप हैं- होंगा~होईगा, देंगा, लेंगा, समंझिगा, पियेगा, लिखेगा, निकलेंगा, अगर उत्तम पुरुष में /ऊँगा/ वाले रूप आएँ, तो लेऊँगा, देऊँगा प्रयुक्त होते हैं. संदेहार्थ क्रिया रूपों में प्राय: तीनों पुरुषों में धातु के साथ /ए/ मिलता है. उतार देवे क्या (उतार दूँ?), क्या-क्या बोले (बोलूँ), वो नई जावे (जाएँ), किधर कू जावे (जाए), औरत होवे तो हमेरी माँ जैसी होवे (कबूतरखाना, पृ. 43), बना कूँ रख देवे (बना कर रख दें- क., 127). संदर्भ से ही श्रोता पुरुष का अनुमान कर सकता है. विधि में धातु में /ओ/ लगता है, जो ह्रस्वीकृत हो कर उच्चारण में प्राय: /व/ रह जाता है. आव, जाव, देव (दो), लेव (लो). दे देव (तुम दे दो) और दे देवे (वह दे दे) के प्रयोग में अंतर देखें. पूर्वकालिक कृदंत रूप 'के' (आके, जाके, देखके) है, जो किन्हीं लोगों की भाषा में /कू~कूँ/ होता है. मराठी भाषा के प्रभाव के कारण 'था, थे, थी' के लिए क्रमश: 'होता' आदि का प्रयोग मिलता है. जभी हम सातारा में होता, तभी हमेरे को हैजा हो गया होता (जब मैं... था,... हो गया था- क., 111), आधा कलाक पड़ा होता इधर (मुरदा-घर, 111), होतीच (थी ही). 3.2. ब.हि. में 'मैं, हम' की जगह 'अपन~अपुन' का भी प्रयोग होता है. मध्य पुरुष में 'तू, तुम' हैं, जो मा. हि. 'तुम, आप' के समानार्थी हैं. अन्य पुरुष में दोनों वचनों में 'ये, वो' आते हैं. 'आप' केवल शिक्षित भाषा तक सीमित हैं. दिल्ली, हैदराबाद की तरह मेरे, हमारे, तेरे, तुम्हारे, अपने संबंधकारक भी हैं और अन्य परसर्गों से पहले के तिर्यक रूप भी (तेरे को, हमारे से, मेरे पर). सर्वनाम का बहुवचन 'लोक~लोग' लगने से बनता है, जो तिर्यक रूप में नहीं आता (हम लोक का, बो लोक को). मा. हि. की तरह ब.हि. में भी 'अपना' का प्रयोग है.

3.3. लिंग, वचन, कारक: व.हि. में पुरुषवाचक सर्वनामों के संदर्भ में क्रिया रचना के सरलीकरण की बात हमने ऊपर देखी थी. अन्य शब्दों में भी मा.हि. के स्त्रीलिंग शब्द

निम्न स्तर की भाषा में पुल्लिग में ही आते हैं. *हमारा सादी हुआ, हमारा जिंदगी में, पइसा का बात, भोत तकलीफ हुआ,* मुशीबत हो जाएँगा, मेरे को भूक लगा. 'कबूतरखाना' में कुछ रोचक उदाहरण मिले हैं, जहाँ विशेषण-संज्ञा में लिंग की अन्विति तो है, लेकिन क्रिया अविकारी है. *औरत की जात बड़ा बेवफा होता है. माँ अपनी आक्खी जिंदगी बरबाद कर दिया. बहन की आक्खी जिंदगी बरबाद हो गया* (पृ. 11). *आक्खी मुंबई जानता है* (पृ. 13). अन्य स्रोतों की सामग्री में इस विशेषता की पुष्टि नहीं हो सकी.

मानुष संज्ञाओं में 'लोक' बहुवचन सूचक प्रत्यय है. निम्न स्तर की भाषा में क्रिया लिंग-वचन से प्रभावित नहीं होती. *बाई लोग* (औरतें), *आदमी लोग, छोकरी लोक, हिजड़ा लोग का माफ़िक, रंडी लोक बहुत परेशान करता* (मु., 154), *दो-तीन इन्सेक्टर लोक बहुत हरामी हैं इधर* (मु. 182). अ-मानुष संज्ञाओं में वचन के लिए रूप परिवर्तन नहीं होता, न ही क्रिया बदलती है. *दस दिन हो गया* (मु., 93), *भोत मुरदा आता है आजकल* (मु. 202), *सेठ लोग का घर में* (सेठों के घरों में-क., 111).

मा. हि. में परसर्ग से पहले के संज्ञा शब्द तिर्यक रूप में आते हैं और क्रिया-विशेषण शब्द भी तिर्यक होते हैं. ब.हि. में निम्न स्तर की भाषा में शब्द कहीं तिर्यक रूप में नहीं आते. *ये लोग का, अच्छा-अच्छा लोग का, हमारा बरतन में, बाजू का घर में, होटल का पीछू रहना का बारे में* (फिल्म 'दामाद'), *आप लोग का सरीखा, सेठ का तरफ़ से, अपन को देख पेला* (पहले).

3.4. परसर्ग: ब.हि. के परसर्ग 'ने' कू (को), का/के/की, से में, पर~ऊपर' मा. हि. के ही बराबर हैं. परसर्गीय शब्दों में कई विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं. परसर्ग तिर्यक रूप में नहीं आते और सर्वत्र योजक शब्द /का/ लेते हैं. *घर का वास्ते, रहना का बारे में* (दामाद), *बटाटा बड़ा का माफ़िक* (आलू बड़े की तरह). *होटल का पीछू, आप लोग का सरीखा,* ये बाजू (इस तरफ), *लैन* (लाइन) *का बीच में.* कुछ स्थानों में योजक शब्द भी छूट जाता है. *घर पीछू* (घर के पीछे), *ये टैम उपर* (इस टाइम पर, इस वक्त), *आँखी आगे* (आँखों के सामने). 'पीछू' अर्थ की दृष्टि से रोचक है. *होटल का पीछू में* यह स्थानवाचक है; *पीछू का सारा पैसा* (पहले का), *वो पीछू मर गया* (बाद में), *पीछू शिकायत नहीं करने का* (बाद में, फिर), *पीछू आएँगे* (बाद में, फिर) आदि में प्रयोग की संदर्भ-भिन्नता देख सकते हैं. 'कने' (के पास) वैकल्पिक प्रयोग है, सीमित है. *वो बाजू जाव* (उस तरफ़), *बाजू में* (बगल में) आदि

संदर्भों में 'बाजू' बहुप्रचलित शब्द है. 'तरफ़' सामने की दिशा तथा कार्य-स्रोत *(सेठ का तरफ़ से-क., 93)* का अर्थ देता है. अन्य प्रमुख विशिष्ट परसर्गीय शब्द हैं- *सरीखा* (बराबर, समान), *माफ़िक* (तरह), *वास्ते* (लिए), *तलक* (तक), *बिगर* (बिना), *खातिर* (लिए). *बरोबर* 'ठीक' के अर्थ में विशेषण शब्द है, परसर्ग नहीं. मा. हि. में 'पूछना' से पहले /से/ आता है, ब.हि. में /कू/. *पूछ लेव कोई कू भी. पूछ ले लैला कू.* गत्यर्थक क्रियाओं वाले वाक्यों में स्थानावाचक के साथ /कू/ ब.हि. की विशेषता है- *घर कू चलना, देखने कू जाना, किधर कू जावे.*

3.5. 'कहाँ, वहाँ, यहाँ' के लिए सर्वत्र 'किधर, उधर, इधर' का प्रयोग मिलता है. किन्हीं कारणों से कभी ब.हि. में कब के अर्थ में प्रयुक्त होता है. *वो कभी आएँगा?* 'जब, तब' आदि के लिए भी विकल्प में 'जभी~तभी' रूप मिलते हैं. *जबी सतारा होती मैं* (तब मैं सतारा में थी, धर्मयुग, 8.12.80). *जभी पैसा कमाया थोड़ा...* (जब मैंने...). ब.हि. में निपात 'ही' का पर्याय /च~ज/ है. *मेंच, सेच, काच, तूच, येच, वोच, अपुनच, मेराच, ऐसाच, वैसाच, खत्मच, यादच नई, देखकेच, लेकेच, जानतीच नई, का माफिकच* (की ही तरह), *नसीबच खराब है'*. 'येच~येइच, उधरच~उधरीच' में विकल्प है और एकरांत बहवक्षर शब्दों में /इच/ मिलता है. दुसरेइच~पेलेइच. मा.हि. में 'यहीं, वहीं' स्थान का निर्देश करते हैं. लेकिन 'कहीं' इस अर्थ में निपात युक्त प्रश्नवाचक नहीं है. ब.हि. में पहले दो शब्दों में /च/ मिलता है और किधर तो भी 'कहीं, कहीं भी' इस अंतर को स्पष्ट करता है.

4. वाक्य संरचना संबंधी विशेषताएँ: 4.1. ब.हि. में दो वृत्तिसूचक क्रियाएँ 'सक' और 'चाहिए' मा.हि. से भिन्न प्रकार से प्रयुक्त होती हैं. *मैं करने को नई सकता. वो लोक आने को नई सकता. मैं बेन को शिकायत करने को सकती थी न* (धर्मयुग, उक्त). *तेरे बिगर रेने को नई सकता* (धर्मयुग, उक्त). 'चाहिए' के लिए 'मँगता~माँगता' का प्रयोग मिलता है. यहाँ कर्ता में /कू/ लगता है और 'माँगता' प्रायः अविकारी है. *मेरे को नई माँगता तेरा कुछ भी. क्या माँगता तेरे कू? मेरे कू रुपिया माँगताच. हिसाब पूरा होना माँगता. माँगता तो पईसा पेलाच ले लेना. पन* (लेकिन) *दूसरा लोक को मालम नई होना माँगता. औरत माँगताच माँगता* (चाहिए ही-क., 75). *मेरे को पन एक झोंपडी का छत मँगता था* (धर्मयुग, उक्त). विकल्प में 'माँगता है' रूप भी मिलता है. *दुनिया में औरतच नई होना माँगता है. सईदन का माफिक बाई लोग तो होनाच माँगता है* (क. 4). इस रचना में चाहना, माँगना के अर्थ में कर्ता प्रत्यक्ष होता है और कर्ता-क्रिया की अन्विति दिखायी पड़ती है. इन वाक्यों

में /है/ वैकल्पिक है. *तुम जी.एम. को मिलने को माँगता है?* (दामाद). *जास्ती नहीं माँगती* (मु., 38). *तू दस रुपिया माँगता मेरे से* (मु., 28). *तुम इधर और रहना मँगता, मैना बाई? उधर जाना नई मँगता?* (चाहती-मु., 104). है.हि. की तरह कहीं-कहीं 'चाहिए' के अर्थ में 'होना' का भी प्रयोग मिलता है. *मेरे को नई होना तेरा सपना* (मु., 7).

4.2. ब.हि. की तीन आधारभूत बोलियों में मराठी और गुजराती में 'ने' की रचना की मिलती-जुलती व्यवस्था दिखायी पड़ती है औरपूर्वी बोलियों में नहीं. शायद इसी कारण ब.हि. में 'ने' की दुहरी व्यवस्था है और 'ने' का अभाव शायद अधिक प्रचलित है. *तू बहुत तकलीफ दिया मेरे को. मैं (स्त्री) कभी तेरा पैसा रखी क्या? बिरादरी के लोग 'बेंडल' ठोक दियेले* (क., 114द्ध). *...हमेरे को लाफ़ा मारेली* (क., 81- उस स्त्री ने मुझे 'लाफ़ा' मारा).

4.3. ब.हि. में 'हाँ' के लिए 'हौ' चलता है. 'नहीं चाहिए' के अर्थ में 'नको' प्रयुक्त होता है, जबकि इस संदर्भ में 'नईं माँगता' शायद ज्यादा प्रचलित है. ये दोनों शब्द हैं. हि. में भी मिलते हैं. निषेधार्थ रूप 'मत' प्रचलित है (*मत जाव, तू बोम मत मार*), जबकि क्रियार्थक संज्ञा के साथ वाक्य के अंत में 'नईं' भी प्रयुक्त होता है. *पीछू कब्भी इधर आने का नईं* (फिर कभी यहाँ मत आना).

4.4. **क्रियार्थक संज्ञा, विधि** आदि प्रकरणों में चर्चा की गयी है कि 'जाना, देखना' आदि विधि के भी शब्द हैं. दूसरी तरफ 'जाना है, करना है' आदि क्रिया रूप आगे के संभावित, सोचे हुए कार्य व्यापार का संकेत करते हैं. ब.हि. में दोनों संदर्भों में क्रमशः 'जाने का, जाने का है' का प्रयोग मिलता है और बोल-चाल में प्रायः /है/ छूट भी जाता है. बस कंडक्टर यात्री से *किधर जाने का है* पूछता है. अन्य कुछ उदाहरण देखें- *पइसा पेले निकालने का* (निकालो). *तोड़के उसमें डाल देने का और पी जाने का* (डाल देना, पी जाना-मु., 182). *मेरे कू अपना धंदा देखने का है* (देखना है). *मेरे कू उधर नईं जाने का है.* मा. हि. की तरह 'जाने का' मध्यम पुरुष में विधि के संदर्भ में प्रयुक्त होता है और 'जाने का है' में योजना की सूचना है. दोनों ही प्रयोगों में कर्ता में /कू/ लगता है.

4.5. इतिवृत्तात्मक रचना दो प्रकार की होती है. 'बोलना, कहना, बताना, पूछना' आदि पुनः कथन सूचित करते हैं. ब.हि. में प्रायः 'बोलके' का प्रयोग होता है, जो उक्ति के साथ आता है. *बोलूँगा तू बंद है बोलके. वो पूछा था तू किधर गयेला बोलके. हटो पीछू बोलता*

न (म., 102- कह रहा हूँ न कि पीछे हटो), यहाँ /कि/ का प्रयोग विरल है, लेकिन /कि/ के अभाव में वही रचना मिलती है. *मैं बोलती छोड़ देव मेरे कू. वापिस लाओ मेरी लड़की कू बोलता.* इसके विपरीत 'लगना, सोचना, देखना, मालूम, सुनना' आदि के साथ योजक /कि/ वाले उपवाक्यों का प्रयोग मा.हि. के समान है. *मेरे कू मालम है कि वह नहीं आएँगा. अपन सोचता था कि ले लेवे. मेरे को लगता है कि....*

5. शब्द प्रयोग: ब.हि. की सबसे बड़ी विशेषता शब्द प्रयोग की है. इसमें मा. हि. से भिन्न सैकड़ों शब्द मिलते हैं. ऐसे कुछ शब्द हैं- *आक्खा* (सारा), *मस्का* (मक्खन), *नक्की* (तय), *खोली* (किराये का कमरा), *माला* (मकान की मंजिल), *खीसा* (जेब), *फ़कत* (सिर्फ), *बरोबर* (ठीक), *थोबड़ा* (मुँह, चेहना), *मगज* (दिमाग), *लफ़ड़ा* (टंटा, झगड़ा), *लाफ़ा, लपाट, लप्पड़* (चाँटा), *फूकट~फोकट* (मुफ्त), *खलास* (खत्म, खाली), *खाली* (सिर्फ, यों ही), *खोटी* (बेकार, बरबाद), *खोटी करना* (चाल चलना), *टेम खोटी करना* (वक्त बरबाद करना), *हलकट* (आवारा, शोहदा), *बाई* (औरत), *सगावाला* (रिश्तेदार), *कलाक* (एक घंटे का समय), *झोंपड़पट्टी* (झुग्गी-झोंपड़ी), *कमती* (कम), *जास्ती* (ज्यादा), *कायकू* (किसलिए, क्यों), *घासलेट* (केरोसीन), *बटाटा* (आलू), *कांदा* (प्याज), *भजिया* (पकौड़ी), *रगड़ा* (चने, छोले). *बोम मारना* (चिल्लाना, गुस्सा करना), *सरखा करना* (ठीक करना), *पोलपट्टी खोल देना* (भंडाफोड़ करना), *मस्का मारना, मस्का पालिस करना* (मक्खन लगाना), *खाली-पीली* (बिना मतलब, बेकार), *माल-पानी* (माल-मत्ता), *फोटो निकालना, बारिश गिरना, शादी बनाना* (करना), *मालूम चलना, चालू पड़ना, समझ पड़ना* (समझ में आना), *पसंद पड़ना, बोले तो* (माने), *मगज घूम जाना* (दिमाग फिर जाना) कुछ प्रमुख मुहावरेदार प्रयोग हैं. इनके साथ ही मराठी-गुजराती भाषी हिंदी में बोलते समय अपनी भाषा के कई शब्दों का भी बेधड़क प्रयोग करते हैं, जैसे *खातिरी* (भरोसा), *माहिती* (जानकारी), *भीक* (डर), *भांडी* (बरतन), *आई* (माँ), *डोक* (सिर). इन सब शब्दों के संदर्भ में वर्ग विशेष के अनुसार प्रयोग-वैविध्य का प्रसंगानुसार विवरण देना इस लेख के कलेवर में संभव नहीं है. इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ब.हि. का शब्द प्रयोग की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्वरूप है, अपनी अस्मिता.

नीला जगन्नाथन

दिल्ली की हिंदी 1. दिल्ली भारत की राजधानी है, एक महानगर है। अत: दिल्ली की भाषायी स्थिति में भी महानगरीय अस्मिता परिलक्षित होती है. स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस

शहर की आबादी में आकस्मिक रूप से वृद्धि हुई है. देश के विभाजन के कारण पंजाबी तथा सीमांत प्रदेश की भाषाएँ बोलने वाले लोगों का एक बड़ा वर्ग इस शहर में आ कर बसा. यह वर्ग द्विभाषी है; इन लोगों ने अपनी मातृभाषा को पारिवारिक या वर्गीय संपर्क के लिए सुरक्षित रखा और शिक्षा तथा सामाजिक संपर्क में हिंदी को अपनाया. उल्लेखनीय है कि इस वर्ग की नयी पीढ़ी, जो 1947 के बाद भारत में पैदा हुई, अपनी मातृभाषा की अपेक्षा हिंदी को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अधिक सशक्त (dominant) माध्यम के रूप में अपनाती रही है. इस वर्ग के कारण दि.हि. में पंजाबी का प्रभाव दिखायी पड़ता है. दिल्ली हिंदी भाषी प्रदेश है. धीरेन्द्र वर्मा (1971) के अनुसार दिल्ली बाँगरू या हरियाणवी बोली का प्रदेश है. दिल्ली के निकटवर्ती जिलों में रोहतक और गुडगाँव में हरियाणवी बोली जाती है तथा मेरठ और बुलंदशहर में खड़ी बोली. इस तरह हिंदी की बोलियों के हिसाब से दिल्ली में हरियाणवी और खड़ी बोली बोलने वाले लोगों की बहुतायत है. वर्मा के अनुसार हरियाणवी एक प्रकार से पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है. खड़ी बोली मानक हिंदी के निकट है ही, दि.हि. की कई विशेषताएँ पंजाबी-हरियाणवी वर्ग के सामान्य तत्व हैं. दिल्ली में हिन्दी की अन्य बोलियाँ बोलने वाले लोग भी हैं. लेकिन ये बोलियाँ अधिकतर वर्ग के भीतर के संपर्क में ही व्यवहृत होती हैं और अंतर-वर्ग के संप्रेषण में सामान्य रूप से मानक हिंदी का ही प्रयोग होता है. लखनऊ के बाद दिल्ली उर्दू भाषा का केंद्र बना और मुगल शासकों के प्रश्रय के कारण यहाँ उर्दू भाषा का विकास हुआ. अब दिल्ली में लाखों मुस्लिम हैं, जो उर्दू भाषा का व्यवहार करते हैं. उल्लेखनीय है कि पुरानी पीढ़ी के कई हिंदू भी उर्दू के माध्यम से शिक्षित हैं और मानक हिंदी की अपेक्षा उर्दू का अधिक सहजता से प्रयोग करते हैं. इन तीन प्रमुख वर्गों के परस्पर व्यवहार के कारण दि. हि. की कई विशेषताएँ अस्तित्व में आयी हैं. महानगर होने के कारण यहाँ दक्षिण की चारों भाषाएँ तथा बंगाली, सिंधी, गुजराती, मराठी.आदि भाषाएँ बोलने वाले अल्पसंख्यक भी हैं. लेकिन इनकी भाषिक विशेषताएँ वर्ग के भीतर तक सीमित हैं और उनका दि.हि. पर विशेष प्रभाव नहीं है. अत: आधुनिक खड़ी बोली में हरियाणा प्रदेश की बोली का योगदान सर्वप्रमुख है. आज की हिंदी का जो रूप दिल्ली में है उसके स्वरूप को समझने के लिए इसकी आधारभूत उपभाषा 'हरियाणवी' का अध्ययन अपरिहार्य हो जाता है, क्योंकि हरियाणवी स्थूल रूप से रोहतक, हिसार के पूर्वी भाग तथा दिल्ली के समीपवर्ती इलाकों में बोली जाती है. (नानकचंद 1968).

2. उच्चारण की विशेषताएँ: (अ) दि. हि. की सबसे बड़ी विशेषता अक्षरों (syllables) के पुनर्वितरण की है, जिसके अनुसार एकाक्षरिक शब्द द्वयाक्षरिक बनते हैं, द्वयाक्षरिक एकाक्षरिक बनते हैं. कई गुच्छ टूटते हैं, कई नये गुच्छ बनते हैं. इस भाषिक विशेषता की गहराई में जाना इस लेख की सीमा में संभव नहीं है. यह बताना मेरे लिए कठिन है कि क्यों *गरीब* /ग्रीब/ बना है, लेकिन /सरीन/ नहीं बदलता. इसी तरह *चंद्र* का /चंदर/, *गलत* का /गल्त/ विपरीत दिशाएँ हैं; इसका अध्ययन अपने में रोचक विषय है. मानक हिंदी से भिन्न उच्चारण वाले अन्य कुछ शब्द आगे दिये जा रहे हैं. मूल शब्द कोष्ठक में दिये गये हैं- *तिल्क* (तिलक) *प्रीक्षा* (परीक्षा), *प्रेशान* (परेशान), *प्रंतु* (परन्तु), *प्रीबार* (परिवार), *परकाश* (प्रकाश), *परसाद/परशाद* (प्रसाद), 'उन्नति' का /उनती/ उच्चारण अक्षरों की संख्या में कमी करने की सामान्य भाषिक विशेषता के कारण है. ध्यान से सुना जाए तो *प्ड़ोसी* (पड़ोसी), *स्वाल* (सवाल), जैसे कई शब्दों में इस परिवर्तन को देख सकते हैं. इस तरह यह बहुव्यापी प्रवृत्ति है. (आ) दि. हि. की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता /आ, ऐ, औ/ तीन स्वरों में स्वर को ऊँचा करने की है, जिस कारण तीनों का उच्चारण शब्दारंभ में क्रमशः /अ, ए, ओ/ के समान होता है. आ → अ की विशेषता का आधार *स्वभाविक, समाजिक, चरित्रिक* आदि शब्दों में पंजाबी का रूपस्वनिमिक नियम माना जा सकता है, जिसके अनुसार 'अ → आ/इक' की व्यवस्था लागू नहीं होती. लेकिन कई ऐसे शब्द हैं, जहाँ यह आधार नहीं दिखायी पड़ता. कुछ उदाहरण देखिए- *रजेश खन्ना, समान्य, कमायनी, नराज़, अज़ादी, प्रीचन, अवाज़, बज़ार; एनक* (ऐनक), *बेठा* (बैठो); *ओरत* (औरत), *ओर* (और), उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ पंजाबी-हरियाणवी वर्ग के वक्ताओं में दिखायी पड़ती हैं. (इ) दि.हि. की तीसरी विशेषता तीनों वर्गों में दिखायी पड़ती है. यह विशेषता है शब्द के मध्य में /ह/ का लोप तथा तज्जन्य स्वनिक परिवर्तन. यह विशेषता कुछ हद तक अखिल भारतीय है. लेकिन पंजाबी में /ह/ के लोप तथा मुस्लिमों की बोलचाल की विशेषता के कारण दि.हि. में इसका उल्लेखनीय स्थान है. *बैन~भैन, भौत* (बहुत), *भैना* (बहना), *केना~कैना, नई* (नहीं) आदि शब्दों के साथ ही क्या कर रा ऐ (क्या कर रहा है), बोल रए/रे ऐं (बोल रहे हैं), *वह आ रिया* ऐ (आ रहा है) आदि वाक्यों में भी इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं. ये प्रयोग ज़्यादातर अशिक्षित वर्ग की असंस्कृत भाषा के द्योतक हैं और शिक्षा के स्तर के साथ /ह/ के पुनःस्थापन की बात देखी जा सकती है. पंजाबी तथा उर्दू भाषियों में /म्ह न्ह ल्ह/ का अभाव भी देखा जा सकता है. स्वर मध्य की स्थिति में तथा शब्दांत में घोष महाप्राण स्पर्श व्यंजनों का अल्पप्राणीकरण केवल पंजाबी भाषियों की ही

विशेषता है, जो शिक्षा के अभाव के कारण कई व्यक्तियों में दिखायी पड़ता है. (ई) *इत्ता* (इतना), *उत्ता, कित्ता, जित्ता* आदि में समीकरण दि.हि. की ही नहीं, समस्त हिंदी की बोलियों की विशेषता है. इसी तरह दि.हि. में /फ़/ की जगह /फ़/ का उच्चारण मिलता है, जहा हिंदी में एक नयी प्रवृत्ति है. (उ) /न/ की जगह /ण/ का प्रयोग पंजाबी-हरियाणवी वर्ग की मातृभाषा के प्रभाव के कारण है और बहुत सीमित है, जैसे *अपणी, पाणी, खाणा-पीणा.*

3. रूपरचना की विशेषताएँ : (अ) 'मुझे, तुम्हें' की जगह मेरे को, तेरे को का प्रयोग अधिक प्रचलित है. तुलना में *तुम्हारे/तुमारे* का प्रयोग कम है. आम तौर पर माना जाता है कि यह पंजाबी प्रभाव के कारण है, लेकिन प्रभाव के स्पष्ट आधार नहीं हैं. पंजाबी में कर्मकारक /नूँ/ है, हरियाणवी में /नै/. दोनों में इस कारक से पहले प्रथम, मध्यम पुरुष सर्वनाम का तिर्यक रूप भी नहीं बनता. 'तेरे' का आधार पंजाबी /तूँ/, हरियाणवी /तैं/ हो सकता है. हैदराबाद, बंबई जैसे अहिंदी भाषी प्रदेशों में ही नहीं, बल्कि हिंदी भाषी प्रदेशों में भी ये रूप प्रचलित हैं. (आ) पंजाबी हरियाणवी में 'आप' नहीं मिलता. पंजाबी में *तुसी आओ* (तुसी-आप) के सादृश्य से हिंदी में *आप आओ* का प्रयोग मिलता है. अन्य हिंदी भाषियों में 'आप' के साथ *आओ* का प्रयोग नहीं मिलता. यह निश्चित रूप से पंजाबी के प्रभाव के कारण है, हिंदी भाषा की अपनी विशेषता नहीं. **सर्वनाम** में (इस ग्रंथ में) चर्चा की गयी है कि किस तरह पंजाबी के प्रभाव के कारण आदरणीय व्यक्तियों के संदर्भ में लिंग की अन्विति भेदक लक्षण नहीं रह जाती. इसी कारण हिन्दी में *मेरे माता जी आये* जैसे वाक्य सुनने को मिलते हैं. (इ) पूर्वकालिक कृदंत रूप-पूर्वकालिक कृदंत रूप '-के' से बनते हैं. *लेके, देखके, आके, पढ़के, खाके.* (ई) दि. हि. में **प्रतिबिंबित शब्द** की रचना तीन प्रकार से होती है. *चाय-वाय, टिकट विकट, पानी-वानी* मानक हिंदी के समान हैं. **व**-श का प्रतिबिंबन भी इतना ही प्रचलित है, जो पंजाबी के प्रभाव के कारण है. *चाय-शाय, पाणी शाणी, टिकट-शिकट, खरोच-शरोच.* **स**-उऊ (पहले स्वर की मात्रा के आधार पर) का प्रयोग कुछ कम है. *चाय-चूय, टिकट-टुकट, पानी-पूनी, सच्चा-सुच्चा, खरोच ? खुरूँच. पानी-आनी* (मोहन राकेश, पृ. 11), *चाकू-आकू* (वही, 15) सीमित प्रयोग हैं। (उ) मानक हिंदी में *जी हाँ, जी नहीं* चलते हैं, दि. हि. में *हाँ जी, नहीं जी.* (ऊ) 'यहाँ, वहाँ, कहाँ' के लिए *इधर, उधर, किधर* का ही प्रयोग अधिक है, यद्यपि पंजाबी में भी इत्थे 'यहाँ', एद्दर 'इधर' आदि शब्दों में स्थानवाचक तथा दिशावाचक तथा

दिशावाचक का वैपरीत्य (opposition) मिलता है. लेकिन बोलचाल की पंजाबी में इत्थे आदि की अपेक्षा आज एद्दर आदि का ही प्रयोग अधिक होता है. शायद इसी प्रभाव के कारण दि.हि. में भी इधर आदि शब्द अधिक प्रचलित हो गये हैं।

4. वाक्य संरचना संबंधी विशेषताएँ: (अ) *मुझे जाना है* के लिए *मैंने जाना है* का प्रयोग दि. हि. की बहुव्यापी प्रवृत्ति है. इस प्रवृत्ति को भी लोग पंजाबी के प्रभाव के कारण मानते हैं. पंजाबी में 'को' के लिए /नूँ/ रूप है. *मैंनूँ जाणा ए* 'मुझे जाना है'. कर्ताकारक में प्रथम तथा मध्यम पुरुषों में /ने/ रूप नहीं लगता, जबकि 'ने' की व्यवस्था है. *मैं कम्म कित्ता* 'मैंने काम किया', *मैं कोशिश कित्ती* 'मैंने कोशिश की'. हरियाणवी में 'ने' की व्यवस्था है और उक्त दोनों कारकों में /नै/ रूप लगता है. *मन्नै* 'मुझे', *मैंनै* 'मैंने'; *उसनै* 'उसने, उसे'. हम मान सकते हैं कि *मैंने जाना है* का स्रोत हरियाणवी है और पंजाबी इस प्रवृत्ति को रूपसाम्य के कारण पुष्ट करती है. *मैंने/उसने काम किया, मैंने जाना है*- ये दोनों वाक्य हरियाणवी के निकट हैं. इस संदर्भ में 'मैंने, मेरे को, मुझे' तीनों रूपों के वितरण का स्पष्ट अनुमान करना कठिन है. *मैंने जाना है* का प्रयोग अत्यधिक है, *मुझे जाना है* का प्रयोग शिष्ट भाषा में होता है और *मेरे को जाना है* भी मिलता है. /को/ के अन्य संदर्भों में (*उसको बुलाओ, मुझे नहीं मालूम, तुम्हें क्या चाहिए, उसे बुखार है* आदि) /ने/ का प्रयोग नहीं मिलता, जबकि हरियाणवी तथा पंजाबी में इन वाक्यों में क्रमशः /नै, नूँ/ रूप मिलते हैं. इन वाक्यों में 'मेरे को, तेरे को' आदि के प्रयोग की अधिक संभावना है. यहाँ इस वाक्य संरचना के कुछ रोचक उदाहरण दिये जा रहे हैं (लेखकों के वाक्य संदर्भ सहित दिये गये हैं, वार्तालाप या श्रवण द्वारा प्राप्त प्रयोग बिना संदर्भ के)- *तुम लोगों ने किधर जाना है? उन्होंने तो आना ही आना है* (वे जरूर आयेंगे या उनका आना जरूरी है). *हिंदी ने इस देश की राष्ट्रभाषा बननी है. चूल्हे की आग के बिना न चावलों ने दाल में मिलना है, न दाल ने चावल में* (अमृता प्रीतम, 76: पृ. 53). *किसी ने अपना बच्चा इंजीनियर बनाना होता तो....* (अ.प्री. 72: 18). *आना उसने इस ओर था और चला गया उस ओर* (अ.प्री. , 76: 77). *मैंने सारी आयु पुरानी सलवार पहननी है और बासी रोटी खानी है* (अ.प्री. 76: 72). रोचक बात यह है कि प्रयोक्ता कभी मानक रूप का प्रयोग करते हैं, कभी दिल्ली के रूप का. यह अनिश्चितता बताती है कि वे मानक तथा स्थानीय प्रयोगों के अंतर को जानते हैं. *मुझे नहीं आना था* (अ.प्री., 74 : 51) में इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं. (आ) दि. हि. की दूसरी प्रमुख विशेषता है *मैंने कहा हुआ है, मैंने यह फिल्म देखी हुई*

है आदि वाक्यों की रचना, जहाँ पूर्ण पक्ष के सकर्मक कृदंत क्रिया रूपों के साथ स्थितिसूचक 'हुआ' का प्रयोग होता है. मा.हि. में अकर्मक क्रियाओं के संदर्भ में स्थिति की सूचना दी जा सकती है (*वह गया हुआ है, वे लोग सोये हुए हैं*) और सकर्मक क्रियाओं में कर्म के संदर्भ में मिथ्यावाच्य के क्रिया रूपों में स्थिति की सूचना दी जा सकती है *(खाना बना हुआ है, कपड़े धुले हुए हैं, किताब पड़ी हुई है)*. कर्ता का उल्लेख करना हो, तो रंजक क्रिया 'रख' का प्रयोग होगा (*मैंने उनसे कह रखा है. मैंने चार-पाँच मकान देख रखे हैं*) या वास्तविक कर्ता का संबंधकारक में उल्लेख होगा (*यह फिल्म मेरी देखी हुई है, यह किताब रवि की लिखी हुई है*). व्यापार की स्थिति में आने की सूचना देने के लिए ही यह रचना प्रयोग में आती है. अकर्मक में भी सभी व्यापारों के संदर्भ में स्थितिसूचक वाक्य नहीं बनते (**मैं बोला हुआ हूँ, * वह हँसी हुई है*). सकर्मक वाक्यों में कर्ता के संदर्भ में स्थिति की सूचना स्वयमेव /है/ से व्यक्त होती है. आगे के वाक्यों की तुलना कीजिए–

उसने एक दोसा खाया	*उसने संदेश खाया है*
मैंने कल एक फिल्म देखी	*मैंने शालीमार फिल्म देखी है*
राम ने कल एक बात की	*राम ने मुझसे कहा है...*

दूसरे क्रिया रूपों के स्थान पर ही 'देखी हुई है' आदि का प्रयोग होता है, जो अनावश्यक है. कुछ उदाहरण देखें– *मैंने उसकी कहानी में से एक-एक वाक्य कंठस्थ किया हुआ था* (अ. प्री., 74 : 44). *पहने हुए कपड़ों से जैसे उसने उस धूप को ढका हुआ था, लपेटा हुआ था, छुपाया हुआ था* (अ. प्री., 74 : 73). *कामिनी ने लोग तो देखे हुए थे* (अ. प्री. , 72 : 10).; *उसने दुनिया के हर कोने से पाइप मँगवाये हुए थे* (ममता कालिया, पृ. 24). *दफ्तर में उसने अपने लिए एक खूबसूरत केबिन बनवायी हुई थी* (म., 23). इस ग्रंथ में अन्यत्र चर्चा की गयी है कि मा. हि. में भूतकाल सूचक पूर्ण पक्ष के कृदंत (*मैंने यह किताब पढ़ी है*) और स्थिति सूचक कृदंत रूप + हुआ *(मैं एम. ए. तक पढ़ी हूँ)* में संरचना, संदर्भ दोनों की दृष्टि से अंतर है। दि.हि. में दोनों जगह एक ही रचना आती है और दोनों वाक्यों का वैपरीत्य (Opposition) रचना के स्तर पर खत्म हो जाता है. आगे के वाक्य मा. हि. में बिना /ने/ के आते, लेकिन दि. हि. में यहाँ 'ने' का प्रयोग द्रष्टव्य है- *पहने हुए कपड़ों से जैसे उसने उस धूप को ढका हुआ था* (अ. प्री., 74 : 73). *उसने अबरक के*

रंग के कपड़े पहने हुए थे (अ. प्री., 74 : 19). *प्रेम ने... बुशशर्ट पहनी हुई थी* (म., 34). इस नये प्रयोग के कारण कई संबद्ध वाक्य संरचनाओं में पुनर्वितरण की स्थिति दिखायी पड़ती है. फिर भी ऊपर 4 (अ) की चर्चा के संदर्भ में कहा जा सकता है कि यहाँ भी लेखक नये और पुराने के बीच डोलते नजर आते हैं. आगे के वाक्य देखिए- *पिता ने... जमीन खरीद रखी थी* (अ. प्री.). *वह अपने को रोके हुए थी* (म., 85). ... *ने स्कर्ट पहन रखा था* (म., 68). इस नये प्रयोग की कुछ सीमाएं भी हैं. 'मैं कह रखूंगा' की तरह इसमें भविष्य में व्यापार की सूचना संभव नहीं है (**मैंने कहा हुआ होगा*), न 'देख सकता हूँ' की तरह अपूर्ण पक्ष की. इस समय यह रचना अधिक धातुओं के साथ भी नहीं मिलती. 'मैंने खाया/पिया/खरीदा/बेचा/लाया/सिलवाया/निकलवाया + हुआ है' आदि रूप संभव लगते हैं, लेकिन मिलते नहीं. इन संदर्भों में 'खाया है' आदि रूप ही मिलते हैं. लेकिन यह रचना अब इतनी प्रचलित हो गयी है कि दिल्ली के बाहर भी इसका प्रयोग होने लगा है और यह मा. हि. में प्रवेश कर रही है. दिल्ली राजधानी होने के कारण यह प्रयोग द्रुत गति से व्यापक हो रहा है. (इ) मा. हि. में कर्ता को + कर्म + क्रियार्थक संज्ञा + है/पड़/चाहिए' की रचना में सामान्य रूप से कर्म से क्रियार्थक संज्ञा और क्रिया की अन्विति होती है. *मुझे किताब लेनी है. हमें कोशिश करनी पड़ेगी/चाहिए.* यद्यपि इस रचना में भी विकल्प की गुंजाइश है और मानक इतर प्रयोग (*उसे मेहनत करना पड़ा, उसे मेहनत करना पड़ी*) मिलते हैं, आम तौर पर निम्नलिखित प्रयोगों में मा. हि. और दि. हि. में अंतर है-

	मानक हिंदी	**दिल्ली की हिंदी**
(क)	*चाय पीना गंदी आदत है*	*चाय पीनी गंदी आदत है*
	गोली चलाना गुनाह था	*गोली चलानी गुनाह था/थी*
	मीटिंग होना तय हुआ है	*मीटिंग होनी तय हुई है*
	यहाँ चाय मिलना मुश्किल है	*इधर चाय मिलनी मुश्किल है*
(ख)	*मैं चाय पीना चाहती हूँ*	*मैं चाय पीनी चाहती हूँ*
	पसंद करती हूँ	*पसंद करती हूँ*
(ग)	*मुझे पंजाबी बोलना नहीं आता*	*मुझे पंजाबी बोलनी नहीं आती*

मानक हिंदी	दिल्ली की हिंदी
उसने पनीर की रोटी बनाना सीखा था	*उसने पनीर की रोटी बनानी सीखी थी अ.प्री., 74 : 73*
रवि ने सिगरेट पीना छोड़ दिया रवि... देंगे	*रवि ने सिगरेट पीनी छोड़ दी (रवि... देंगे)*
रवि ने सिगरेट पीना चाहा	*रवि ने सिगरेट पीनी चाही*
मुझे कल फ़िल्में देखना पसंद/ अच्छा लगता है	*मुझे कल फ़िल्में देखनी पसंद/ अच्छी लगती है (?है)*

इस कथन का यह आशय नहीं है कि मा. हि. के प्रयोग में कहीं क्रियार्थक संज्ञा में परिवर्तन नहीं होता या दि. हि. में सर्वत्र यही व्यवस्था है. अंतर और वैयक्तिक विशेषताएँ दोनों स्थितियों में हैं. यह एक सामान्य रूपरेखा है. मेरे लिए जिज्ञासा का विषय यही है कि इस अंतर का कारण क्या है? (क) के वाक्यों में संज्ञा + क्रि. संज्ञा वाक्य का कर्ता है, कर्ता वाक्यांश है. हिंदी में कर्ता और क्रिया वाक्याशों के बीच अन्विति होती है, वाक्यांश के भीतर नहीं. (ख) में भी संज्ञा वाक्यांश है. दि. हि. में पंजाबी के प्रभाव के कारण ही शायद वाक्यांश के भीतर संज्ञा + क्रि. की अन्विति दिखायी पड़ती है. (ग) के वाक्यों में 'कर्ता को' की रचना है. इन्हीं वाक्यों में मा. हि. में वैकल्पिक रचना की अधिक संभावना है. कुछ और उदाहरण देखें- *पुलिस ने उस कमरे की तलाशी लेनी चाही* (अ.प्री., 72 : 23). *परमजीत ने सिर्फ इसलिए दोस्ती करनी चाही थी* (म., 30). *वह सफाइयाँ सुननी नहीं चाहता था* (म., 18). *मुँह में दही की फिटकियाँ आनी पसंद थीं* (म., 9). *पहाडों पर बेईमानी होनी जरूरी नहीं* (म., 128). (ई) मा. हि. में 'कर्ता + कर्म + भूल गया' की रचना मिलती है, जबकि दि. हि. में 'कर्ता को + कर्म + भूल गया' की रचना मिलती है और नियमानुसार कर्म क्रिया की अन्विति होती है. *मुझे क्या कहना है भूल गया. मुझे यह बात भूल गयी.* ऊपर (इ) के अनुसार कर्म के भीतर भी लिंग की अन्विति मिलती है. *मुझे वह बात कहनी भूल गयी.* मा. हि. में 'याद रहना' के साथ 'कर्ता को' की रचना है (*मुझे वह बात याद नहीं रही*). शायद इस विलोम के कारण ही दिल्ली में दोनों जगह 'कर्ता को' की रचना मिलती है. दि. हि. में कर्म के भीतर भी अन्विति है. *मुझे वह बात करनी*

याद नहीं रही~कहने की याद नहीं रही. मुझे पैसे भेजने याद नहीं रहे~भेजने की याद नहीं रही. (उ) हिंदी में कार्य के प्रारंभ की सूचना वृत्तिवाचक क्रिया 'लग' से मिलती है. *वह जाने लगा. वे लोग काम करने लगे.* यदि क्रियार्थक संज्ञा द्वारा व्यक्त व्यापार को प्रासंगिक कर्ता बनाएँ, तो ये वाक्य 'शुरू हो' से बनेंगे और वास्तविक या तार्किक कर्ता संबंधकारक में आएगा. *लोगों का आना शुरू हुआ.* उल्लेखनीय है कि 'लग' से व्यक्त सभी व्यापार हमेशा 'शुरू हो' से नहीं बनते. ?*बारिश (का) होना शुरू हुआ. *उसका सोना शुरू हुआ.* दि. हि. में लगभग सभी व्यापार 'शुरू हो' से व्यक्त होते हैं. यहाँ वास्तविक कर्ता प्रासंगिक कर्ता भी है. क्रिया की अन्विति कर्ता के साथ होती है और क्रियार्थक संज्ञा भी क्रिया के अंश की तरह कर्ता के साथ अन्वित होती है. मानक हिंदी में यह रचना नहीं है. *लोग आने शुरू हो गये. वह रोना शुरू हो गया. वह लड़की दौड़नी शुरू हो गयी. बारिश होनी शुरू हो गयी. हवा चलनी शुरू हो गयी.* उल्लेखनीय है कि मानक हिंदी में 'चलनी, दौड़नी' आदि अकर्मक क्रिया के रूप ही नहीं मिलते. मैंने ऊपर उल्लेख किया है कि दि. हि. में रंजक क्रिया का रूप 'लग पड़' मिलता है. ऊपर के सारे वाक्य इस क्रिया से भी बनते हैं. इस स्थिति में क्रियार्थक संज्ञा हमेशा पुल्लिग तिर्यक रूप में आती है और 'पड़' की अन्विति कर्ता से होती है. *बारिश होने लग पड़ी, वह दौड़ने/रोने/सोने लग पड़ा. वहा चलने लग पड़ी.* 'शुरू हो' के मुकाबले 'लग पड़' का प्रयोग बहुत सीमित है. सकर्मक वाक्यों की रचना ऊपर के (इ) के वाक्यों के समान होती है जहाँ कर्म और क्रियार्थक संज्ञा अन्वित होते हैं, जबकि मानक हिंदी में यह अन्विति नहीं होतीं. *उसने सिगरेट पीनी शुरू कर दी. लोगों ने पत्थर फेंकने शुरू कर दिये (~? लोग पत्थर फेंकने शुरू हो गये.* 'शुरू' का उलटा 'बंद' है. आगे के वाक्यों की तुलना कीजिए–

मानक हिंदी	**दिल्ली की हिंदी**
*हवा बंद हो गयी (*हवा चलना...)*	*हवा/हवा चलनी बंद हो गयी*
मैंने चाय पीना छोड़ दिया/बंद कर दिया	*मैंने चाय पीनी छोड़ दी/बंद कर दी*
उसका रोना बंद हो गया	*वह रोना बंद हो गया*
लोगों का लड़ना बंद हो गया	*लोग लड़ने बंद हो गये*
	लोगों की लड़ाई/ का लड़ना बंद हो गया

संभवत: दि. हि. में चेतन (मानुष) कर्ताओं के साथ 'बंद हो' नहीं आता. कुछ अन्य उदाहरण देखें- *उसने कमीज पहननी शुरू कर दी* (अ. प्री., 72 :58). उसने फिर नीट रम पीनी शुरू कर दी थी (म., 25), ... *चवन्नियाँ बचाना शुरू कर दी थीं* (म., 174) में अन्विति का विकल्प है. ... *कहानियां लिखनी बंद कर दीं* (अ. प्री., 74 : 45) में /दीं/ नहीं है. *भीड़ आनी शुरू हो गयी थी* (म., 120). (ऊ) 'अगर' की वाक्य रचना कई जगह क्रियार्थक संज्ञा से होती है. द्रष्टव्य है कि कर्ता में संबंधकारक /का/ का प्रयोग नहीं हुआ है. *आप आने/ कहने से काम हो जाएगा* (अगर आप आएँगे/कहेंगे तो...). यह भी रोचक है कि शर्त वाले वाक्यों में दोनों योजक एक साथ उच्चरित होते हैं. *अगर तो बारिश हुई हम सब भीग जाएँगे.*

5. विशिष्ट शब्द: *फटाफट* (उच्चारण /फ/) (जल्दी), *खुंदक* स्त्री. (चिढ़, रोष), *फोकट* (उच्चारण /फ/) (मुफ्त), *पंजी* (पाँच रुपये का नोट- मुहावरेदार अर्थ में), *तड़ी मारना* (डींग मारना, हाँकना), *इंतजार देखना, कबाड़ा होना/ करना* (खराब होना/करना), *कबाड़िया* (बेकार आदमी) आदि दि. हि. के कुछ विशिष्ट शब्द एवं मुहावरेदार प्रयोग हैं.

'कहना, बताना' की जगह 'बोलना' का प्रयोग दि. हि. की ही नहीं, बल्कि कई अंचलों की विशेषता है. *साब को बोलो मैं आयी थी. आप अभी एक बात बोले थे.* लेकिन दिल्ली में सामान्य रूप से तीनों क्रियाओं का प्रयोग मिलता है और तीनों में मानक हिंदी के अनुरूप ही प्रयोगगत अंतर मिलता है. ऊपर के वाक्यों में 'बोल' का प्रयोग अन्य अंचलों की विशेषता होगी, जो दिल्ली के अहिंदी भाषियों के कारण प्रचलन में आयी होगी.

मंजु गुप्ता

हैदराबाद की हिंदी । हैदराबाद की भाषायी पृष्ठभूमि बहुत रोचक है. यहीं कुछ सदियों पहले दकनी हिंदी का आविर्भाव हुआ. उर्दू के प्रचलन के साथ-साथ उसका रूप बदलता रहा. पुरानी दकनी और वर्तमान है. हि. की भाषा में बहुत अंतर है. आधुनिक बोलचाल की भाषा मानक हिंदी उर्दू के अधिक निकट है. निजाम के शासनकाल में उर्दू यहाँ की राजभाषा थी और शिक्षा के माध्यम की भी भाषा थी. पूरे तेलंगाना में आधुनिक दकनी बोलचाल तथा संपर्क का माध्यम थी. इस कारण है. हि. में एक ओर उर्दू से प्रभावित भाषिक विशेषताएँ है. दकनी द्रविड़ परिवार के क्षेत्र में पली. हैदराबाद आंध्र प्रदेश की राजधानी है, जिसकी आज राजभाषा तेलुगु है. यहाँ की जनता महानगरीय है, जिसमें तेलुगु

बोलने वालों की बहुतायत है. इस कारण है. हि. में द्रविड़ परिवार की कई भाषिक विशेषताएं हैं. तेलंगाना के पश्चिमी जिलों में तथा हैदराबाद शहर में भाषा के आधार पर प्रदेशों के पुन:संगठन से पहले अधिक संख्या में मराठी भाषी थे. तेलुगु और मराठी पड़ोसी भाषाएँ होने के नाते उनमें कुछ सामान्य विशेषताएँ विकसित हुई. है. हि. में तीसरी तरफ ये विशेषताएँ भी दिखलायी पड़ती हैं. इस तरह है. हि. की विशेषताएँ किसी खास भाषा-समुदाय की विशेषताएँ नहीं, बल्कि ये शहर की सामान्य बोलचाल की भाषा में न्यूनाधिक रूप में लोगों के भाषा-कोप *(repertoire)* में विद्यमान हैं. यहां के हिंदी भाषियों में भी ये विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं. शिक्षा तथा मा. हि. के प्रचार के कारण सभी लोगों में सभी विशेषताएँ नहीं दिखायी पड़तीं. सामाजिक संदर्भों में पढ़े-लिखे लोगों में क्रोड का अंतरण देखा जा सकता है, जहां एक व्यक्ति औपचारिक क्षेत्रों, वर्गीय संपर्कों में मा. हि. का प्रयोग करे और अन्य दकनी बोलने वालों के साथ स्थानीय भाषा का. भाषिक पृष्ठभूमि के आधार पर हैदराबाद में हिंदी बोलने वाले व्यक्तियों के दो सुनिश्चित वर्ग हो सकते हैं- (अ) मातृभाषा के रूप में हिंदी-उर्दू का प्रयोग करने वाले स्थायी निवासी और (आ) संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग करने वाले द्विभाषी समुदाय के लोग, जिनमें प्रमुख रूप से तेलुगु और मराठी भाषी आते हैं. मातृभाषा भाषी वर्ग में स्थानीय भाषा से मा. हि. तक का एक क्रम (spectrum) दिखायी पड़ता है, जबकि द्विभाषी समुदाय में स्थानीय विशेषताएं गहराई तक हैं. आगे इन विशेषताओं को चार शीर्षकों में प्रस्तुत किया जा रहा है.

2. उच्चारण की विशेषताएँ : (1) तेलुगु भाषियों में स्पर्श महाप्राण व्यंजनों का वितरण भिन्न प्रकार से है. आम तौर पर तेलुगु भाषियों में महाप्राण व्यंजनों का व्यवहार अर्जित (learned behaviour) होता है. यत्न से शब्दादि महाप्राण सुरक्षित रह जाते हैं, शब्दांत में प्राणत्व का अभाव है (अ-लोप की स्थिति में) और शब्द मध्य में स्वनिक परिवेश के अनुरूप इसका न्यूनाधिक प्रयोग है. /न्ह म्ह ल्ह/ का उच्चारण सभी में नहीं मिलता. *उन्हों* (उन्हों-वे?), *तुम्हारे* (तुम्हारे) आदि शब्द द्रष्टव्य हैं. (2) स्वर /ऐ औ/ का उच्चारण तेलुगु मराठी भाषियों में क्रमश /अइ अउ/ के समान है. उर्दू-हिंदी भाषियों में हिंदी के अनुरूप उच्चारण मिलता है. (3) तेलुगु भाषी प्राय: शब्दांत अनुनासिकता को छोड़ देते हैं और शब्द मध्य में इसकी जगह नासिक्य व्यंजन का उच्चारण करते हैं. उर्दू-हिंदी भाषियों में अनुनासिकता का स्वनिमिक महत्त्व है. (4) तेलुगु-मराठी भाषी (ऋ) का उच्चारण /रु/

के समान करते हैं. दकनी वाली सामग्री में (ऋ) का कोई शब्द नहीं मिला. (5) है. हि. में /ड़ ढ़/ का उच्चारण क्रमशः /ड ढ/ है- अन्य स्वनिमिक अंतरों के साथ. (6) /ह/ का वितरण- है. हि., खास कर दकनी में शब्दांत तथा शब्द मध्य में /ह/ का लोप दिखायी पड़ता है, वाक्यों में हकारांत शब्दों में भी /ह/ का लोप दिखायी पड़ता है और प्रोक्ति (utterance) एक उच्चारण खंड के रूप में आती है. शब्द है- *नईं* (नहीं), *कते* (कहते), *पिनाना* (पहनाना), *पिचानत* (पहचानत-जान-पहचान), *बेन~बेंन, बोत~बोंत, रेना~रेंना.* प्रोक्तियाँ हैं *आतूँ* (आता हूँ). *कर रा* (कर रहा है), *बोल रें/रयँ* (बोल/कह रहे हें/हो), *कर रई* (कर रही है), शिक्षित वर्ग की भाषा में /ह/ का पुनः स्थापन देखा जा सकता है. (7) /क/ का उच्चारण दकनी में /ख/ होता है. *ख़सम* (क़सम), *ख़रीब* (करीब), *मुख़ाम* (मुकाम), *ख़ासिम* (क़ासिम), *रख़म* (रक़म). दकनी में /ज फ/ सुरक्षित हैं. तेलुगु-मराठी भाषियों में उन भाषाओं की स्वनिमिक व्यवस्था के अनुसार शब्द में कई स्थानों में /च ज/ का उच्चारण /त्स द्ज/ जैसा होता है. इस तरह /आज/ का उच्चारण /आज/ के अधिक निकट है. **फ** के संदर्भ में चर्चा की गयी है कि मा. हि. में कई जगह इसका उच्चारण /फ़/ हो जाता है. है. हि. में भी यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है.

3. रूपरचना की विशेषताएं: (1) वचन-आकारांत पुल्लिग शब्द तथा ईकारांत स्त्रीलिंग शब्द मा. हि. के अनुरूप रूपसिद्ध होते हैं. सभी अकारांत शब्द बहुवचन में /आँ/ प्रत्यय लेते हैं. *बाताँ, लोगाँ, बालाँ, किताबाँ, कागजाँ, औरताँ, टिकटाँ, पेनाँ, कपाँ* (cups), *मौजाँ* (मौज-केला), *तांबेला* (तांबेल-तेलुगु-कछुआ). ऊकारांत शब्दों में भी /आँ/ प्रत्यय लगता है. *चाकुआँ, लड्डुआँ, जोरुआँ.* इस सरलीकरण के बावजूद शब्द का लिंग सुरक्षित रहता है और विशेषण संज्ञा से *लिंग-वचन के लिए अन्विति होते हैं. कित्ते लोगाँ* (कितने लोग), *मेरी बाताँ.* यद्यपि उच्च वर्ग के तथा शिक्षित वर्ग के लोगों में बहुवचन तिर्यक प्रत्यय /ओं/ का प्रयोग मिलता है, आम बोलचाल में अलग से तिर्यक रूप नहीं मिलता. लोगाँ को, फूलाँ की किताब (फूलों वाली किताब), बंबुआँ का घर (बंबुओं bamboos). (2) सर्वनाम-सर्वनामों में सरलीकरण है. हि. की विशेषता है. सर्वनाम के दो रूप मिलते हैं- प्रत्यक्ष तथा तिर्यक. तिर्यक रूप प्रायः संबंधकारण भी है (जो अन्विति में मा. हि. की तरह तीन रूपों- मेरा, मेरे, मेरी- में रूपसिद्ध होता है). परसर्ग तिर्यक रूप में लगते हैं.

प्रत्यक्ष	तिर्यक
मैं	*मेरे*
हम	*हमारे*
तू	*तेरे*
तुम	*तुमारे*
ये, इन; वो, उन	*इस, उस*
ये, इनों/इनूँ (इन्हों?);	
वो, उनों/उनूँ (उन्हों?)	*इन, उन*

जिस तरह मा. हि. में बोलचाल में ये, वो दोनों वचनों में प्रयुक्त होते हैं, उसी तरह है. हि. में भी है. बहुवचन तथा आदरार्थ में 'इनों, उनों' का प्रयोग अधिक है. *उनों आये. उनोंच* (वे ही), *इनों क्या कि बोल रे* (ये कुछ कह रहे हैं), *उनों भी हैं क्या अंदर?* (क्या वे भी अंदर हैं?), 'इन, उन' का प्रयोग एकवचन में भी होता है (*इन तुमकू क्या लगती/होना* 'यह तुम्हारी क्या लगती है?', *उन बच्चा है बोल के छोड़ दिया* 'छोड़ दिया कि बच्चा है') और यह रोचक बात है कि ये दोनों शब्द बहुवचन/आदरार्थ तिर्यक रूप भी हैं (*उन कने* 'उनके पास', *उनकू* 'उन्हें', *उनका*). मा. हि. की तरह *लोगाँ* (लोग) से वास्तविक बहुवचन का प्रयोग मिलता है (*हम लोगाँ, अपन लोगाँ, तुम लोगाँ, इन लोगाँ, उन लोगाँ*). सामान्य रूप से 'तुम' का ही प्रयोग होता है, 'आप' शिष्ट भाषा तक सीमित है. है. हि. में 'अपना' का प्रयोग नहीं है. *मैं मेरे घर कू जा रहा. तुम्हारी किताब बताओ* (अपनी किताब दिखाओ). 'हम' यहाँ श्रोतारहित प्रथम पुरुष बहुवचन है 'अपन' श्रोतासहित प्रयोग. यह द्रविड़ भाषाओं की विशेषता है. इसी अर्थ में एक व्यक्ति भी अपने लिए 'अपना' का प्रयोग कर सकता है, जैसे मा. हि. में एक व्यक्ति अपने लिए 'हम' का प्रयोग करता है. देखें **अपना.** 'कौन भी' (कोई) तथा 'क्या भी' (कुछ) है. हि. की विशेषताएँ हैं. *कौन भी नईं* (कोई नहीं), *कौन भी नईं करे* (किसी ने नहीं किया), *ये कौन भी नईं खाता* (यह कोई नहीं खा सकत/खाता), *कौन सा भी ले लो* (कोई-सा/कोई एक ले लो), *क्या भी नको खाओ* (कुछ मत खाओ), *मैं क्या भी नईं करा* (मैंने कुछ नहीं किया), *क्या भी नईं कर रा मैं* (मैं कुछ नहीं कर रहा

हूँ), *क्या तो भी देके जाओ* (कुछ तो दे कर जाओ). (3) 'क्या कि' (कुछ) प्राय: निषेधार्थक संदर्भों में ही आता है. *कौन आये थे? कया कि* (नहीं मालूम). मा. हि. के तकिया कलाम 'क्या है कि' से इसकी तुलना कर सकते हैं. *वो क्या कि बोल रा* (पता नहीं कि वह क्या कर रहा है) में इस प्रच्छन्न निषेध को देख सकते हैं. इसी दृष्टि से यह 'क्या भी' से भिन्न है. आगे के वाक्य में 'क्या कि' नहीं आ सकता, भले उसमें 'नहीं' है. *क्या भी नईं कर रहा मैं (*क्या कि नईं करा मैं, *क्या कि कर रा मैं)* (मैं कुछ नहीं कर रहा), *क्या भी नको खाओ* (कुछ मत खाओ). (4) पूरक वाक्य की संरचनाओं के अतिरिक्त (*ये बच्चा है*) अन्य स्थानों में सहायक क्रिया 'है' का लोप होता है. उच्चारण क्रम में 'है' के लोप के कुछ उदाहरण ऊपर देखे. अन्य उदाहरण *हैं मैं चलतूँ, लाडाँ कर रई* (लाड़ कर रही है), *मारा रा उन* (वह मार रहा है). सहायक क्रिया 'था' का प्रयोग सामान्य रूप से होता है, लेकिन क्रिया रचना के सरलीकरण के कारण वर्णन में इसका भी लोप देखा जा सकता है. बच्चे के मुँह से उदाहरणार्थ एक कहानी प्रस्तुत है- *एक चूहा गलीच फिरता. उसके दुम में काँटा चुभता. हज्जाम मामू को बुलाता. बुलाके मेरा काँटा निकालो बोलता. बस्ता लेके भाग जाता.* यहाँ वास्तव में 'है, था' के लोप का ही सवाल नहीं, बल्कि पक्ष व्यवस्था में भी सरलीकरण परिलक्षित होता है. वर्णन में प्राय: हर जगह अपूर्ण पक्ष की क्रिया देखते हैं. पूर्ण पक्ष में भी 'आया, आया है, आया था' आदि रूपों में काल का अंतर सहायक क्रिया के लोप के कारण खत्म हो जाता है. भविष्य के संदर्भ में भी अपूर्ण पक्ष का प्रयोग (*कपड़ा लाते?* 'कपड़ा लाओगे') सरलीकरण के कारण तो है ही, *अपूर्ण पक्ष में फुटकर खाते ही तरह इस्तेमाल के कारण भी है.* हमने ऊपर उल्लेख किया कि पूरक वाक्यों में 'है' आ सकता है. उल्लेखनीय है कि कई जगह इसके स्थान पर 'होता' का प्रयोग मिलता है. *ये इसकी अम्मी है न? नई होती. उन आदमी नईं होता, बच्चा है.* (5) कई जगह अपूर्ण पक्ष की रचना के स्थान पर (बिना आवश्यकता के) निरंतरताबोधक कृदंत का प्रयोग मिलता है. 'यह काम होता है' की जगह 'काम होते रहता है' इस प्रवृत्ति का द्योतक है. ऐसे संदर्भों में कृदंत तिर्यक, अविकारी रूप में आता है और केवल 'रहता है' लिंग-वचन के लिए अन्वित होता है. *सलमाँ बाताँ करते रैती, वो क्या कि बोलते रैता* (न मालूम वह क्या कहता है/ कहता रहता है), *याँ एइच होता रैता* (यहाँ यही होता है). (6) 'ला लेना' है. हि. की विशेषता है. सामान्य रूप से है. हि. की रंजक क्रियाएँ मा. हि. के समान हैं, लेकिन रंजक क्रिया में पूर्वकालिक कृदंत का व्यापक प्रयोग (*पकड़ लेके, कर लेके, खा लेके*) यहाँ की विशेषता है. 'चला जाना' में ऊपर (5) के उदाहरणों की तरह 'चले जाना' रूप

मिलता है (*वह चले गया*) और इसमें भी पूर्वकालिक कृदंत आता है (*चले जाके*). इसी तरह रंजक क्रियाओं में 'रहा' का प्रयोग भी व्यापक है. *उनों कर ले रै* (वे कर रहे हैं). (7) क्रियाविशेषण- 'यहाँ, वहाँ, कहाँ' आदि के स्थान पर प्राय: *इधर, उधर, किधर* का प्रयोग मिलता है, यद्यपि *याँ* (यहाँ), *काँ कू* (कहाँ) *जा रे* आदि प्रयोग भी मिलते हैं. गत्यर्थक क्रियाविशेषणों (*बाजार कू जाना, घर कू जाना*) तथा समयवाचक क्रियाविशेषणों (*सवेरे कू, पाँच बजे कू*) में 'को' का प्रयोग शायद द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण है. *जब कू* (उस समय) विशिष्ट प्रयोग है और *सुबह में, शाम में* अधिक प्रचलित प्रयोग हैं. (8) परसर्ग: है. हि. में चार परसर्ग हैं- को/कू, से, में, पर. परसर्गीय शब्द अधिकतर मा. हि. के अनुरूप हैं. *के कने* 'के पास' का पर्याय है. *इन कने फूलाँ हैं देखो* (इनके पास फूल हैं, देखो), *मेरे कने नईं आओ. काय कू* <काहे, 'किसलिए'), *के सरका* <सरखा 'की तरह'), *बिगर* (बिना, वगैर), *ये/येई बास्ते* (इसलिए, इसीलिए) यहाँ के विशिष्ट प्रयोग हैं. (9) निपात- है. हि. में 'ही' के लिए 'च' का प्रयोग मिलता है, जिसका स्रोत मराठी भाषा है. इसके कई रूप-स्वनिमिक भेद हैं. ऊकारांत, ओकारांत तथा ईकारांत शब्दों में /च/ लगता है. घर *कूच जा रा* (घर ही जा रहा है), *परसोंच* (पहले ही), *नकोच* (नहीं ही), *उनोंच* (वे ही), *नईंच* (नहीं ही), *गलीच* (गली (में ही). अकारांत (ह्रस्व) शब्दों में /ईच/ लगता है. *इधरीच, निश्चलीच* ((नवीन) निश्चल ही). आकारांत तथा एकारांत शब्दों में /इच/ लगता है. *एइच* (यही), *अच्छेइच, सुबेइच* (सुबह ही), *घर मेंइच, छोकराइच, थोड़ाइच, इत्ताइच* (इतना ही). 'ही' का रूप /ई/ कहीं अकेले आता है. *सोई* (वही). *सोइच, परसोंइच में* /इ/ (ई 'ही') तथा /च/ का योग अधिक बल के लिए है.

4. व्याकरणिक विशेषताएँ: (1) है. हि. में 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता. क्रिया अकर्मक वाक्य की तरह कर्ता के साथ अन्वित होती है. *तुम फिल्म देखे क्या? मैं हत्या नईं करा. पुलिसवाला मारा. शोभा शादी कर ली थी.* 'ने' का प्रयोग अर्जित व्यवहार है और अर्जन की स्थिति के बाद बोल' में भी 'ने' का प्रयोग देखा जा सकता है, *अम्मा ने बोला था*[1]

1. मैंने इससे मिलती प्रवृत्ति हिंदी भाषियों में भी देखी है. भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि बोलियों में 'ने' का प्रयोग नहीं होता. ये बोलियाँ बोलने वाले व्यक्ति अक्सर 'ने' छोड़ देते हें. हाल में एक मगही भाषी सज्जन से बात कर रहा था तो अनुभव किया कि वे 'ने' के प्रयोग की दृष्टि से सचेत है. सब जगह उन्होंने सजगता से 'ने' का प्रयोग किया- यहां तक कि 'ला' के साथ भी.

-जगन्नाथन

(2) है. हि. में 'चाहना' चाहिए' का प्रयोग नहीं मिलता. संज्ञा + चाहिए की रचना में 'होना' का प्रयोग होता है. *तुमारे को क्या होना? मेरे को एक साड़ी होना.* 'चाहना, चाहिए' के अन्य संदर्भों में मूल वाक्य के अर्थ के अनुसार क्रियार्थक संज्ञा वाली रचनाएँ मिलती हैं. मध्यम पुरुष के वाक्य सुझाव, अप्रत्यक्ष विधि या निषेध की तरह आते हैं, अत: कर्ता प्रत्यक्ष होता है; उत्तम पुरुष में कर्ता + को की रचना मिलती है; अन्य पुरुष में इन दोनों का संयोजन है. कुछ उदाहरण देखें-

तुम्हें जाना चाहिए	*तुम जाना*
तुम्हें नहीं जाना चाहिए	*तुम नको जाओ/तुम जाना नईं*
मुझे जाना है/ मुझे जाना चाहिए/	
मैं जाना चाहता हूँ	*मेरे को जाना (है)*
क्या तुम्हें जाना है/ क्या तुम जाना चाहते हो	*तुमकू भी जाना (है) क्या?*

'मैं एक कमीज चाहता हूँ' की जगह *मेरे को... होना* की ही रचना मिलती है. (2) है. हि. में 'मत' का प्रयोग नहीं मिलता, बल्कि 'नईं' ही निषेध में आता है. *मेरे कने नईं आओ. मिठाई नईं खा.* 'नईं' वाक्य के अंत में आ सकता है. *क्या कि बोल नईं* (कुछ मत कह). 'नको' है. हि. का विशेष प्रयोग है, जो मराठी से आया है. सामान्य रूप से किसी बच्चे को किसी कार्य के लिए संकेत से मना करने के लिए जिस तरह मा. हि. में 'नहीं गुड़िया' कहते हैं, उस तरह यहाँ 'नको गुड़िया' का प्रयोग मिलता है. 'नको' दूसरी तरफ़ 'नहीं चाहिए' के अर्थ में आता है. कुछ प्रश्नोत्तर देखें-

तुमकू मिठाई होना?	*नको*
तुम खाना खाओ/ तुम खाना खाते क्या?	*अबी नको*

(4) संबंधसूचक सम्मिश्र वाक्य (relative sentences): मा. हि. में जिस तरह 'जो... वह' से विशेषण उपवाक्य की रचना होती है, वैसी रचना का है. हि. में अभाव है. यहां अस्वतंत्र उपवाक्य वाक्यांश स्तर पर अंतर्निहित संरचना के रूप में आता है, और यहाँ 'सो' योजक शब्द है.

आपने जो बात कही थी वह...	*आप बोले सो बात...*

विशेषण उपवाक्य वाक्य के कर्ता, कर्म दोनों के लिए आता है. आगे के दो वाक्यों में क्रमशः कर्ता और कर्म का विशेषीकरण है. ध्यान दें कि है. हि. में ये दोनों वाक्य सतही स्तर पर समान लगते हैं. कर्म-विशेषण वाक्य प्रायः अकर्तृक होता है.

वह आदमी जो कोट पहने है...	*कोट पैने सो आदमी*
यह वही फिल्म है जो हमने देखी है	*यह देखे सोई फिल्म है*

इन अकर्तृक वाक्यों में योजक से पहले का कृदंत अविकारी होता है. *फोन पर बोले सो बाताँ याद रखो (*बोली सो बाताँ), इसमें रखे सो चिट्ठी (*रखी सो चिट्ठी).* शायद इसका कारण है कि 'बोले' ('ने' के अभाव में तथा कर्ता के उल्लेख के अभाव में) अंतर्निहित क्रिया वाक्यांश है, न कि विशेषण शब्द. कुछ रोचक वाक्य देखिए- *काला कोट पैने सो है बोलके मालूम होता* (लगता है कि... वह है जो काला कोट पहने है). *स्टैंड रखे सो ऊपर चढ़े देखो* (?देखो कि जो स्टैंड रखा है उस पर चढ़ा हुआ है). क्रियाविशेषण उपवाक्यों की रचना योजक शब्द 'वैसा, तब, उधर' से होती है. *गन्ना खींच ले रे/ रँय वैसा कर रई* (यह ऐसा कर रही है, जैसे वे गन्ना खींच रहे हों). *मैं आयी तब कौन भी नईं था* (जब मैं आयी...). *लोगाँ बैठे हैं उधरीच* (जहाँ लोग बैठे हैं, वहीं-वहीं, जहाँ...). (5) इतिवृत्तात्मक वाक्य (quotatives) : मा. हि. में पुनःकथन 'कि' से सूचित होता है, जबकि है. हि. में 'बोलके/करके' से या इनके अभाव में भी हिंदी में पुनःकथन का उपवाक्य स्वतंत्र या मूल उपवाक्य के बाद 'कि' से जोड़ा जाता है, जबकि है. हि. में वह उपवाक्य के भीतर कर्म के स्थान में आता है. कुछ वाक्य देखिए-

उसने कहा था कि मैं आता हूँ	*वह आतूँ (बोलके) बोला*
माँ ने मुझसे कहा था कि तुम जाओ	*अम्मा मेरे को जाओ बोली*
आपसे किसने कहा कि आप जाएँ	*आपको कौन जाओ बोले*
... कहा कि कुछ मत खाओ	*क्या भी नको खाओ बोली*

'बोलके/करके' का प्रयोग द्रविड़ भाषा परिवार की विशेषता का प्रभाव है. 'बोलके' इतिवृत्तात्मक शब्द ही नहीं, प्रयोजन या उद्देश्य सूचित करने के लिए भी आता है. आगे के उदाहरण देखें- *मैं छोड़ दिया बच्चा है बोलके* (मैंने इसलिए/ यह सोच कर छोड़ दिया था कि बच्चा है), *मैं जरूरी जाना बोलके गया* (मैं इसी कारण गया था कि जाना जरूरी

है), *अच्छा है बोलके लिया था* (यह सोच कर लिया था कि अच्छा है), *मैं खाली बोलना बोलके बोला* (मैंने यों ही कह दिया था कि कुछ कहना है~मैंने यों ही कह दिया था). वर्णन में, खास कर बच्चों के कहानी सुनाने में एक भिन्न प्रकार की इतिवृत्तात्मक रचना दिखायी पड़ती है जहाँ इतिवृत्तात्मक शब्द कते <कहते) है. *एक राजा था कते. वो लोगाँ शाम में आ रें कहते.* यहाँ 'कहते' का प्रकार्य मा. हि. के 'ऐसा है, बात (यों) है, कहा जाता है' (ऐसा है कि एक राजा था. ...) के समान है. स्मरणीय है कि है. हि. में 'कहना' का प्रयोग नहीं मिलता. यहाँ पर केवल इतिवृत्तात्मक शब्द है. (6) 'कि/या नहीं' की जगह क्रिया की पुनरुक्ति देखी जा सकती है. *तुम सीता को देखे नहीं देखे?* (देखा कि नहीं?). *उनों आये नई आये? तुम जाओगे नई जाओगे?* (7) 'अगर करूँ/करूँगा' की रचना के स्थान पर 'ने' रहित पूर्ण पक्ष की क्रिया का प्रयोग होता है और 'अगर' लुप्त रहता है. *तुम खाना नई खाये तो पीटूँगा. वो काम नई करे तो मारूँगा.* बीते काल के संदर्भ में 'अगर. जाते' की रचना भिन्न होती है. *तुम क्यूँ नई गये. तुम जाते थे तो साब पैसे देते थे* (तुम जाते तो साहब पैसे देते). *साब पैसे देते थे. तुम काय कू नई गये?* (साहब पैसा दे देते. तुम क्यों नहीं गये?) (8) कृदंत: है. हि. में पूर्वकालिक कृदंत की रचना 'के' से होती है. *बोलके, करके, देखके, लाके, देख लेके, ला लेके, उतर जाके, पूछ लेके.* मा. हि. के 'बिना देखे' आदि के स्थान पर भी पूर्वकालिक कृदंत का प्रयोग होता है. *बिगर देख के, बिगर पूछके चला गया.* इसी तरह 'उन्हें यहाँ आये दस दिन हो गये' आदि वाक्यों के कृदंत के स्थान पर पूर्वकालिक कृदंत का प्रयोग मिलता है. *उनको इधर आके दस रोज हो गये.* मा. हि. का प्रयोग है 'आने के बाद'. **कृदंत** में चर्चा की गयी है कि 'आना' का व्यापार पूर्ण होने की स्थिति में ही 'बाद' की सार्थकता है. है. हि. के 'आये बाद, गये बाद' आदि प्रयोग पूर्ण पक्ष के प्रयोग की इस विशेषता की ओर इंगित करते हैं. (9) बहुधा प्रश्न बिना 'क्या' के बनते हैं. *मेरे को लेके जाते?* मुझे ले जाओगे'. *कपड़ा लाते?* 'कपड़ा लाओगे'. और 'क्या' आये तो वह अंत में आता है (*कपड़े ला लूँ क्या? छोकरा चले गया क्या? उनों भी आते क्या? क्या वे भी आ रहे हैं'. उनों आतु बोले क्या?* 'क्या उन्होंने कहा था कि वे आएँगे'). अंत में 'क्या' का प्रयोग द्रविड़ भाषा परिवार की विशेषता है, जहाँ प्रश्नवाचक वाक्य निश्चयार्थक वाक्यों के अंत में कोई रूप जोड़ने से बनते हैं. (10) क्रियार्थक संज्ञा वाली कुछ रचनाओं में करने आदि तिर्यक रूपों का प्रयोग होता है. 'करना जानती हूँ' की जगह 'करने आता' का प्रयोग होता है और कर्ता में /को/ लगता है. *मेरे को तिरने आता*

(तैरना आता है). विकल्प में 'गाने को' भी मिल सकता हे. *मेरे को गाने को आता.* इसी तरह भूल जाना के साथ भी करने आदि रूप मिलते हैं. *मैं खत डालने भूल गया.*

5. शब्द प्रयोग: दकनी से जुड़ी होने के कारण है. हि. में पुरानी भाषा से प्राप्त कई शब्द आधारभूत शब्दावली में आते हैं. *मौज* (केला), *दीदे* (आँखें) तथा अन्य मुहावरे *दीदे मटकाना, दीदे निकालना* क्रमश: अरबी और फ़ारसी के हैं. *हौला* (पागल) <हौल, अरबी, 'डर'?), *कल्ले* (गाल) (कल्ला, फ़ा., 'जबड़ा'?) द्रष्टव्य हैं. तेलुगु-मराठी के प्रभाव के कारण है. हि. में सैकड़ों शब्द प्रचलित हैं, जो मा. हि. में नहीं हैं. तेलुगु से आये शब्द हैं *तांबेल* (कछुआ), *जुट्टु* (चोटी), *चिल्लर* (रेजगारी), *पोट्टा* (लड़का), *पोट्टी* (लड़की) (ये दोनों शब्द नर, मादा के लिए प्रयुक्त होते हैं और यहाँ तिरस्कारसूचक हैं), *?पातरनी* (तितली); मराठी से आये शब्द हैं *सपोटा* (चीकू), कम और ज्यादा के अर्थ में *कमती, जास्ती, मुंड* <मोंड) (*मुंड चाकू* 'कुंद चाकू', *मुंड लड़का* 'ढीठ लड़का'), घट्ट <गठ?) (*घट्ट दाल* 'गाड़ी दाल', *घट्ट आदमी, कलेजा घट्ट करना*), *हौ* (हाँ), *नको. गंगाल* (बड़ा पीतल का बर्तन) का स्रोत दोनों में से एक है. हिंदी भाषा के अपने कई शब्द है. हि. में मा. हि. से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं. 'परसों' पहले के अर्थ में आता है. 'जभी' कब का के अर्थ में आता है (*मैं जभी खाना खा लिया*). 'चुपके' यों ही, *आकारण* के अर्थ में प्रयुक्त होता है *(वह चुपकेइच रो रई). ख़ाली* (यों ही) शायद मराठी के प्रभाव के कारण है. 'बाबू' सामान्य रूप से छोटे बच्चे, अपरिचित छोटे व्यक्ति के लिए संबोधन का शब्द है. इसी तरह छोटी लड़कियों के लिए 'अगे' संबोधन का शब्द है.

वशिनी शर्मा

8

भाषा का प्रयोजनमूलक स्वरूप और हिन्दी

-कृष्ण कुमार गोस्वामी

भाषा एक सामाजिक यथार्थ है। इसका विकास मानव के सामाजिक जीवन के विभिन्न प्रयोजनों के संप्रेषण के लिए हुआ है। यह सामान्य संप्रेषण नहीं होता, वरन् दैनिक जीवन के विभिन्न प्रयोजनों को साधने के लिए होता है। सामाजिक जीवन में इन विभिन्न संदर्भों, स्थितियों और कार्य-क्षेत्रों में भाषा का प्रयोग होने से उसके कई रूप उभरने लगते हैं। वस्तुत: भाषा अपने आप में समरूपी होती है, परन्तु प्रयोग में आने से वह विषमरूपी बन जाती है। इन्हीं प्रयोगगत भेदों के कारण कई भाषा भेद दिखाई देते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क इतना सृजनशील होता है कि विभिन्न स्थितियों, संदर्भों और उद्देश्यों के अनुरूप वह भिन्न-भिन्न भाषा शैलियों का प्रयोग करता है और ये शैलियाँ सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रयोजनपरक संदर्भों में नियंत्रित होती हैं।

इसी संदर्भ में भाषा के मुख्य रूप से दो पक्ष हैं- एक का संबंध मानव की सौन्दर्यपरक अनुभूतियों के आलंबन से होता है और दूसरा पक्ष भाषा के प्रयोजनपरक आयामों से जुड़ा रहता है। भाषा के सौन्दर्यपरक आयाम में भाषा सर्जनात्मक होती है, जिसका विकास साहित्य की भाषा के रूप में होता है। यह भाषा कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं में निखर कर आती है। इसके साथ-साथ यह भाषा देश-विशेष या क्षेत्र-विशेष के सामाजिक , सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों को अपने भीतर समेटे होती है। भाषा के दूसरे पक्ष का संबंध हमारी सामाजिक आवश्यकताओं और जीवन की उस व्यवस्था से होता है जो व्यक्तिपरक होकर भी समाज-सापेक्ष होता है। यह भाषा का प्रकार्यात्मक आयाम है जिसका प्रयोग किसी प्रयोजन-विशेष या कार्य-विशेष के संदर्भ में होता है। यह भाषा प्रशासन व्यवस्था और तकनीकी क्षेत्रों में आविष्कारोन्मुख होकर देश-विशेष या क्षेत्र-विशेष के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रकार्य की दृष्टि में प्रयोजनमूलक भाषा तथा साहित्यिक भाषा एक ही है। लेकिन इनके स्वरूप में मूल अंतर यह कि साहित्यिक भाषा में अर्थ व्यंजनाश्रित और लाक्षणिक होता है तथा प्रयोजनमूलक भाषा अभिधापरक और एकार्थी होती है ताकि कहने वाले या लिखने

वाले व्यक्ति की बात का निश्चित और सही आशय समझा जा सके। वस्तुत: प्रयोजनमूलक भाषा में व्यंजनार्थ की कोई गुंजाइश नहीं होती और उसमें यह प्रयास रहता है कि वह स्वत: स्पष्ट और स्वत: पूर्ण हो तथा वक्ता या लेखक का मंतव्य निश्चित और सटीक हो। उदारहरण के लिए; 'पानी' शब्द का प्रयोग साहित्य में तीन अर्थों में होता है- चमक, जल और इज्जत।

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न उबरे, मोती मानस चून।

प्रयोजनमूलक भाषा में 'पानी' जल या तरल पदार्थ के अर्थ में होता है। प्रयोजनमूलक भाषा-सीधी-सपाट भाषा होती है और इसका सामाजिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं से कोई विशेष संबंध नहीं होता, लेकिन साहित्यिक भाषा लक्षणापरक होती है और उसका संबंध संस्कृति से पूर्णतया होता है। हिन्दी में कमल, जलज, पंकज जैसे एक ही अर्थ देने वाले शब्द अपने भीतर सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ समेटे हुए हैं जबकि विज्ञान की भाषा में 'कमल' शब्द वनस्पति के रूप में एक विशेष फूल के अर्थ में होता है और इसका संबंध सामाजिक एवं सांस्कृतिक परंपरा से नहीं होता। इस प्रकार साहित्यिक भाषा का लक्ष्य सौन्दर्यानुभूति अथवा रसास्वादन होता है जबकि प्रयोजनमूलक भाषा का लक्ष्य सेवा-माध्यम होता है जो जीविकोपार्जन का साधन बनता है।

सामान्य भाषा और विशिष्ट भाषा

यह सही है कि भाषा का साहित्यिक और प्रयोजनमूलक रूप सामान्य बोलचाल की भाषा से काफी भिन्न होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में हम रोजमर्रा के जीवन में कई लोगों से बात करते रहते हैं। हमें अलग-अलग लोगों से अलग-अलग ढंग से बात करनी होती है। माता-पिता, भाई-बहन, मित्र, दुकानदार, अध्यापक आदि से बात करते समय भाषा का विभिन्न रूपों में प्रयोग किया जाता है। लेकिन भाषा के ये रूप भिन्न-भिन्न होते हुए भी इनके बोलने और समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। यह सामान्य बोलचाल की भाषा है और यह जीवन में सामान्य प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होती है। इसका ज्ञान सामान्य जीवन के परिवेश से ही व्यक्ति प्राप्त कर लेता है और इसके लिए किसी औपचारिक शिक्षा या प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

विशिष्ट प्रयोजनों में विशिष्ट वर्ग द्वारा और विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयोग की जाने वाली भाषा विशिष्ट भाषा होती है। इसमें विषय का प्रतिपादन और निर्धारण होता है। इस का ज्ञान विशेष शिक्षा या विशेष अभ्यास से प्राप्त किया जाता है। इस विशिष्ट भाषा में अपने-अपने विषय की शब्दावली और अपनी संरचना होती है, जो इसे विशेष रूप प्रदान करती है। डाक्टरी की विशिष्ट भाषा में डाक्टरी की शब्दावली होती है; इंजीनियरी की भाषा में इंजीनियरी की, कार्यालय की भाषा में कार्यालय की और विज्ञान की अपनी वैज्ञानिक शब्दावली होती है। वास्तव में सामान्य भाषा और विशिष्ट भाषा एक होती है किन्तु शब्दावली और संरचना की दृष्टि से दोनों अलग-अलग हो जाती हैं। सामान्य भाषा की अभिव्यक्ति-शैली लाक्षणिक, व्यंजनापरक या अनेकार्थी या अलंकारपूर्ण भी हो सकती है जबकि विशिष्ट भाषा अभिधा-प्रधान, गंभीर, अलंकार-रहित, सीधी, स्पष्ट और एकार्थी होती है। लेकिन यह बात अवश्य है कि इसमें एक ओर सामान्य बोलचाल की भाषा की रवानी होती है तो दूसरी ओर उसका मानक रूप भी रहता है जो आमतौर पर सामान्य भाषा में नहीं होता। इस मानक रूप में एकरूपता, सुनिश्चितता और शब्द प्रयोग का औचित्य निहित रहता है। विशेष प्रयोजनों वाली ऐसी विशिष्ट भाषा को प्रयोजनमूलक भाषा भी कहा जाता है।

प्रयोजनमूलक भाषा: स्वरूप और क्षेत्र

प्रयोजनमूलक भाषा से अभिप्राय 'प्रयोजन' या 'निष्प्रयोजन' के विपरीतार्थ में नहीं, वरन् वह भाषा के व्यावहारिक पक्ष को उजागर करने के लिए प्रयुक्त भाषायी रूप है। यह भाषायी रूप सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता है और इसका प्रयोजनमूलक विशेषण इसके व्यावहारिक और कामकाजी पक्ष को अधिक स्पष्ट करता है। भाषा के प्रयोजनमूलक रूप को अंग्रेजी में 'फंक्शनल लेंग्वेज' (Functional Language) या 'लेंग्वेज फार स्पेसिफिक पर्पज' (Language for specific purpose) कहते हैं जिसमें विभिन्न प्रकार्यों या प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भाषा का अर्थ निहित है। हिंदी के संदर्भ में कुछ विद्वानों ने 'प्रयोजनमूलक हिन्दी' की अपेक्षा 'व्यावहारिक हिन्दी' या 'कामकाजी हिन्दी' नाम अधिक उपयुक्त समझा है। 'व्यावहारिक हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसलिए भी हो रहा है क्योंकि कुछ विद्वानों को प्रयोजनमूलक हिन्दी से यह लगता है कि कोई ऐसी हिन्दी भी है जिसे निष्प्रयोजनपरक कहा जा सकता है। इस संदर्भ में कुछ विद्वानों ने 'प्रयोजनमूलक' विशेषण को ही अर्थगर्भित और उचित बताया है। डॉ. नगेन्द्र (1987)

का कथन है कि "वस्तुत: प्रयोजनमूलक हिन्दी के विपरीत अगर कोई हिन्दी है तो वह निष्प्रयोजनमूलक नहीं वरन् आनन्दमूलक हिन्दी है। आननद व्यक्ति-सापेक्ष है और प्रयोजन समाज-सापेक्ष। आनन्द स्वकेन्द्रित होता है और प्रयोजन समाज की ओर इशारा करता है। हम आनन्दमूलक हिन्दी के विरोधी नहीं हैं, इसलए आनन्दमूलक साहित्य के हम भी हिमायती हैं। पर, सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में हम संप्रेषण के बुनियादी आधार को भी अपनी नज़र से ओझल नहीं करना चाहते।" प्रयोजनमूलक विशेषण में निहित संकेत को स्पष्ट करते हुए और निष्प्रयोजन हिन्दी की अवधारणा को अस्वीकार करते हुए डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा (1987) कहते हैं कि "निष्प्रयोजन हिन्दी कोई चीज नहीं है लेकिन प्रयोजनमूलक विशेषण उसके व्यावहारिक पक्ष को अधिक उजागर करने के लिए प्रयुक्त किया गया है।"

वास्तव में 'व्यावहारिक हिन्दी' नामकरण से यह भ्रम पैदा होता है कि व्यावहारिक हिन्दी से अभिप्राय ऐसी हिन्दी से है जिसमें भाषिक एवं सामाजिक संदर्भ की अपेक्षा भाषा के व्यावहारिक संदर्भ पर अधिक बल दिया जाता है। व्यावहारिक हिन्दी का अर्थ है दैनिक जीवन में कार्य साधन के लिए प्रयुक्त की जाने वाली हिन्दी। इस भाषा में व्याकरणिक संरचना पर ध्यान न देकर उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर बल दिया जाता है। इस के विपरीत प्रयोजनमूलक भाषा में संपर्क तथा संप्रेषण की आवश्यकता होती है जिसकी अभिव्यक्ति प्रशासन, विधि, विज्ञान, पत्रकारिता आदि विविध प्रयोजनों के रूप में होती है। विविध प्रयोजनों में प्रयुक्त होने वाली भाषा में शब्दावली, वाक्य-रचना और शैली के स्तर पर भेद होता है। यह भेद इस बात पर निर्भर करता है कि कौन, किस से, कब और किसलिए बात कर रहा है या संपर्क कर रहा है। उदाहरण के लिए, कक्षा में अध्यापक और छात्र के भाषिक संप्रेषण और न्यायालय में वकील तथा उसके मुवक्किल या वकील तथा न्यायाधीश के भाषिक संप्रेषण की शब्दावली, वाक्य रचना, पदबंध, शैली और लहज़ा में अंतर होगा।इसी प्रकार, गणित, विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, भाषाविज्ञान और साहित्य की भाषा के अंतर्गत शब्दावली, वाक्य-विन्यास और शैली में भेद दिखाई देता है। इस सारी स्थिति को ब्रिटिश स्कूल के हेलिडे, मेकिनतोश, स्ट्रिवेन्स जैसे सुप्रसिद्ध भाषाविदों ने (1964) इन शब्दों में व्यक्त किया है, "हम यह पता लगाना चाहते हैं कि लोग किस के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। जब हम भाषायी व्यापार को विभिन्न संदर्भों में देखते हैं तो हम भाषा-रूपों में अंतर पाते हैं जिनका चयन विभिन्न स्थितियों

में उपयुक्त ढंग से किया जाता है।" इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रीय विकास के लिए भाषा के साहित्यिक और साहित्येतर दोनों पक्षों की आवश्यकता होती है। कोई भी भाषा कितनी विकसित तथा कितनी समर्थ क्यों न हो, इसका मूल्यांकन इस आधार पर किया जाता है कि उसके साहित्य में कितनी विविधता है तथा क्या उसमें सभी विषयों से संबंधित विचार और अभिव्यक्ति करने की क्षमता है? उस भाषा का प्रयोग किन-किन क्षेत्रों में, कितनी मात्रा में हो रहा है आदि। इसके साथ यह भी देखा जाता है कि क्या वह आधुनिक युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सक्षम है और भविष्य में इसकी प्रगति के लिए क्या-क्या संभावनाएँ हैं।

विभिन्न व्यवसायों के और काम-धंधों के लिए सेवा माध्यम के रूप में इस्तेमाल होने पर प्रयोजनमूलक भाषा के कई रूप सामने आते हैं। जो इस प्रकार हैं:

(1) कार्यालयी भाषा (Officialese) : यह सरकारी कामकाज और प्रशासन में प्रयुक्त होने वाला भाषा-रूप है।

(2) तकनीकी भाषा (Technicalese) : यह इंजीनियरी, विज्ञान, शास्त्र या चिकित्सा आदि का भाषा-रूप है।

(3) वाणिज्यिक भाषा (Commercialese) : यह वाणिज्य बैंक या मंडियों का भाषा-रूप है।

(4) जनसंचारी भाषा (Language of Mass Media) : यह पत्रकारिता, आकाशवाणी, दूरदर्शन और विज्ञापन में प्रयुक्त होने वाला भाषा-रूप है।

(5) समाजी भाषा (Socialese) : यह सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और राजनीतिज्ञों की भाषा का एक रूप है।

(6) साहित्यिक भाषा (Language of Literature) : इसका प्रयोग काव्य, नाट्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि की भाषा के रूप में होता है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी के प्रणेता मोटूरि सत्यनारायण (1987) ने इसी आधार पर प्रयोजनमूलक हिन्दी के छह मुख्य रूप बताए हैं- कार्यालयीन हिन्दी, तकनीकी हिन्दी, वाणिज्यिक हिन्दी, जनसंचारी हिन्दी, समाजी हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी।

प्रयोजनमूलक भाषा और प्रयुक्ति

भाषा को उसके सामाजिक संदर्भ की दृष्टि से अलग एक और दृष्टि से भी विश्लेषित किया जा सकता है। यह दूसरी दृष्टि है शुद्ध भाषाविज्ञान की। भाषाविज्ञान भाषा को अमूर्त्त प्रतीकीकरण प्रक्रिया का परिणाम मानता है। इसके अनुसार भाषा समाज में प्रतिफलित होकर भी सामाजिक संदर्भों से मुक्त रहती है। इस वर्ग के विद्वान भाषा सिद्धांत की जब भी बात उठाते हैं वे अपनी दृष्टि केवल भाषा की संरचना तथा उसकी क्षमता तक ही सीमित कर लेते हैं। सामाजिक उपकरण और सांस्कृतिक संदर्भ के साथ जुड़कर यह अमूर्त्त प्रतीकीकरण का सिद्धांत किस प्रकार व्यवहारजन्य बनता है, किस प्रकार व्यावहारिक क्षमता, वाक्य विन्यास या पूरी भाषा को समझने में एक ठोस आधार देता है इस चर्चा को वह प्राय: नहीं उठाता। इसलिए उसके अनुसार भाषा समरूपी होती है और भाषा में दिखाई पड़ने वाले भेद-प्रभेद और कुछ नहीं बल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओं से नियंत्रित तथा मनुष्य की मानसिक क्षमता की सीमा से बाधित आदर्श रूप के विकृत रूप होते हैं। दूसरी ओर, समाज भाषाविज्ञान भाषा को विषमरूपी मानता है और उसके अनुसार भाषा के विभिन्न रूपों का जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार प्रादुर्भाव होता है। ये विभिन्न रूप भाषा के यथार्थ और वास्तविक रूप हैं। इन भाषा-रूपों का एक अलग व्याकरण बनता है। इस व्याकरण में विविध स्थितियों तथा विषयों में भाषा व्यवहार की एक निश्चित परिपाटी होती है जिसका पालन व्यक्ति जाने-अनजाने करता है। इसी के आधार पर जीवन के विविध क्षेत्रों में भाषा के विशिष्ट प्रयोग क्षेत्र या व्यवहार-क्षेत्र बनते हैं। इन्हीं प्रयोग-क्षेत्रों या व्यवहार-क्षेत्रों से प्रयुक्ति की संकल्पना आई है। वास्तव में भिन्न कार्य क्षेत्रों के लिए जिन भाषा रूपों का प्रयोग किया जाता है उन्हें प्रयुक्ति कहा जाता है। प्रयुक्ति के आधार पर भूमिका- भेदीकरण (Role Differentiations) और स्थितियों के संदर्भ (Context of Situations) माने जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न संदर्भगत और भूमिकागत प्रयोगों में भाषा व्यवहार में जो भेद पाए जाते हैं वे प्रयुक्ति (Register) कहलाते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति जब समाज में विभिन्न भूमिकाएँ निभाता है- कभी वह परिवार के मुखिया के रूप में व्यवहार करता है तो कभी व्यावसायिक के रूप में, कभी खिलाड़ी के रूप में, कभी वैज्ञानिक के रूप में या प्रोफेसर के रूप में,कभी वह बच्चों के पिता के रूप में, तो कभी वह पति के रूप.में भाषा का व्यवहार करता है और इस प्रकार वह निश्चित रूप से विभिन्न भाषा-रूपों का निर्वाह करता है। इसका अर्थ हुआ कि बदली हुई

सामाजिक भूमिका के संदर्भ में व्यक्ति की भाषा भी व्यक्ति, संदर्भ और भूमिका के अनुरूप बदलती रहती है। इसलिए कुछ विद्वानों ने इन भाषा-रूपों को भूमिका-सापेक्ष प्रयुक्ति (Role-Oriented Register) की संज्ञा दी है। स्थितियों के संदर्भ में भाषा के जो भेद उभर कर आते हैं उन्हें भी प्रयुक्ति कहा गया है। लेकिन इन प्रयुक्तियों के भेद के कारण व्यक्ति की सामाजिक भूमिका नहीं होती वरन् प्रयोग की विभिन्न क्षेत्रीय भूमिका होती है।

इस प्रकार विषय क्षेत्र से संबंधित जो भाषा-भेद दिखाई देते हैं उनका प्रयोग जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के लिए विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है। इस प्रकार के भाषा रूप का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन से किया जाता है, इसलिए इसे 'विशिष्ट प्रयोजन की भाषा' (Language for Specific Purpose) भी कहा गया है। इस विशेष प्रयोजन की भाषा के तीन आयाम माने गए हैं: 1. वार्ताक्षेत्र 2. वार्ता प्रकार और 3. वार्ता शैली।

वार्ताक्षेत्र: भाषा रूपों में विषय के तकनीकी या अतकनीकी होने के कारण जो प्रयोगत भेद दिखाई देते हैं, उन्हीं के आधार पर प्रयुक्तियों का निर्धारण किया जाता है। इसलिए इसे 'विषय क्षेत्र' भी कहा गया है। उदाहरण के लिए; कार्यालय, पत्रकारिता, इंजीनियरी, वाणिज्य, विज्ञान आदि की भाषा में जो भेद दिखाई देता है वह 'विषय' पर ही आधारित है। वास्तव में विषय के आधार पर जिन प्रयुक्तियों का निर्माण होता है उनकी पारिभाषिक शब्दावली तथा भाषा संरचना एक-दूसरे से भिन्न होती है। विज्ञान, इंजीनियरी, चिकित्साशास्त्र, विधि आदि के भाषा-रूप तकनीकी प्रयुक्ति में आते हैं और कार्यालय, वाणिज्य, पत्रकारिता आदि के भाषा रूप अर्ध-तकनीकी प्रयुक्ति के अंतर्गत आते हैं।

वार्ता प्रकार: इसमें यह देखा जाता है कि भाषा का प्रयोग मौखिक रूप में किया जा रहा है या लिखित रूप में, क्योंकि मौखिक भाषा में प्राय: वाक्य रचना पूर्ण नहीं रहती या उसका सुव्यवस्थित रूप नहीं होता। कभी-कभी ध्वनियों तथा शब्दों का भी लोप हो जाता है। उच्चारण भेद, ध्वनियों के आरोहण-अवरोहण तथा वक्ता के मुख और अन्य अंगों द्वारा प्रदर्शित हाव-भाव से वाक्य का पूरा अर्थ समझा जाता है, जबकि लिखित भाषा में पूर्ण शब्दों की सही वर्तनी के साथ पूर्ण वाक्य लिखे जाते हैं। यह भाषा प्राय: व्यवस्थित और संपादित होती है। इस दृष्टि से तकनीकी भाषा प्राय: लिखित रूप में सामने आती है। कार्यालयी भाषा मुख्यत: लिखित होती है। इसके साथ आकाशवाणी या दूरदर्शन में प्रसारित समाचारों की भाषा लिखित भाषा या पठित या मौखिक रूप होता है।

वार्ता शैली: इसमें वक्ता-श्रोता या लेखक-पाठक संबंध अधिक महत्वपूर्ण है। अधिकारी और कर्मचारी के बीच या कर्मचारी-चपरासी के बीच या यजमान और अतिथि के बीच सामाजिक संबंध के साथ भाषा-शैली बदलती है। सामाजिक संदर्भों, स्तरों और संबंधों के परिप्रेक्ष्य में भाषा की मुख्य रूप से पाँच शैलियाँ स्वीकार की गई हैं- रूढ़िगत, औपचारिक, सामान्य, अनौपचारिक और अंतरंग। तकनीकी भाषा-रूप प्राय: रूढ़िगत, औपचारिक और सामान्य होते हैं, लेकिन अर्ध तकनीकी या गैर-तकनीकी रूप औपचारिक, सामान्य तथा अनौपचारिक आदि शैलियों में मिल जाते हैं। विज्ञान की भाषा प्राय: रूढ़िगत, औपचारिक या सामान्य तीनों शैलियों में मिलती है। इसी प्रकार आकाशवाणी और दूरदर्शन में विज्ञापन की भाषा प्राय: औपचारिक और अनौपचारिक दोनों शैलियों में मिलती है।

प्रयुक्ति और शैली

प्रयुक्ति और शैली में कोई विशेष अंतर नहीं है। यह अंतर केवल सामाजिक स्थिति या कार्यक्षेत्र के भेद का कारण किया जा सकता है। शैली के संदर्भ में विभिन्न भूमिकाओं की प्रधानता रहती है जबकि प्रयुक्ति कार्य-क्षेत्र या विषय-क्षेत्र प्रधान है। प्रयुक्ति विशेष की शैली के लिए औपचारिक प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है जबकि सामाजिक शैली में इसकी कोई आवश्यकता नहीं। प्रयुक्ति व्यवसाय या विषय विशेष से जुड़ी हुई है जबकि सामाजिक शैली का संबंध सामाजिक परंपरा और संस्कृति से है। इस प्रकार प्रयुक्ति-विशेष शैली और सामाजिक शैली विभिन्न भूमिकाओं के कारण अलग-अलग हैं किन्तु वे हैं भाषा-शैली के रूप ही।

हिन्दी की प्रयुक्तियाँ

प्रयुक्तियों का संबंध भाषा से रहता है और विभिन्न संदर्भों में भाषा के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता है। इस दृष्टि से भाषा की प्रकृति लचीली होती है। इसलिए किसी भी भाषा से कोई भी काम लिया जा सकता है। हिन्दी की प्रयुक्तियों को देखने से पहले हमें यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि भाषा प्रयुक्ति एक प्रकार का भाषा-रूप है। हिन्दी के इन विभिन्न भाषा-रूपों को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है:

(1) भाषा-शैली का संदर्भ

(2) भाषा प्रयुक्ति का संदर्भ

भाषा- शैली की दृष्टि से हिन्दी की संस्कृतनिष्ठ या साहित्यिक हिन्दी, अरबी-फ़ारसी मिश्रित हिन्दी अर्थात् उर्दू और सामान्य बोलचाल की हिन्दी अर्थात् हिन्दुस्तानी जैसे भाषा शैलियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इतना ही नहीं हिन्दी में एक ही विषय क्षेत्र में हम तीनों का प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए; हम उपन्यास लिखना चाहें या ज्ञान के लिए किसी भी क्षेत्र पर चर्चा करना चाहें तो हिन्दी की उपर्युक्त तीनों शैलियों में से किसी एक का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र हैं।

भाषा-प्रयुक्ति की दृष्टि से भाषा-शैली का संदर्भ भी भिन्न है। भाषा प्रयुक्ति का स्वरूप संस्कृत-मिश्रित, अरबी-फ़ारसी मिश्रित बंधनों से युक्त होता है और इसका संबंध प्रयोग-क्षेत्र से बनता रहता है। इसलिए हिन्दी प्रयुक्तियों में विषय भाषा को नियंत्रित करता है और इसी कारण विषय से संबंधित शब्दावली, विषय से संबंधित अभिव्यक्तियाँ तथा संबंधित वाक्य-संरचनाएँ रहती हैं। इसमें आवश्यकतानुसार एक शैली का या दो शैलियों का या तीनों का मिला-जुला प्रयोग किया जाता है।

(1) हिन्दी प्रयुक्तियों में भाषा का एक विशेष स्वरूप निर्मित हो चुका है। एक विषय के संदर्भ में एक शब्द का एक ही निश्चित अर्थ होता है चाहे सामान्य भाषा में दो-तीन शब्द एक ही अर्थ में क्यों न प्रयुक्त होते हों। उदाहरण के लिए; कार्यालयी (प्रशासन) क्षेत्र में आदेश, निदेश, अनुदेश जैसे पारिभाषिक शब्द अपनी-अपनी सैद्धांतिक संकल्पनाएँ लिए हुए कार्यालयी प्रयुक्ति में प्रयुक्त किए जाते हैं, जबकि सामान्य भाषा में इनका प्रयोग एक ही अर्थ में हो सकता है। कार्यालय की प्रयुक्ति में एक शब्द या अधूरे वाक्य पूरे वाक्य का अर्थ देते हैं- जैसे तत्काल, गोपनीय, आवश्यक कार्रवाई के लिए। इसी तरह कार्यालयी अभिव्यक्तियों का प्रयोग अन्य प्रयुक्तियों में नहीं होता। 'आपको चेतावनी दी जाती है', 'यह सूचित किया जाता है', 'यह मामला वित्त विभाग को भेजा जाए' जैसी वाक्य संरचनाएँ भी प्रशासनिक प्रयुक्ति की विशेषताएँ हैं। इस प्रकार हिन्दी की प्रयुक्ति में शब्द, पदबंध और वाक्य भिन्न स्वरूप लिए हुए हैं।

(2) व्यवसाय के क्षेत्र में मुद्रा, पूँजी, उत्पादन, सहकारिता, दिवालिया, बिचौलिया जैसे शब्दों के अर्थ और उनके प्रयोग व्यवसाय के क्षेत्र में सुनिश्चित हैं। दूसरी प्रयुक्तियों में यह संभव है कि इनके अर्थ में या इनके संदर्भ में भेद हो। व्यापारिक सूचनाओं में भाषा का प्रयोग एक विशेष ढंग से होता है। समाचारपत्रों में बाज़ार भाव पढ़ते समय 'सोना

लुढ़का, चाँदी ढीली, गेहूँ के भाव टूटे, मक्की में तेज़ी, जीरा फिर भड़का' आदि विशेष प्रयोग मिलते हैं।

(3) खेल-कूद की प्रयुक्ति के संदर्भ में हिन्दी में हमें सलामी बल्लेबाज, मुक्केबाजी, निर्णायक टेस्ट, साझेदारी, पारी, छक्का, चौका जैसे भाषा प्रयोग दिखाई देते हैं और इसके साथ ही बढ़त लेना, गोल दागना, पकड़ मजबूत होना जैसे भाषा प्रयोग भी मिलते हैं जो अन्य किसी प्रयुक्ति में इस्तेमाल नहीं होते।

(4) वैज्ञानिक भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता संकेतों और प्रतीकों का प्रयोग है। वैज्ञानिक हिन्दी में ये संकेत प्राय: रोमन अथवा ग्रीक अक्षरों या चिह्नों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे, 'किरणों के नाम अल्फा (α) किरण, बीटा (β) किरण और गामा (γ) किरण' रखा गया है। परमाणु, घनत्व, गलनांक, पैट्रोल-चालित, आयनीकरण आदि शब्द अपना अलग अस्तित्व बनाए हुए हैं।

इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि हिन्दी की प्रयुक्तियों का अपना संदर्भ, प्रकार्य और प्रयोग निश्चित हो गया है। इतना ही नहीं, प्रयुक्तियों की संरचना इतनी स्पष्ट हो गई कि हम उनके प्रयोग द्वारा ही यह कह सकते हैं कि यह कार्यालय की हिन्दी है, यह पत्रकारिता की हिन्दी है या यह बैंक में प्रयुक्त हिन्दी है।

हिन्दी प्रयुक्ति के विकास में विभिन्न धाराएँ

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 में हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति का उपकरण मानते हुए उसके विकास के लिए मुख्य रूप से संस्कृत को अपनाया गया है। इसका कारण यह है कि संस्कृत से एक ही रूपावली के अनेक शब्दों का निर्माण किया जा सकता है। लेकिन इसके अतिरिक्त हिन्दी की प्रयुक्ति के विकास में कई अन्य धाराओं का भी योगदान रहा। इनमें प्रमुख हैं- पुनरुत्थानवादी, अंतर्राष्ट्रीयतावादी, लोकवादी और समन्वयवादी।

(1) पुनरुत्थानवादी धारा: इस धारा को शुद्धतावादी या राष्ट्रीयतावादी भी कहा जाता है। कुछ लोग इस धारा को संस्कृतवादी भी कहते हैं। इस धारा का आधार संस्कृत भाषा है तथा इस मत के समर्थकों के अनुसार संस्कृत शब्दों को हिन्दी में तत्सम रूप में ग्रहण किया जाए और आवश्यकता के अनुसार हिन्दी के शब्दों का निर्माण भी संस्कृत के धातु,

उपसर्ग, प्रत्यय आदि के आधार पर किया जाए। इसी आधार पर पारिभाषिक शब्दावली में बहुत से शब्दों को लिया गया और बनाया गया है। उदाहरण के लिए; ईक्षण' धातु के साथ उपसर्ग या प्रत्यय लगाने से वीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण, निरीक्षण, पर्यवेक्षण, अधीक्षण, संवीक्षा, परीक्षा, परीक्षक, संवीक्षक, नरीक्षक, पर्यवेक्षक, सर्वेक्षक आदि शब्द बन जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह विशेषता अंग्रेजी से ग्रहीत या लोक प्रचलित शब्दों में नहीं है, क्योंकि इन भाषाओं में संस्कृत भाषा के समान संश्लेषणात्मकता और उर्वरता नहीं है।

(2) अंतर्राष्ट्रीयतावादी धारा: इस प्रयुक्ति को शब्दग्रहणवादी, आदानवादी, स्वीकारवादी भी कहा जाता है। इसके समर्थकों का कहना है कि अंग्रेजी एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा है। भारत में भी कई भाषाएँ हैं, इसलिए सभी भाषा-भाषियों की सुविधा के लिए अंग्रेजी के शब्दों को उसी रूप में या हिन्दी भाषा की ध्वनि के अनुरूप लेना चाहिए। इससे अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को याद रखने में सुविधा होगी। लेकिन सभी शब्दों को हिन्दी अपने-आप में आत्मसात नहीं कर सकती। इस धारा के उदाहरण के रूप में हम राडार, किलोग्राम, टन, लीटर, मीटर, हाइड्रोजन, हीलियम आदि शब्दों को देख सकते हैं।

(3) लोकवादी धारा: यह साधारणत: जन सामान्य में प्रयुक्त है। इसकी प्रकृति स्वंभाषावादी होती है। इसके समर्थक लोक प्रचलित शब्दों के आधार पर ही पारिभाषिक शब्द बनाने के पक्षधर हैं। डाकघर, मसौदा, दलबदलू, घेराव, रेलगाड़ी, आलाकमान, आदि अनेक शब्द इस धारा के उदाहरण के रूप में अपनाए गए हैं। जन साधारण में अर्थ संप्रेषण की दृष्टि से देखा जाय तो यह धारा उचित है परन्तु पर्याप्त संख्या में लोक प्रचलित शब्द उपलब्ध नहीं है। उदाहरण के लिए; दूरदर्शन या टेलीविजन, आकाशवाणी या आल इंडिया रेडियो, लेखापरीक्षक या आडीटर आदि के लिए लोक निर्मित शब्द बनाना कठिन है।

(4) समन्वयवादी धारा: भारतवर्ष बहुभाषी देश है। इसलिए अधिकतर विद्वान इस मध्यमार्गी धारा के पक्ष में हैं। इस धारा में पुनरुत्थानवादी, अंतर्राष्ट्रीयवादी, लोकवादी तीनों दृष्टिकोणों को समन्वित रूप में किया गया है। शब्द ग्रहण के लिए उन शब्दों पर बल दिया जाता है जो संदर्भ के साथ उपयुक्त हों। इस प्रकार के शब्दों को विभिन्न देशी भाषाओं, बोलियों से या संस्कृत से या अंग्रेजी से लिया जा सकता है। इस धारा के अंतर्गत प्रचलित शब्दों को समाज की आवश्यकताओं के अनुसार ग्रहण किया जाता है। इसमें ऐसे अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को भी लिया जा सकता है, जिनका प्रयोग कई देशों में होता हो; जैसे-

ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, न्यूटान, प्रोटान, विटामिन आदि हिन्दी में प्रचलित हैं। भारतीय भाषाओं में कई प्रचलित शब्दों को ग्रहण किया गया है जैसे अणु, तार, महाद्वीप। इसमें संस्कृत शब्दावली को भी आधार माना गया है, जिससे आवश्यकतानुसार शब्दों का निर्माण किया जा सकता है। जैसे मानव से मानवीय, मानवता, मानवीकरण, मानविकी। हिन्दी पर अरबी-फ़ारसी का काफी प्रभाव है, इसलिए जिला, हलफनामा, वकालतनामा, ज़मानत, कानून आदि कई शब्द ग्रहण किए गए हैं। इसके अलावा विभिन्न भाषाओं से भी शब्दों को लिया गया है जैसे बंगला से बाहिनी, मराठी से पावती। बोधगम्यता और सरलता को ध्यान में रखते हुए समस्त शब्दों का अनुवाद एक रूप में किया गया है। जैसे- 'टेली' शब्द के लिए 'दूर' शब्द है और इससे दूरदर्शन, दूरभाष, दूरमुद्रक, दूरसंचार आदि कई शब्द बनाए गए हैं। इसी कारण हिन्दी में तीनों प्रवृत्तियों को आसानी से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए चुनाव-निर्वाचन-इलेक्शन, जच्चा घर-प्रसूतिगृह-मैटरनिटी होम, अदालत-कचहरी-न्यायालय-कोर्ट। इसके अतिरिक्त फिल्म अभिलेखागार, बेबाकीपत्र ऐसे संकर शब्द हैं जो हिन्दी की शब्दावली का संवर्धन करते हैं।

इस प्रकार मानव के दैनिक जीवन में विभिन्न संदर्भों, विषयों और कार्यक्षेत्रों के परिप्रेक्ष्य में कई प्रयोगतम भेद उभर आते हैं। इन प्रयोगगत भेदों की अपनी विशिष्ट भाषा होती है और उनके विशिष्ट प्रयोजन होते हैं। वास्तव में भाषा परस्पर संप्रेषण का एक ऐसा उपादान है जिसकी सहायता से व्यक्ति विशेष परिस्थिति, संदर्भ तथा विशिष्ट प्रयोजन में इसका प्रयोग करता है और वह प्रयोग उसी संदर्भ, प्रयोजन और परिस्थिति में सटीक तथा उपयुक्त बैठता है।

9

'शब्द' की परिभाषा तथा उसके अर्थ-प्रतिपादन का परिप्रेक्ष्य: हिन्दी के विशिष्ट संदर्भ में

- रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

एक भाषिक इकाई के संदर्भ में 'शब्द' को सामान्यत: बहुआयामी कार्य के रूप में देखा जाता रहा है (Chao, 1966)। एक ओर परम्परागत व्याकरणिक सिद्धांत 'शब्द' को सर्वोपरि इकाई स्वीकार करता है, तो दूसरी ओर आधुनिक भाषाविज्ञान इसे द्विअर्थक एवं विरोधाभाषी स्थितियों में रखकर देखता है (Lyons, 1968, Mathews, 1974)। भाषा अध्ययन के परम्परागत दृष्टिकोण के आधार पर 'शब्द' को व्याकरण की सैद्धांतिक एवं संक्रियात्मक इकाई मानते हुए रूपविज्ञान एवं वाक्यविज्ञान के स्तर पर स्वीकार किया गया; अर्थात् रूपवैज्ञानिक धरातल पर इसे बाह्य शब्द-संचरना या शब्द रूप से जोड़ा गया और वाक्यीय धरातल पर अंतर शब्द-घटना के रूप में इसे भाषा संगठन का प्रमुख तत्त्व माना गया। पारदर्शी एवं बोधन-क्षमता से जुड़े रूपिम सिद्धांत में शब्द को व्युत्पन्न माना गया। इतना ही नहीं, भाषाविज्ञान में इसे 'रचना' माना गया और समाज भाषाविज्ञान में इसे पदावनत किया गया (Greenberg, 1957 : 27)। इसीलिए विभिन्न विद्वान 'शब्द' की संकल्पना को उसकी प्रकृति में विविधरूपी मानते हुए भाषायी विश्लेषण की दृष्टि से इसे पूर्णत: अनुपयुक्त सिद्ध करते हैं (Wells, 1947)। इस संदर्भ में यह एक रोचक तथ्य है कि भाषायी रचना की दृष्टि से 'रूपिम' को शब्द का उचित विकल्प नहीं माना गया है। यहाँ लायन्स (1970: 22) के विचार द्रष्टव्य हैं कि भाषाविज्ञान में 'रूपिम' का प्रयोग व्यापक स्तर पर होने के साथ-साथ अधिकांशत: भ्रमपूर्ण ही है। यहाँ पर भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि रूपवैज्ञानिक एवं वाक्यवैज्ञानिक तथ्यों की चर्चा करते समय परम्परागत वैयाकरण भाषाविश्लेषण के लिए शब्द सापेक्ष दृष्टि का ही निर्वाह करते रहे। आधुनिक भाषाविज्ञान में प्रशिक्षित अनेक विद्वान हिंदी संरचना विश्लेषण के समय, रूपिम या वाक्य के आधार को प्राथमिकता देते देखे जा सकते हैं। यही कारण है कि किशोरीदास वाजपेयी का 'शब्दानुशासन' व्याकरण की व्यापक संकल्पना का पर्याय बन गया है (Vajpeyi, 1966), और काचरू के आलेखों में भी 'शब्द' को कोई निश्चित प्रतिष्ठा देने का प्रयत्न नहीं दिखाई देता। यहाँ शब्द की परम्परागत संकल्पना पर संक्षेप में विचार कर लेना

असमीचीन न होगा, क्योंकि एक और हिंदी वैयाकरणों की पुरानी पीढ़ी व्याकरण की इसी परम्परागत संकल्पना की देन थी, इस तथ्य की जानकारी हमें मिलती है, और दूसरे इस संदर्भ में हम शब्द की प्रकृति एवं प्रकार्य पर हुई विचारोत्तेजक चर्चाओं से भी सीधे जुड़ पाते हैं।

भारतीय व्याकरण सिद्धांत में 'शब्द' को मुख्य एवं सर्वोपरि इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। इस धारणा के परिप्रेक्ष्य में ही भाषा के सिद्धांत, व्याकरण एवं शब्दकोश निर्मित किए गए हैं। यहाँ यह भी स्वीकार किया गया है कि भाषा की सर्जनात्मक बुनावट में शब्द ही आधार है तथा शब्द भाषा के वे पूर्वनिर्मित तत्त्व हैं, जिनके आधार पर क्रमशः बड़े भाषिक खंड, जैसे पदबंध, उपवाक्य, वाक्य इत्यादि निर्मित होते हैं। व्याकरण इन खंडों की व्याकरणिक संरचना के अध्ययन का ही नाम है। इसी संदर्भ में 'शब्द' की संज्ञा आई तथा इसकी सम्पूर्ण विक्रास-सूची को किसी भाषा का 'शब्दकोश' कहा गया। यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि 'शब्दकोश' में प्रयुक्त 'शब्द' तथा वाक्य में प्रयुक्त शब्द (पद) प्रकार्य के धरातल पर सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए पद वे शब्दरूप हैं, जो रूप-वाक्यात्मक गुणों से युक्त होते हैं। इस संदर्भ में निम्नलिखित चारों वाक्यों में 'लड़का' कोशीय इकाई की दृष्टि से एक है, परन्तु चार भिन्न अभिव्यक्ति के रूप में ये चार भिन्न पदों के रूप में दिखाई देते हैं-

(1) लड़का बोल रहा है। (एकवचन कर्ता कारक)?
(2) लड़के बोल रहे हैं। (बहुवचन कर्ता कारक)
(3) लड़के को बुलाओ। (एकवचन कर्म कारक)
(4) लड़कों को बुलाओ। (बहुवचन कर्म कारक)

यह कहना कि 'लड़का', 'लड़के', 'लड़के को', 'लड़कों को' एक ही मूल शब्द के चार भिन्न रूप-वाक्यात्मक रूप हैं और 'लड़की' अपनी रूपात्मक संरचना में एक भिन्न शब्द है, शब्द को अमूर्त रूप से परिभाषित करना है। इस अमूर्त अर्थ में 'शब्द' का अभिप्राय आधुनिक संकल्पना 'शब्दिम' के समतुल्य हो जाता है, क्योंकि 'शब्दिम' विभिन्न रूपांतरित 'रूपों' (पदों) के माध्यम से रूप-वाक्यात्मक नियमों के अनुसार वाक्यों का निर्माण करते हैं।

'शब्द' शब्दिम के रूप में तथा पद के रूप में 'उक्ति' के अंग नहीं माने गए हैं: ये कुछ भाषायी प्रक्रिया के परिणाम हैं, उदाहरण के लिए कुछ निम्नलिखित उदाहरण देखे जा सकते हैं-

(5) लड़का जाता है।
(6) लड़का जा रहा है।
(7) लड़का गया।

उपर्युक्त वाक्यों में ध्वन्यात्मक भेद तथा वाक्यात्मक प्रकटीकरण का भेद होते हुए भी तीनों वाक्यों में शब्दिम 'जाना' (to go) को समान माना जा सकता है, जबकि वाक्यात्मक इकाई (पद) के धरातल पर तीनों ('जाता', 'जा रहा' और 'गया') भिन्न इकाइयाँ (items) हैं। इस संदर्भ में उदाहरणस्वरूप वाक्य-6 को देखा जा सकता है, जिसमें शब्दिम 'जा रहा' ध्वनि तथा वर्तनी के धरातल पर तो दो भिन्न इकाइयों 'जा' और 'रहा' द्वारा संघटित है, जबकि 'पद' के रूप में यह एक ही इकाई है।

(5[1]) # # जा + पक्ष (स्वाभाविक) + संज्ञा पद संकेतक # काल #

(6[1]) # # जा + पक्ष (सातत्य) + संज्ञा पद संकेतक # काल #

(7[1]) # # जा + पक्ष (पूर्णता) +संज्ञा पद संकेतक # काल #

(+ = रूपिम सीमा, # = वर्तनी की दृष्टि से शब्द की सीमा; # # = पद की सीमा; वाक्य (7) 'गया' 'जा' क्रिया का सर्वादेशी रूप है)

इस उदाहरण की भाँति ही 'लड़का' शब्द के समस्त पदरूप यथा- 'लड़के, 'लड़के का', 'लड़के के लिए', 'लड़के के बारे में' आदि कोशीय धरातल पर एक होते हुए भी पद के धरातल पर भिन्न इकाइयाँ हैं। और वर्तनी के धरातल पर 'लड़के के बारे में' चार भिन्न शब्दों में लिखा गया है, और साथ ही एक ही पद के ये चार घटक माने जाते हैं। गुरु (1920 : 54) ने शब्द-सीमा के प्रश्न पर विचार करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि पद की सीमा प्रत्यय की सीमा के अनुरूप होती है, अर्थात् उस प्रत्यय के अनुरूप जिसके उपरान्त कोई प्रत्यय नहीं जोड़ा जा सकता।

यदि अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि शब्द किसी भाषा की पूर्व संरचित इकाई है और पद-संचरना प्रक्रिया के उपरांत प्रजनित होता है। यदि शब्द की संकल्पना को भाषा के पूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखा जाए (मूल रूप से कोशविज्ञान की दृष्टि

पूर्व संरचित शब्दों को 'अ-व्युत्पन्न शब्द' के रूप में परिभाषित किया गया है, जिन्हें 'रूढ़' की संज्ञा दी गई है। उदाहरण के लिए 'लड़का', 'नाक', 'पीला' आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं। इसके विपरीत जो शब्द किसी-न-किसी संरचना प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निर्मित होते हैं, उन्हें 'यौगिक' की श्रेणी में रखा जाता है। यौगिक शब्दों को शब्द निर्माण की प्रक्रिया के स्तर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है: व्युत्पन्न शब्द और सामासिक शब्द। पहली प्रक्रिया व्युत्पन्न शब्दों को प्रजनित करती है और दूसरी सामासिक शब्दों को। पहली प्रक्रिया रूढ़ शब्दों द्वारा नए शब्द-निर्माण तक सीमित है, जैसे-पीलापन = # पीला + पन #; लड़कपन = # लड़क + पन #, जबकि दूसरी प्रक्रिया उन सभी प्रकारों को अपने भीतर समेटती है, जिनमें दो या दो से अधिक शब्दों के सामंजस्य से नया शब्द बनता है, जैसे- रसोईघर = # रसोई + घर #, घुड़सवार = # घोड़ा + सवार # आदि।

व्युत्पन्न एवं सामासिक शब्दों की कोशीय स्थिति के विषय में हिंदी वैयाकरणों के विचार भी यहाँ असमीचीन न होंगे। इन विचारों पर चर्चा करने से पहले शब्दकोश एवं व्याकरण के परिप्रेक्ष्यों पर भी चर्चा कर लेनी चाहिए। मूलत: सम्पूर्ण भाषा-क्षेत्र को दो धरातलों पर विभाजित किया गया है- शब्दकोश और व्याकरण। 'शब्दकोश' विचारों की स्वायत्त वस्तुओं का विशेष विवरण है और व्याकरण वस्तुओं के बीच के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। शब्द भाषा की इकाई है और संक्रिया के धरातल पर इसके दो भिन्न पक्ष हैं- कोशीय शब्द (शब्दिम) और व्याकरणिक शब्द (प्रकार्यात्मक शब्द); अत: भाषा के समस्त सहायक शब्द (auxiliary), यथा- परसर्ग, संयोजक, कोप्यूला, सर्वनाम आदि शब्द मात्र व्याकरणिक शब्द के रूप में स्वीकृति पाते हैं, अत: इन्हें शब्दकोश अपने भीतर नहीं समेटता। हिंदी के संदर्भ में यह एक ध्यातव्य तथ्य है कि उसका एक ही शब्द स्वप्न-प्रक्रियात्मक दृष्टि से एक संदर्भ में कोशीय तो दूसरे में व्याकरणिक भी होता है–

(8) लड़का घर जाता है।

(9) लड़के से खाया नहीं जाता।

वाक्य (8) में हिंदी शब्द 'जा' की कोशीय स्थिति 'जाना' के अर्थ में स्वीकृत है, जबकि वाक्य (9) में यह शब्द निष्क्रिय चिन्हक (passive marker) बनकर पूर्णत: व्याकरणिक बन जाता है। इस संदर्भ में बेस्क्रोव्नी (1960) का विवेचन देखा जा सकता है जिसमें वे 'रह' (ना) की तीन भिन्न परिणतियाँ स्थापित करते हैं: कोशीय धरातल पर to live

के अर्थ में; व्याकरणिक धरातल पर अपूर्ण कालिक पक्ष चिन्हक के रूप में तथा सामासिक धरातल पर स्थिति के नैरंतर्य के संदर्भ को अभिप्रेरित करने के अर्थ में।

इस प्रकार कोशीय इकाई के रूप में शब्द सदैव अर्थीय संक्रिया से बंधा होता है। शब्द की यह अर्थीय परिभाषा ही उसे विचारों की स्वायत्त इकाई के रूप में स्थापित करती है। इसीलिए शब्दों के बहुवचन साधितों, को 'लड़का', 'घोड़ा' के संदर्भ में एक ही कोशीय एकक (item) के दो रूप माना जाता है, जबकि इन्हीं के स्त्रीलिंगबोधक साधितों, यथा– 'लड़की', 'घोड़ी' को दो भिन्न कोशीय इकाइयों के रूप में स्वीकृत किया जाता है। इस पक्ष को निम्नलिखित (10) और (11) में दिए गए युग्मों के संदर्भ में देखा जा सकता है–

(10) चाम चमार

लोहा + आर (व्यवसायसूचक प्रत्यय) = लुहार

सोना सुनार

(11) आम अमिया

खाट+इया (अल्पार्थक प्रत्यय) = खटिया

पुल पुलिया

जैसा कि श्रीवास्तव और गुप्ता (1968) ने विवेचित किया है कि दोनों युग्मों के व्युत्पन्न शब्दों की कोशीय स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रकार (10) में दिए गए शब्द युग्म दो भिन्न कोशीय एकक हैं, क्योंकि दोनों दो भिन्न स्वायत्त विचारों को व्यक्त करते हैं और प्रकार (11) के युग्म एक ही कोशीय इकाई के दो विकल्प हैं। शब्द की अर्थीय परिभाषा बहुअर्थक (polysemous) और समस्वनिक (homophonous) शब्दों को भिन्न शब्द मानती है न कि विभिन्न आर्थी एवं प्रकार्यी एककोशीय इकाई। परिवर्णी शब्द (acronyms) तथा यौगिक शब्द शब्द ही हैं, यद्यपि वे अर्थीय हो सकते हैं। परिवर्णी शब्द उस सृजन-प्रक्रिया के परिणाम हैं जिसमें दो या दो से अधिक शब्दों का संक्षिप्तीकरण होता है। प्रत्येक परिवर्णी शब्द के साथ दो या दो से अधिक शब्दों का एक पदबंध रहता है जैसाकि श्रीवास्तव एवं चोपड़ा (1983) ने दिखाने का प्रयत्न किया है कि जब एक परिवर्णी शब्द का सृजन व मानकीकरण हो जाता है तो उसे एक स्वायत्त-स्वतंत्र शब्द

का स्थान मिल जाता है। उदाहरण के लिए हिंदी में हमारे पास आंसुका (आंतरिक सुरक्षा कानून), भालोद (भारतीय लोक दल) आदि परिवर्णी शब्द हैं जो अपने रूप व प्रकार्य में वास्तविक शब्द की भाँति ही हैं, जबकि इनके साथ पदबंधीय व्याख्या भी सम्भव है। इसी प्रकार हिंदी के यौगिक शब्दों को जो सामान्यत: समाज-प्रक्रिया द्वारा निर्मित होते हैं उन्हें बाह्य रूप-प्रकार्य के आधार पर ही शब्द माना जाता है। साधारणतया ये वाक् (parole) की ही इकाइयाँ हैं जिन्हें सम्बन्धित भी कहा जा सकता है। इस प्रकार 'सुख-दुख', 'चर-अचर', 'देशभक्ति' जैसे यौगिक शब्द तथा संधि-प्रक्रिया द्वारा निर्मित शब्द, यथा– 'सूर्यास्त' (सूर्य + अस्त), 'शुभेच्छु' (शुभ + इच्छु), 'यहीं' (यह + ही) आदि वाक् प्रक्रिया के अंग हैं और इसीलिए ये 'लांग' के अंतर्गत नहीं रखे जाते।

यह एक रोचक तथ्य है कि यौगिक शब्दों में विचारों की स्वायत्त इकाई के रूप में कार्य करने की क्षमता होती है। इस प्रकार की क्षमता से युक्त शब्दों को गुरु ने योगरूढ़ शब्द कहा है अर्थात् वे शब्द जो वितरण द्वारा यौगिक शब्द बनते हैं या संकेत (sign) वर्णन द्वारा, परन्तु अपने कोशीय प्रकार्य के संदर्भ में ये सरल (simplex) होते हैं (गुरु, 1920)। उदाहरण के लिए हिंदी के 'जलवायु', 'आबोहवा', 'कामदेव', 'कालीमिर्च' आदि। इस प्रकार के कुछ यौगिक शब्द अपने संघटकों के अर्थ से अतिक्रमण भी करते हैं, जैसे-'दालचीनी'।

यौगिक शब्द एक ओर तो योजक चिन्हों द्वारा व्यक्त होते हैं और दूसरी और उन्हें एक ही शब्द के रूप में समन्वित माना जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार के यौगिक शब्दों में प्रयोग की दृष्टि से कई विकल्प देखे गए हैं। उदाहण के लिए यदि (क) प्रतिव्यक्ति; (ख) प्रतिदिन; (ग) प्रतिबिम्ब-इन तीन शब्दों को ही देखा जाय तो इन्हें शर्मा (1958 : 182) यौगिक शब्द मानते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों से किए गए सर्वेक्षण से यह तथ्य प्राप्त हुआ कि वे (क) एवं (ग) को क्रमश: द्विशब्द एवं एकशब्द मानते हैं और (ख) के उनके प्रयोग में प्रर्याप्त विविधता देखने को मिली है, क्योंकि कुछ इसे एक शब्द के रूप में लिखते हैं, और कुछ द्विशब्द के रूप में। इसका मूल कारण मानक्रीकरण के अभाव को माना जा सकता है, क्योंकि हमारे परीक्षण में वाक्-व्यवहार के धरातल पर भी इनमें अस्थिरता मिली।

इसे संदर्भ में दो बिंदुओं पर और भी चर्चा कर लेना समीचीन होगा। उदाहरण (क) को अन्य दो उदाहरणों से इस आधार पर भिन्न माना जा सकता है कि किसी अन्य शब्द को

इस यौगिक शब्द के दोनों तत्त्वों के बीच जोड़ा जा सकता है, जैसे 'प्रति दो व्यक्ति'। यह प्रक्रिया (ख) (ग) के संदर्भ में लागू नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह भी है कि उदाहरण (ग) ने 'सक्षम शब्द' का स्थान प्राप्त कर लिया है और उदाहरण (ख) इस स्थान को प्राप्त करने के प्रयत्न में है। हमारे सर्वेक्षण में यह भी तथ्य उभरकर सामने आया कि 'प्रत्यक्ष यौगिक' (apparent compound) शब्दों के 'सक्षम शब्द' में बदलने की प्रक्रिया जो जागरूक घेरा बनाती है उसे निम्नांकित रेखांकन द्वारा भी समझा जा सकता है-

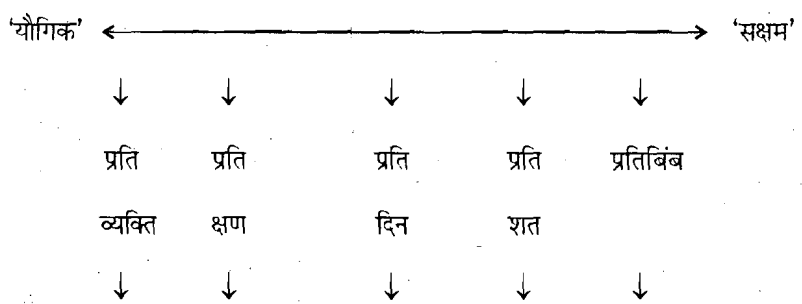

एक शब्द	1	6	11	16	20
द्विशब्द	19	14	9	4	-

(प्रत्येक उदाहरण की कुल उपस्थिति की संख्या: 20)

यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि 'आव-ओ-हवा' में -ओ-'और' अर्थ का द्योतक है और इस योगरूढ़ शब्द में इसका प्रकार्य संयुक्त स्वर की भांति है। इस प्रकार के योगरूढ़ शब्द एक इकाई मात्र इस कारण से नहीं है कि वे अर्थीय धरातल पर स्वायत्त विचार की इकाई हैं, बल्कि इसलिए भी हैं कि वे रूपवैज्ञानिक प्रकार्य के धरातल पर मिश्र और अविभाज्य (composite whole) के समान हैं।

हिंदी वैयाकरणों ने उन सभी पक्षों पर विचार प्रस्तुत किया है जिनके आधार पर सक्षम शब्द और पदबंधीय इकाइयों में भेद किया जा सके (वाजपेयी, 1966; श्रीवास्तव, 1968, 1973)। जिन यौगिक शब्दों में इस प्रश्न को नामिक संयुक्त रूप से व्याकरण की

पदबंधीय इकाई बनाते हैं वहाँ परसर्ग या विशेषण लिंग, वचन या पक्ष पहले तत्त्व के अनुसार संचारित होते हैं। इसके ठीक विपरीत इकाई जहां शब्दकोश का मिश्रित इकाई या 'सक्षम शब्द' की भाँति प्रकार्य करती है, वहाँ विशेषण और परसर्ग द्वितीय तत्त्व के लिंग, वचन और पक्ष के अनुसार संचालित होते हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं को इस प्रकार समझा जा सकता है-

(1) पदबंधीय इकाई: परसर्ग # # नामिक$_1$ # # नामिक$_2$ # #

(2) यौगिक शब्द: परसर्ग # # नामिक$_1$ -नामिक$_2$ # #

इस प्रकर 'आब-ओ-हवा' तथा 'जलवायु' कोश की भिन्न इकाइयाँ हैं जिनका प्रयोग हिंदुस्तान की आब-ओ-हवा/जलवायु जैसा पदबंधीय रचनाओं में देखा जा सकता है, जिसमें नामिक ही वह कारण है जिसके आधार पर सम्बन्धकारक 'का' परिवर्तन उसके स्त्रीलिंग रूप 'की' में हो जाता है।

पदबंधीय यौगिक, यथा–काली मिर्च (# # नामिक$_1$ # # नामिक$_2$ # #) तथा सक्षम शब्द 'काली मिर्च' (# # नामिक$_1$ -नामिक$_2$ # #) में जो भेद है उससे वे दो आयाम पर उभरकर सामने आते हैं, जिसके आधार पर भाषिक प्रतीक के रूप में शब्द के दो स्वरूप परिभाषिक होते हैं: कथ्य (signified) और अभिव्यक्ति (signifier)।

अन्य भाषिक इकाइयों की भाँति ही शब्द भी एक भाषिक प्रतीक के रूप में दो भिन्न अभिव्यकित-माध्यमों द्वारा व्यक्त होता है: स्वनिम माध्यम एवं लेख माध्यम। इस प्रकार हमें शब्द की दो अन्य परिभाषाएँ भी प्राप्त होती हैं: स्वनिक/स्वपन-प्रक्रियात्मक तथा लेख/वर्णविन्यास। स्वन-प्रक्रियात्मक शब्द हम उन्हें कहते हैं जिनमें उच्चार के बीच दो विराम रहते हैं जबकि वर्ण-विन्यासात्मक शब्द दो निश्चित विरामों के बीच लिखे जाते हैं। इस संदर्भ में दो प्रमुख तथ्यों पर विचार आवश्यक है। एक तो यह कि शब्द किन्हीं उच्चस्तरीय एवं विशिष्ट भाषिक दृष्टिकोण के माध्यम से आकार ग्रहण करते हैं (Palmer, 1976 : 9)। उदाहरणस्वरूप देखा जाय तो मौखिक-सम्प्रेषण में निरंतरता पार्थक्यता का स्थान लेती है। शब्दों या शब्दों के समुच्चय के उच्चार में उच्चारण की ही भाँति ध्वनि-तरंगें सातत्यक (continuum) होती हैं। और शब्द की एक पृथक इकाई के रूप में पहचान श्रोता द्वारा कुछ भाषायी व्याख्या के आधार पर ही हो पाती है। वास्तव

में शब्द क्या है इस प्रश्न पर सबकी भिन्न धारणाएँ होती हैं, जिनके आधार पर वह उसकी पहचान प्रयोग के समय पहले या बाद में विराम देकर करता है। जैसे- जब हम धीमी गति में बोलते हैं तो हम प्रत्येक स्वन-प्रक्रियात्मक शब्द की सीमा पर एक विराम लगाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्रयोक्ता स्वन-प्रक्रियात्मक दृष्टि से परिभाषित शब्द के स्वनिक विकल्पों की अपनी भिन्न पहचान करता है, जैसे- 'बहन', 'बहिन'। हिंदी में हमें एक ही उपसर्ग से दो भिन्न शब्द संरचित मिलते हैं। उदाहरण के लिए- सह उपसर्ग जब एक ही शब्द 'अनुभूति' के साथ जुड़ता है तो एक ओर तो 'सह-अनुभूति' शब्द संरचित होता है और दूसरी ओर 'सहानुभूति।' इस प्रकार यौगिक शब्द एवं समास पद्धति द्वारा निर्मित शब्द में पर्याप्त भिन्नता है। हिंदी में स्वन और स्वन-प्रक्रियात्मक शब्दों के धरातल पर भी स्पष्ट भेद दिखायी देते हैं। जैसे- 'जनता'>'जन्ता'; 'लड़का'>'लड्का' आदि। इसी प्रकार हिंदी के एक ही लिखित शब्द के दो उपरूपों में भी विकल्प दिखाई देता है, जैसे- 'सन्गीत'> संगीत (क्योंकि हिन्दी में नासिक्य स्वनिम को स्वर के ऊपर अनुस्वार के रूप में या नासिकता के मूल्य के साथ वर्ण के रूप में लिखा जा सकता है)।

उपर्युक्त चर्चाओं के धरातल पर यह कहा जा सकता है कि भाषा की एक इकाई के रूप में शब्द को सबसे पहले भाषिक प्रतीक के रूप में देखना चाहिए और तत्पश्चात् उसे अभिव्यक्ति और कथ्य के संदर्भ में देखना चाहिए। इस प्रकार देखने पर हमें विभिन्न विशिष्टताओं के संयोजन, यथा- अभिव्यक्ति एवं कथ्य मिलेंगे जो अपने प्रकार्य में द्विचर और आयाम में द्विविध हैं। इस संदर्भ में हमें शब्दों के ये प्रकार मिलते हैं- एक शब्द (रूढ़ शब्द); सक्षम शब्द (योगरूढ़); यौगिक शब्द या सम्बन्धिम (समस्त पद) तथा द्वि या बहु शब्द-

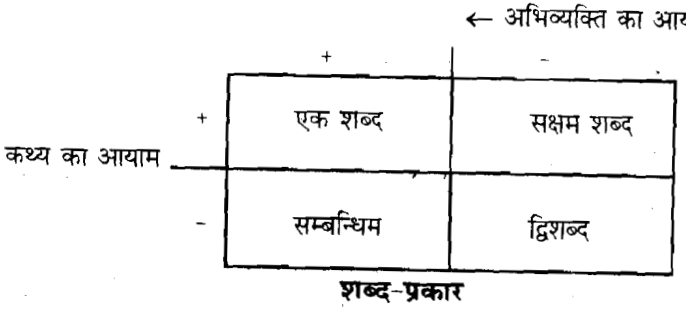

शब्द-प्रकार

'शब्द' को परिभाषित करने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि यह एक बहुसंयोजक (multivalent) शब्द है और जिसके कारण इस भाषायी तत्त्व की कोई एक निश्चित परिभाषा दे पाना सम्भव नहीं है। कम-से-कम तीन भिन्न धारणाएँ 'शब्द' के संदर्भ में सर्वाधिक प्रचलित हैं। एक के अनुसार इसे कोशविज्ञान की इकाई माना जाता है जिसके आधार पर कोशीय शब्द की संकल्पना उभरती है, दूसरी धारणा शब्द को व्याकरणिक इकाई के रूप में स्वीकृत करती है जिसके आधार पर वाक्यात्मक एवं व्याकरणिक शब्दों की व्याख्या होती है और तीसरी धारणा शब्द को अभिव्यक्ति की इकाई के रूप में मान्यता देता है, जिसके आधार पर स्वन-प्रक्रियात्मक एवं वर्ण-विन्यासात्मक शब्द विवेचित किए जाते हैं। यदि भाषिक प्रतीक के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो कोशीय शब्दों को संकेतितों (signified) की इकाई माना जा सकता है, स्वन-प्रक्रियात्मक एवं वर्ण-विन्यासात्मक शब्दों को संकेतकों (signifier) की इकाई माना जा सकता है और वाक्यात्मक एवं व्याकरणिक शब्दों को संकेतन प्रकार्य की इकाई माना जा सकता है। 'इकाई' से यहाँ तात्पर्य विश्लेषण की दृष्टि से चुने गए उस लघुतम प्रकार्यात्मक रचना से है, जिसमें व्याख्या के पक्षों के समस्त मूलभूत गुण समाहित रहते हैं, जिसकी वह इकाई है (Srivastava, 1982)। इस प्रकार शब्द भाषिक रचना के धरातल पर क्योंकि बहुस्तरीय होता है, इसलिए स्वाभाविक है कि इसका अर्थ द्विअर्थिता से सम्पृक्त रहता है। द्विअर्थिता से बचने का मार्ग यही है कि सबसे पहले हम व्याख्या के उन पक्षों को विश्लेषित करें, जिनके आधार पर हम शब्द को एक प्रकार्यात्मक पद (term) के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। 'शब्द' पर वैचारिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने के पीछे केवल यह कारण नहीं है कि उसकी कोई निश्चित परिभाषा प्राप्त नहीं है बल्कि उसके पीछे वे तथ्य प्रभावी हैं जिनके कारण आज विभिन्न पक्षों एवं परिप्रेक्ष्यों को इसकी परिभाषा का आधार बनाया जा रहा है। इसी से सम्बद्ध एक और तथ्य भी है, जो 'शब्द' पर पुनर्विचार करने को उद्यत करता है और वह यह है कि विभिन्न पक्षों के आधार शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं, और जब हम एक ही सामग्री (DATA) पर इनमें से किन्हीं दो परिभाषाओं को लागू करके देखते हैं तो परिणाम विरोधी निकलते हैं।

यहाँ हमें शब्द की विभिन्न परिभाषाओं और उनके कारण उपजी असंगति पर व्यापक चर्चा कर लेनी चाहिए। वाक्यात्मक शब्द के रूप में 'उसे' और 'उसको' एक ही शब्द के दो विकल्प हैं, क्योंकि दोनों एक ही रूप वर्ग के शब्द हैं, जिनका सार्वनामिक अर्थ भी समान है, इसीलिए निम्नांकित दो वाक्यों को समानार्थी माना जाता है--

(12) उसे किताब दे दो।
(13) उसको किताब दे दो।

परन्तु स्वन-प्रक्रियात्मक शब्द के धरातल पर ये भिन्न हैं। वाक्य (12) में जहाँ विभक्ति '-ए' लगी है, वहीं वाक्य (13) में '-को' परसर्ग जुड़ा हुआ है। वर्ण-विन्यासात्मक शब्द के रूप में दोनों एक इकाई (mono-unit) हैं, क्योंकि दोनों ही वाक्यों में सार्वनामिक इकाइयों, विभक्तियों के बीच कोई विराम या स्थान (space) नहीं है। परन्तु हमारी लेखन-व्यवस्था ऐसी है कि एक ओर तो यह सर्वनाम + को (उसको) को एक शब्द बनाती है, दूसरी और संज्ञा + को (राम को) को दो भिन्न वाक्यात्मक शब्द मानती है। हिंदी में वर्तमान एवं भूतकाल को संकेतिक करने वाली सहायक क्रियाएँ लेखन के धरातल पर भिन्न शब्द के रूप में चिहिन्त की जाती हैं, जबकि भविष्यत् काल संकेतक क्रिया के साथ ऐसा नहीं होता: खाता है/ खाता था और खाएगा। यदि हम इनके घटकों की व्याकरणिक इकाई को वर्तनी के नियमों से जोड़कर देखें तो हमें इन दोनों संरचनाओं में सम्बद्धता भी दिखाई देती है-

वर्तमान/भूत : # # धातु + पक्ष + संज्ञापद # काल सहायक+संज्ञापद/वचन-लिंग # #
भविष्य: # # धातु + संज्ञापद + कला सहायक + वचन-लिंग # #

हिंदी के एक प्रख्यात वैयाकरण ने इस असंगति से बचने के लिए यह सुझाव दिया कि भविष्यत् काल सहायक क्रिया को लिखते समय 'काल सहायक + गा' के रूप में उसी प्रकार लिखा जाय जैसे वर्तमान भूत को # है # # था # के रूप में लिखा जाता है, परंतु इस प्रयत्न में उन्हें सफलता न मिल सकी। (वाजपेयी, 1966)। कई भाषा-वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर वाजपेयी के उपर्युक्त सुझाव को अस्वीकृत किया जा सकता है। हिंदी की इस प्रकृति से हम भली भाँति परिचित हैं कि उसमें दो शब्दों के बीच सन्निविष्ट करने का प्रचलन है। इस प्रकृति को हम इस संदर्भ में भी देख सकते हैं कि भविष्यत् काल सहायक + गा दो शब्दों की अभिव्यक्ति के स्थान पर एक ही शब्द है। नीचे दिए गए उदाहरणों को देखें–

(14 अ) तुम सोते थे।
(14 आ) तुम सोते भी थे।
*(14 इ) तुम सो भी ते थे।

(15 अ) तुम सो रहे थे।
(15 आ) तुम सो भी रहे थे (और जाग भी)
(16 अ) तुम सोओगे भी।
*(16 आ) तुम सोओ भी गे।

इस लेख का समापन मैं 'शब्द' की प्रकृति और स्थिति पर अपनी कुछ टिप्पणियों के साथ करना चाहूँगा, जिसके लिए मूलत: हिंदी के उदाहरणों को आधार बनाया गया है। इस भाषायी तत्व के प्रति हमारी भ्रांतियाँ केवल इस कारण नहीं हैं कि इसके बहुसंयोजक अर्थ एवं प्रकार्य हैं, वरन इसलिए भी हैं कि हम 'शब्द' को 'वस्तुगत भाषा' की इकाई मानकर उसका अध्ययन निरूपक भाषा (metalanguage) के अविभाज्य रूप में करना चाहते हैं। वस्तुगत भाषा की इकाई के रूप में शब्द को कभी भी सम्प्रेषणपरक मूल के रूप में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि सम्प्रेषणपरक धरातल पर वाक्य या वाक्य से बड़ी इकाइयों को ही रखा जा सकता है। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि यह कहना गलत है कि वाक्य शब्दों द्वारा रूप प्राप्त करते हैं, बल्कि इसकी जगह यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि विश्लेषण प्रक्रिया के माध्यम से वाक्यों द्वारा शब्द जन्म लेते हैं। तभी हम 'शब्द' के सम्बन्ध में यह भी कह सकते हैं कि उसका अपना मनोभाषा-वैज्ञानिक आधार है। इस प्रकार वस्तुगत भाषा की इकाई के रूप में 'शब्द' विशिष्ट भाषिक प्रक्रिया का परिणाम है।

हमारे परम्परागत वैयाकरणों ने वस्तुगत भाषा की इस इकाई को अपने भाषिक सिद्धांतों का रूप ग्रहण कराने का प्रयत्न किया (जैसे कि निरूपक भाषा)। वास्तविक व्यवहार में एक ही शब्द का वाक्य भी हो सकता है, एक स्वनिमिक शब्द भी है। उदाहरणार्थ '(तू) आ' जैसे वाक्य में शब्द 'आ' स्वनिम भी है और वाक्य भी। अपने विशिष्ट स्थान के साथ इस प्रकार की संक्रियात्मक युक्ति (device) को ही विचारों का स्वायत्त कर्म (autonomous object or thought) कहा गया है। कई गम्भीर भारतीय वैयाकरणों ने इस मूलभूत सैद्धांतिक इकाई 'शब्द' को भाषविश्लेषण का आधार बनाया और इस प्रकार वाक्य को 'शब्दों का समूह' मान लिया गया और शब्द-भेद (part of speech) को 'शब्द' वर्गों के रूप में परिभाषित किया गया। वास्तव में समस्त व्याकरण को उन नियमों का पर्याय मान लिया गया था जो शब्दों को एक वाक्य या उक्ति में नियंत्रित (regulate) करते हैं। (जैसे शब्दानुशासन)। परम्परावादी वैयाकरणों ने शब्द को उक्ति में पूर्णनिर्मित

अवयव के रूप में उस दशा में भी देखा जब वे किसी विशिष्ट भाषिक प्रक्रिया के परिणाम के रूप में सामने आते हैं। इस प्रकार देखने का कारण केवल इतना है कि वे शब्द को मात्र शब्दकोश के तत्व के रूप में देखते हैं (अमूर्त शब्दकोश), जो व्याकरण से नितांत भिन्न है। सैद्धांतिक धरातल पर भाषा को दो अनिवार्य और परस्पर आश्रित घटकों के रूप में देखा गया और दोनों घटकों को 'शब्दकोश' एवं 'शब्दानुशासन' की संज्ञा दी गई। यदि इस चिंतन की तुलना ट्रैगर (1949 : 5) के उस मत से की जाय जिसमें वे कहते हैं कि शब्दकोशविज्ञान सामान्यत: भाषाविज्ञान के क्षेत्र से निकलकर निरूपक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करता है और ब्लूमफील्ड (1933 : 274) का मत है कि शब्दकोश वास्तव में व्याकरण का परिशिष्ट है।

निष्कर्ष स्वरूप निम्नलिखित टिप्पणियाँ इस संदर्भ में दी जा सकती हैं–

(क) 'शब्द' एक बहुसंयोजक स्थिति है जिसका प्रयोग एकाधिक अभिप्रायों में किया जाता है, अत: शब्द की कोई एक परिभाषा संभव नहीं है।

(ख) शब्द को भाषिक प्रतीक मानने वाले तीन पक्षों पर आधारित तीन अभिप्रायों, यथा– कथ्य (अर्थवैज्ञानिक), अभिव्यक्ति (स्वन-प्रक्रियात्मक एवं लेख) तथा संकेतन (वाक्यीय एवं व्याकरणिक) के अतिरिक्त 'शब्द' को शब्दकोश की प्रकार्यी इकाई के रूप में भी देखा जाता है। (जैसे-शब्दिम)। शब्दिम स्वनिम की भाँति ही मनोवैज्ञानिक वास्तविक सत्तायुक्त रहता है, और भाषिक रूढ़ि के रूप में भी। कई सिद्धांत इन विभिन्न विचारों, अभिप्रायों में भेद कर पाने में सदैव सक्षम नहीं होते, जिनमें 'शब्द' का प्रयोग किया गया है।

(ग) विभिन्न अभिप्रायों में 'शब्द' को परिभाषित करने के जो मानदंड प्रस्तुत किए गए हैं, वे संगत परिणामों की प्राप्ति में उपयोगी सिद्ध नहीं होते।

संदर्भ

Beskrovny. V. M. 1960. O socetanijax glagol'nyx osnov xindi RAHANA (On combinations of Hindi verbal stems with rahana). Istoriyai filologiya. 81-103 Leningrad.

Bloomfield, L. 1933. Language. New york: Holt, Rinehart and Winston.

Chao, Y.R. 1968. Language and Symbolic Systems. Cambridge: University of Chicago Press.

Green berg, J.H. 1957. Essays in linguistics. Chicago : The University of Chicago Press.

Guru, K. P. 1920. Hindi vyakarana. Banaras: Kashi Nagari Pracharini Sabha.

Seventh Edition 1962.

Lyons, J. 1968. Introduction to Theoritical Linguistics. Cambridge: University Press.

Lyons, J. 1970. Introudctions, in New Horizons in Linguistics. ed. by J. Lyons. Penguin Books.

Mathews, P. H. 1974. Morphology: An Introduction to the Theory of wordstructure. Cambridge: University Press.

Palmer, F.R. 1976. Semantics: A new outline. Cambridge: University Press.

Sharma, A. 1958. A basic grammar of modern Hindi, Delhi: Central Hindi Directorate.

Srivastava, R.N. 1968. Review of: An Urdu newspaper word count. Linguistics 107. 64-73.

Srivastava, R.N. 1982. On the cross-conceptual diversity of linguistic terms. Papaer presented in the International Seminar on: In Search of terminology (Jan. 19-23, 1982), CIIL, Mysore.

Srivastava, R. N. and R.S. Gupta. 1968. Principles and problems in lexicology and lexicography as developed in the Soviet Union. Indian Linguistics 29. 113-132.

Srivastava, R.N. and S.K. Chopra 1983. Abbreviations and acronyms in Indian setting. J J D L XII. 2. 345-365.

Vajpeyi, K. D. 1966. Hindi Sabdanushasana, Banaras: Kashi Nagari Pracharini Sabha.

10

हिंदी के शब्द : रचना और प्रकार

-वी.रा. जगन्नाथन

ध्वन्यात्मक शब्द (Onomatopoeic words) ध्वन्यात्मक शब्द वे हैं, जो वस्तु या व्यापार के लिए उससे संबद्ध ध्वनि या ध्वनियों के अनुरूप बने होते हैं. बकरी की आवाज 'मे मे' है, क्योंकि इस शब्द का उच्चरित रूप बकरी की आवाज के अनुकरण में बना है. *मे मे* ध्वन्यात्मक शब्द है. बिल्ली *म्याँऊ म्याँऊ* बोलती है, घोड़ा *हीं हीं* करता है, रेल *धड़ धड़* की आवाज करती जाती है. ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग में प्राय: ध्वनि के स्रोत तथा ध्वनि के स्वरूप का उल्लेख कर दिया जाता है. *उसके मुँह से आवाज निकली, 'छी!छी!' उसके गले से घों घों की आवाज़ निकली. बिल्ली की म्याँऊ म्याँऊ सुनकर.. ' . वह खी खी करके हँसा. धूँ धूँ करके सारा घर जल गया. वह लड़का धड़ाम से नीचे गिरा.* ये शब्द सीमित होते हैं, अविकारी होने के कारण विस्मयादिबोधक के वर्ग में रखे जाते हैं. लेकिन विस्मयादिबोधक सीधी भावों से जुड़ते हैं, जबकि ध्वन्यात्मक शब्द उच्चरित ध्वनि की ओर संकेत करते हैं. ध्वन्यात्मका हिंदी की शब्द रचना में प्रमुख स्थान वहन करती है. इससे बने हुए शब्द भाषा के अपने अर्थयुक्त शब्द हैं, भाषा के नियमों के अनुसार रूपसिद्ध होते हैं. इन शब्दों की विशेषता है कि बहुत से शब्दों में ध्वनियों के प्रयोग के आधार पर अर्थ का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि रूप रचना के आधार पर बने शब्द मूल ध्वनि से हट जाते हैं. इसी कारण *रिरियाना, मिमियाना, घिघियाना, हिनहिनाना* आदि शब्दों में प्राय: मूल ध्वनि का अनुमान करना कठिन हो जाता है.

1. ध्वन्यात्मक शब्दों की रचना में (आवाज) 'करना' के अर्थ में '-क प्रत्यय का प्रयोग होता है. फूँक (ना) को हम फूँ कर (ना) मान सकते हैं. ऐसे शब्दों के निम्नलिखित प्रकार हैं। (अ) व + स (दीर्घ) में -क. ऐसे शब्द हैं- थूक, फूँक, छींक, हाँक, 'हाँ, हाँ' करके गाय बैलों को चलाने के संदर्भ में *हाँकना* का प्रयोग होता है. इसी तरह हम अन्य शब्दों में भी मूल ध्वनि-स्रोत का अनुमान कर सकते हैं. लेकिन पुष्ट अनुमान के अभाव में फेंक, झोंक, झाँक आदि शब्दों की रूप रचना के बारे में कुछ कहना कठिन हो जाता है. (आ) व + अ की पुनरुक्ति में -क प्रत्यय लगने से कई रूप बनते हैं. इन्हें भी 'करना' के अर्थ में देख सकते हैं. जैसे, 'ध ध' करना' *धधकना* है. ऐसे अन्य शब्द हैं- फफक, भभक,

ललक. चूँकि अक्षर की पुनरुक्ति की बात कही गयी है, ठठक~ठिठक, झझक~झिझक आदि समस्या पैदा करते हैं. संभव है कि उच्चारण सुविधा के कारण स्वरों का विषमीकरण हुआ हो. फुफकार में (-कार प्रत्यय की चर्चा आगे करेंगे) फू फू करने का अनुमान किया जा सकता है और मूलत: धातु रूप *फुफुकार* तथा बाद में स्वरों में पश्चगामी विषमीकरण का अनुमान किया जा सकता है. *सिसक का ?ससक* रूप नहीं मिलता. फिर भी इसकी रचना को दोनों प्रकार से दिखा सकते हैं- स + स + क = सिसक; सी + सी + क → सिसिक → सिसक (इ) तीसरे प्रकार के शब्दों में व + स (ह्रस्व) + व में -क प्रत्यय का विधान दिखायी पड़ता है. ऐसे कई शब्द हैं- *चमक, महक, लहक, झलक, हुड़क, छलक, दहक, भिनक, भनक, छमक, भड़क, धड़क, सुड़क, धमक, कड़क, खटक, घुड़क, बहक* आदि. इन शब्दों को हम अन्य संबंधित शब्दों की रचना से पहचानते हैं, जैसे *चमाचम गाड़ी, हुड़ हुड़ करना, लहलहाना, खटखटाना* आदि. लेकिन कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जो परिचित स्रोत से नहीं हैं और जिनके संबंधित शब्द भी नहीं मिलते, जैसे *फुदक, बिदक, झिड़क, थिरक, भटक, पटक, हिचक, अटक, हुकम, खिसक, पिचक* आदि. इन क्रिया धातुओं में /क/ की सामान्य विशेषता देखकर इन्हें -क युक्त ध्वन्यात्मक शब्द मानना तर्कसंगत लगता है, लेकिन -क निकाल कर! फुद, विद, झिड़ आदि रूपों का अर्थ क्या बनेगा, यह विश्लेषण की बात है.

अर्थ की दृष्टि से इन शब्दों के संदर्भ में देख सकते हैं कि ध्वनि-अर्थ का संबंध स्पष्ट नहीं है या है ही नहीं. 'चम, दम, तम' दृष्टि से संबंध रखने वाले रूप हैं, 'मह, गम' घ्राण शक्ति से, 'चिप, लिज़, पिच, चिल' स्पर्श शक्ति से, 'लह, बह, चुह' प्रवाह से संबंध रखने वाले रूप हैं. ध्वनि से संबंधित रूपों में /न/, /म/ (मधुर ध्वनि), /ड़/ (भीषण ध्वनि) की प्रधानता के आधार पर ध्वन्यात्मक शब्दों की रचना का आधार ढूँढ़ सकते हैं. लेकिन हर व्यंजन के साथ अर्थ का क्रम ढूँढ़ने लगें, तो सफल नहीं होंगे.

3. -क के अतिरिक्त ध्वन्यात्मक शब्दों में प्रत्यय -कार भी आता है. जैसे *ललकार, झनकार (-झंकार), फटकार, झिझकार, फुफकार, चमकार* (यह नया प्रयोग है). अर्थ की दृष्टि से *फटक, फटकार, झिझक, झिझकार, चमक, चमकार* आदि में अंतर देखा जा सकता है. संस्कृत में भी करना, करने वाला के अर्थ में -कार, -क प्रत्यय मिलते हैं और इनसे बने शब्द पुल्लिग (या नपुंसक लिंग) हैं. *सीत्कार, दुत्कार, धिक्कार, नर्तक, गायक, पुलक.* लेकिन हिंदी में *चमक, फटकार* आदि -ना छोड़ने से बने संज्ञा शब्द हैं (देखें **धातु रूप में संज्ञा**). इस कारण ये हिंदी में स्त्रीलिंग शब्द हैं.

4. यहाँ हम ध्वन्यात्मक शब्दों से अन्य संबंधित शब्दों की रचना के बारे में देखेंगे **व स व** की पुनरुक्ति से क्रियाविशेषण बनते हैं, जो व्यापार के समय उत्पन्न ध्वनि की ओर संकेत करते हैं (*सुड़सुड़ पानी पीना, पानी में छपछप चलना, खटखट करके, पानी टपटप गिरना, पायल छमछम बजना*). क्रियाविशेषणों से संज्ञापूरक -ई प्रत्यय लगते हैं (*गुदगुदी, सुरसुरी, सनसनी, गुलगुली, फटफटी, गिलगिली*). -आ प्रत्यय लगने से थोड़े-से पुल्लिग संज्ञा शब्द भी बनते हैं (*झुनझुना, बुलबुले*). इनमें -आ जोड़ने से एक ओर नामधातु बनते हैं (*धड़धड़ा, गड़गड़ा, गुड़गुड़ा, फुसफुसा, भिनभिना, हिनहिना* (< हीं → हिन), *दनदना, लहलहा, बड़बड़ा*) और दूसरी ओर कुछ विशेषण शब्द मिलते हैं (*बुरबुरा (बुरकना), पिलपिला, चिपचिपा, लिज़लिज़ा*). यह जरूरी नहीं है कि एक शब्द से सारे रूप बन जाएँ (**चिपक, *लिज़लिजाना, *छलाछल*). प्रतिबिंबित शब्दों की रूप रचना से इनका साम्य देखा जा सकता है.

इसी तरह पुनरुक्त **व स व** के बीच -आ क्रियाविशेषण की रचना करता है और वह क्रिया विशेषण -ई प्रत्यय लेकर संज्ञा बनता है. (*फटाफट चलो. वह दनादन काम करता है. उसने धड़ाधड़ मारा. पानी टपाटप गिर रहा है. नयी गाड़ी चमाचम चमक रही है*). *इनसे बने* कुछ संज्ञा शब्द हैं- *फटाफटी, धड़ाधड़ी, तड़ातड़ी.*

4.1. **व स व** में प्रत्यय -क लगता है और ये शब्द धातु भी हैं (*चमक, चमकना; भड़क, भड़कना*). थोड़े-से शब्द धातु रूप में स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द हैं (*चमक, महक, भनक*). -का तथा-आक प्रत्ययों से पुल्लिग संज्ञा शब्द बनते हैं, जो क्रमशः सामान्य तथा तीव्र ध्वनि का अर्थ देते हैं. -आक प्रत्यय क्रियाविशेषण वाक्यांश की रचना में ही काम आता है. (*वह छपाक से पानी में कूदा. तड़ाक से नीचे गिरा. उसने फटाक से जवाब दिया.*) यहाँ भी एक रूप से हर जगह सारे शब्द नहीं बनते.

तड़	तड़क		तड़ाक	
		(पंजाबी तड़का?)		
खट	खटक	खटका	?खटाक	खटाका
भड़	भड़क		भड़ाक	
धम	धमक	?धमका		धमाका
		(धमकी)		

छप	छपक	?छपका	छपाक	छपाका
सुड़	सुड़क	-	-	-
धड़	धड़क	धड़का	?धड़ाक	धड़ाका
कड़	कड़क	कड़का, कड़की	-	-
टप	टपक	टपका	-	-
सड़	?सड़क	-	सड़ाक	-

4.2. **व स** (क) से अन्य शब्दों की रचना की बात स्पष्ट नहीं है. अर्थ की दृष्टि से *भभकना और भकभकाना, और धकधकाना* समान प्रयोग हैं. इस कारण व स क की पुनरुक्ति से नामधातु बनाने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है. दूसरी ओर *भकभक करना, धकधक करना* आदि शब्द भी संभव हैं. *झकाझक, झकझक* आदि शब्द अर्थ साम्य के कारण 'झक' से निष्पन्न माने जा सकते हैं, *'टक' से टकटकाना, टकटकी, टकाटक* आदि देखे जा सकते हैं. जहाँ अब 'ट' आवाज़ के लिए नहीं, बल्कि दृष्टि के लिए प्रतीक बन गया है।

नवनिर्मित शब्द 1. भाषा में नये शब्द गढ़ना एक तरह की भाषिक कुशलता है. इस कला में सभी दक्ष हो सकते हैं, लेकिन साहित्यकार और पत्रकार ही ज्यादातर नये शब्द गढ़ते हैं, क्योंकि दोनों के पास माध्यम है, जिससे वे लोगों के पास पहुँचते हैं. आम आदमी नये शब्द गढ़ तो सकते हैं, लेकिन उसका अधिक प्रसार नहीं होता और वह क्षण में खत्म हो जाता है.

गढ़े हुए नये शब्द उसी तरह 'फैशन' में आते हैं, जैसे नये कपड़े, नयी पोशाकें और नये सिनेमा के गाने. लेकिन कभी-कभी नये शब्द का प्रयोग वर्ग सदस्यता का निशान होता है. आप नये आलोचक बन ही नहीं सकते, अगर आप नयी आलोचना के शब्दों से परिचित न हों. उस स्थिति में कई लोग ये शब्द तो अपना लेते हैं, लेकिन उनका सार्थक प्रयोग नहीं करते. प्रायः नये साहित्य के खोखलेपन का यह भी एक कारण होता है. फ़ैशन में रहने के बाद बहुतेरे शब्द खत्म हो जाते हैं, थोड़े-से बचे रहते हैं. फिर बनता है नया वर्ग, नयी शब्दावली तथा नये सदस्य. फ़ैशन की दौड़ आगे बढ़ती है.

2. पिछले दशकों के कुछ नये साहित्यिक शब्दों तथा नये अर्थ में प्रयुक्त पुराने शब्दों को देखिए-- *आस्था, रूढ़ि, आयाम, परिवेश, बोध, प्रतिमान, संत्रास, बिंदास, प्रतिबद्ध, तद्रूप, विद्रूप, घुटन, विघटन, कुंठा, तनाव, संदर्भ, भोगना, मूल्य, संस्कार, संभावना, यथार्थ, चेतना,*

रूपायित, अस्मिता.

इनसे बने कुछ वाक्य देखिये!

आधुनिक काल में पुराने मूल्य टूट चुके हैं.

कवि नीरज में संभावनाएँ थीं और अब भी हैं.

कहीं-कहीं दो भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं को एक साथ रखकर नये जमाने की क्रूरता और पुराने समय के उच्चतर मूल्य को अंकित करते हुए संकेतित किया गया है कि पुराने मूल्य सब जगह अग्राह्य नहीं हैं.

यदि कोई एक छोटा क्षण गहरी अनुभूति से संपृक्त हो उठा तो वह क्षण है पूरे के पूरे समय को एक अर्थ देने में समर्थ.

दृश्यबोध की प्रत्येक अन्विति का अनुशीलन करते हुए प्रयोगशील काव्यधारा का रचनाकार अपने अंत: बाह्य सत्य के प्रति समान रूप से आस्थावान है.

काव्य की केंद्रीय धारा सुधारवाद की शिथिल मनोवृत्ति को त्याग कर कल्पना और रहस्य के बौद्धिक अनात्मसात् अध्यात्मवाद पर टिके हुए निराशा एवं अवसाद से पूरित वातावरण को चीरती हुई निराला के अदम्य एवं अप्रतिहत, प्रखर व्यक्तित्व के साथ विद्रोह की कठोर भूमि पर आ गयी है... हिंदी की प्रवृत्ति के स्वरूप को इस मौलिक विद्रोह और व्यंग्य के, अंतरानुवर्ती प्रवाह का सहारा लेकर ही व्याख्यायित किया जा सकता है. कुछ समझ रहे हैं? न समझें, तो कोई बात नहीं. कई जगह लेखक भी शायद समझ नहीं रहा होगा कि उसकी अभिव्यक्ति का अर्थ क्या है. उसे वर्ग के अंदर बने रहना है, इसके लिए आवश्यक है कि वह ऐसे शब्दों का प्रयोग अवश्य करे. यही और लोग कर रहे हैं.

साहित्येतर पत्र-पत्रिकाओं, विशेषकर अखबारों में नये शब्द कुछ कम होते हैं, क्योंकि उनका प्रकाशन व्यापक पाठक-वर्ग के लिए होता है. साथ ही पत्रकारों में संगठित वर्ग का अभाव है, जिसके प्रति प्रतिबद्धता हो. पत्र-पत्रिकाओं के नये शब्द प्राय: ऋण-अनुवाद की पद्धति से गढ़े जाते हैं. पत्रकार सीमित, लेकिन नवनिर्मित, संस्कारित तथा पंडिताऊ शब्दों के प्रयोग से संतुष्ट हैं जिस कारण उनकी भाषा कहीं-कहीं दुरूह बन जाती है. कुछ शब्दों के प्रति आग्रह दिखायी पड़ता है जैसे भारी (भारी संकट, भारी आक्रोश, भारी बहुमत, भारी कठिनाई), तीव्र, प्राप्त/पाना, पीड़ित. सामान्य बोलचाल के शब्दों की जगह नये तथा

'भारी' शब्दों का मोह इन उदाहरणों में देख सकते हैं-कथित, ज्ञातव्य, भर्त्सना, अविलंब, हेतु, अवांछित तत्त्व, आह्वान, सत्तारूढ़, सत्ताच्युत.

पंडिताऊ शब्द (Pedantic words) 1. मैंने एक हिंदी फ़िल्म देखी थी, जिसमें धर्मेंद्र 'हिंदी' जानने वाला ड्राइवर बनता है. वह प्रायः कहता था (सही उदाहरण भूल गया हूँ, मन से वैसे ही उदाहरण दे रहा हूँ)- *किंतु मुझे इसका परिशोधन करना है, मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है, अपने पुत्र के ज्ञान की वृद्धि का उपाय कीजिए.* उसकी अभिव्यक्ति से दर्शकों का ख़ासा मनोरंजन हो रहा था. मुझे मालूम नहीं पड़ रहा था कि फ़िल्म निर्माता हिंदी का मज़ाक उड़ा रहा है या पंडिताऊ प्रयोगों का. वास्तव में 'हिंदी' जानने का यह मतलब तो नहीं कि कोई हमेशा *बुखार* की जगह *ज्वर* बोले *(!मुझे ज्वर हो गया है),* घर की जगह *गृह* बोले *(मैं गृह जा रहा हूँ), गरमी* की जगह *ऊष्मा* बोले. अगर कोई बोलता हो, तो ये पंडिताऊ प्रयोग कहलाएँगे, स्वाभाविक भाषा नहीं.

2. हिंदी के विद्वान रमा प्रसन्न नायक भाषा में सामान्य बोलचाल के शब्दों के इस्तेमाल के समर्थक हैं. आप की एक उक्ति मुझे बहुत अच्छी लगी. अगर हम *दाँत* का इस्तेमाल सिर्फ बोलचाल की भाषा में करें और जीवन के अन्य (औपचारिक तथा महत्वपूर्ण) संदर्भों में *दंत* का *(दंत चिकित्सक, दंत रोग, दंत पीड़ा),* तो दाँत का अवमूल्यन होगा और कुछ समय बाद लोग दाँत बोलना अभद्रता समझेंगे. इस बात से एक सत्य उद्घाटित होता है. शब्दों में कुछ उच्च कुल के, कुछ निम्न कुल के हैं. सामान्य बोलचाल के शब्दों की जगह उच्च साहित्यक या परिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पंडिताऊ प्रयोग कहलाएगा. यह प्रयोग व्यक्ति अपने को दूसरों से उच्च दिखाने के यत्न में करता है. यहाँ ऐसे कुछ पंडिताऊ प्रयोग दिये गये हैं (बोलचाल का रूप कोष्ठकों में)- *एवं* (और), *किंतु, अपितु* (लेकिन, पर, मगर), *वस्त्र धारण* (कपड़े पहनना).

3. पंडिताऊ शब्दों के प्रयोग के विश्लेषण में निम्नलिखित कारकों को ध्यान में रखना होगा, अन्यथा हम भी आम आदमियों की तरह इस गलत निर्णय पर पहुँचेंगे कि आजकल हिंदी 'जटिल' हो गयी है. हमें कुछ विशेष विषयों के संदर्भ में पारिभाषिक शब्दों की जरूरत पड़ती है. हर नये विचार को हम बोलचाल की भाषा से स्पष्ट नहीं कर सकेंगे. *मुद्रा स्फीति, उपभोक्ता, आपूर्ति* (सप्लाई), *विनिमय* आदि अर्थविज्ञान के संदर्भ में आवश्यक शब्द है, केवल पंडिताऊ प्रयोग नहीं. दूसरी ओर हमें क्षेत्रीय कार्य से संबंधित तथा व्यक्तिगत

शैलियों की भी बात को ध्यान में रखना होगा. किसी क्षेत्र या अंचल में कोई पंडिताऊ शब्द ही मानक प्रयोग हो सकता है, कोई व्यक्ति किन्हीं मानसिक कारणों से किसी शब्द को पसंद कर सकता है या अधिक उचित समझ सकता है या व्यंग्य आदि के संदर्भ में किसी प्रसंग में किसी ख़ास शब्द का इस्तेमाल कर सकता है. इन सब के बाद सामान्य बोलचाल में अप्रचलित शब्द का इस्तेमाल करना पंडिताऊपन है.

4. इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति हमेशा एक ही भाषा का प्रयोग करता हो या करे. घर पर आये विशिष्ट अतिथि से कहते हैं *विराजिए. तशरीफ़ रखिए.* 'बैठिए' के मुकाबले इस शब्द में अधिक आदर का भाव सूचित होता है. अर्थ में, जो कि सामाजिक तथा संदर्भगत है अंतर करने के कारण ऐसे प्रयोग पंडिताऊ शब्द नहीं हैं. ये जीवन के अनुरूप भाषा की शैली है, जिसे भाषाविज्ञान में प्रयुक्ति (register) कहा जाता है.

पारिभाषिक शब्द 1. ऐसे व्यक्ति जो भाषा की प्रकृति या आवश्यकताओं के बारे में नहीं जानते, प्राय: यह कहते हुए सुने जाते हैं कि रेडियो तथा अख़बारों की भाषा क्लिष्ट हो गयी है. आप परमाणु भौतिकी के बारे में या उपग्रह द्वारा संप्रेषण के बारे में बिना मेहनत किये चर्चा करना चाहते हैं, वह भी ऐसी भाषा में जो आप घर में इस्तेमाल करते हैं! रेडियो तथा अख़बारों में ज्ञान-विज्ञान के विविध विषय रहते हैं, जिनकी चर्चा के लिए पारिभाषिक शब्दों की जरूरत पड़ती है. राजनीति, विधि, अर्थशास्त्र, विज्ञान के विविध विषय, समाजशास्त्र कला सभी विषयों की चर्चा के लिए हमें जिन विशिष्ट शब्दों की जरूरत होती है, उन्हें पारिभाषिक शब्द कहते हैं. शब्द की अनिवार्यता से इनकार नहीं, बल्कि शब्दों से अपरिचय ही हमें उक्त भाषा को जटिल कहने को प्रेरित करता है. वैसे उन विषयों में रुचि रखने वाले व्यक्ति अंग्रेजी के हज़ारों पारिभाषिक शब्द जानते हैं. Ordnance, fusion, inflation, homicide, fascism, electronics, optical, cubism, gene, polyandry जैसे शब्दों को केवल बोलचाल की अंग्रेजी के परिचय के आधार पर कोई जान नहीं सकता. इन शब्दों से व्यक्त प्रत्यय (concept) को जानना आवश्यक है. हिन्दी में इनके लिए नये शब्द बनें, तो उन्हें जानने के लिए थोड़ी मेहनत भी करनी चाहिए. विषय उस प्रत्यय या विचार के अर्थ को निश्चित करता है, भाषा उस अर्थ के लिए शब्द देती है. जो विचार नहीं जानता वह हिंदी के शब्दों के माध्यम से ही प्रत्यय-बोध भी प्राप्त कर सकता है; जो विचार को जानता है वह मात्र नये शब्द का परिचय प्राप्त करता है. दोनों की तरह के लोगों के लिए कुछ सीखना आवश्यक हो जाता है.

2. पारिभाषिक शब्दों के कुछ गुण होते हैं. वे विचार, जो इन शब्दों से प्रकट होते हैं, सार्वदेशिक होते हैं. अर्थात anatomy या उसके लिए प्रयुक्त हिंदी शब्द दोनों से वक्ता-श्रोता के मन में एक ही विचार आना चाहिए. तभी भाषा की सीमा से परे संप्रेषण हो सकता है. अन्यथा स्थानीय संस्कृतियों की तरह ज्ञान-विज्ञान भी खंडित हो जाएँगे. एक भाषा के भीतर भी पारिभाषिक शब्दों को सर्वत्र एक निश्चित अर्थ देना चाहिए. तभी वैज्ञानिक मिल कर काम कर पाएँगे, विधिवेत्ता सही निर्णय कर पाएँगे. पारिभाषिक शब्दावली में पर्यायों की गुंजाइश नहीं है. श्लेष बोलचाल की भाषा में अलंकरण है, पारिभाषिक अर्थ में दोष. इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि पारिभाषिक शब्द यथासंभव आम बोलचाल के शब्दों से भिन्न हों या उनका पारिभाषिक अर्थ निश्चित हो जाए. पारिभाषिक शब्दों का तीसरा गुण है विषय की गहराई तथा विचारों की संबद्धता के कारण एक मूल शब्द से संबद्ध अनेक शब्दों का प्रयोग. ये शब्द एक-दूसरे से व्युत्पन्न होने चाहिए, जिससे हम अन्य शब्दों के प्रयोग को समझ सकें. शब्दों (या विचारों) की संबद्धता को दो आयामों में देख सकते हैं. एक ओर *आक्सीजन, ऑक्साइड, डाइऑक्साइड, ऑक्सीजनशन* एक मूल विचार से उत्पन्न शब्द हैं; दूसरी ओर रसायन विज्ञान में प्रत्यय '-एट', '-आइड' का अपना विशिष्ट अर्थ है- *नाइट्रेट, कार्बोनेट, सल्फेट, हाइड्रेट; ऑक्साइड, सल्फाइड* आदि शब्दों में इस अर्थ समता को देख सकते हैं. इस संबद्धता के कारण विचारों को व्यवस्थित रूप से अपनाना आसान होता है. अगर हमारे पास पहले से कोई शब्द हो, तो वह अन्य शब्दों की रचना में काम आने वाला होना चाहिए. देशज शब्द तथा अरबी-फ़ारसी शब्द यहीं कमजोर पड़ते हैं और संस्कृत शब्द उपयोगी होते हैं, क्योंकि ऐसे संबद्ध शब्दों की रचना संस्कृत के प्रत्ययों के कारण (जो हमारे लिए अपरिचित नहीं है) आसान होती है.

3. भारत सरकार ने हिंदी के पारिभाषिक शब्दों की रचना के कुछ फ़ार्मूले बनाये हैं. (अ) पहले से प्रचलित शब्दों को यथासंभव उसी रूप में ले लिया जाए. (आ) जहाँ आवश्यक हो, अंग्रेजी (अंतरराष्ट्रीय) शब्दों को ज्यों का त्यों ले लिया जाए और उनसे हिंदी या अपनी भाषाओं की प्रकृति के अनुरूप अन्य शब्द बनाये जाएँ (जैसे *ऑक्सीकृत, लिग्नीभवन, कार्बनीकरण न्यूक्लीय*). (इ) जहाँ तक संभव हो, अन्य भारतीय भाषाओं से पारिभाषिक शब्द लिए जाएँ. (ई) जहाँ इन स्रोतों से न मिले, संस्कृत की सहायता से नये शब्द गढ़े जाएँ.

4. पारिभाषिक शब्दों से संबंधित कुछ समस्याएँ:

राजभाषा आयोग (1956) ने अपने प्रतिवेदन में इस बात पर ध्यान दिया कि भारतीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में एकरूपता हो और इस दृष्टि से सारी भाषाओं के पारिभाषिक शब्द निर्माण के कार्य को संयोजित करने की व्यवस्था हो. आयोग की इसबात से सब सहमत होंगे, खासकर जब भारत की सारी भाषाओं की अपने लिए प्रारंभ से पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करना पड़ रहा है. इससे एक भाषा के माध्यम से काम करने वाला व्यक्ति दूसरी भाषा के माध्यम से आसानी से कार्य शुरू कर सकता है. लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम 'अखिल भारतीय पारिभाषिक शब्दावली' की बात कर रहे हैं. पारिभाषिक शब्द भी भाषा के अंग होते हैं, जिनमें उस भाषा की अपनी शब्दावली होती है, उसकी रचना में भाषा के उच्चारण, शब्द रचना, वाक्य विन्यास की बातों का ध्यान रखना पड़ता है. लेकिन इन सबसे भिन्न एक बृहत समस्या है. भारतीय भाषाएँ संस्कृत से समय-समय पर शब्द लेती रही हैं. कई कारणों से इनमें अर्थ का अंतर आता गया है. तमिल में लगभग 2000 संस्कृत शब्द हैं, लेकिन इनमें 1000 शब्दों का अर्थ हिंदी से भिन्न है (जगन्नाथन, 1969). तमिल में *कल्याण* 'विवाह' है, तब तमिल भाषी *कल्याण अधिकारी* का क्या अर्थ समझ पाएगा. यह स्थिति न्यूनाधिक रूप से सभी भाषाओं में है. आवश्यकता इस बात की है कि अन्य भाषाओं में पारिभाषिक शब्द बनें, तो हिंदी के शब्दों से उनकी तुलना कर भिन्नता के अंश को प्रकाश में लाया जाए. दुख तो इस बात का है कि हिंदी प्रदेश भी अपने-अपने पारिभाषिक संग्रह निकाल रहे हैं और सभी प्रांतों में तालमेल नहीं है.

दूसरी समस्या इन शब्दों के प्रयोग में आने की है. कई लोगों को डर है कि सरकारें लाखों रुपये पारिभाषिक शब्द निर्माण पर व्यय करती हैं, लेकिन लोग इन्हें अपनाने वाले नहीं हैं. कुछ हद तक यह बात सही है. सुव्यवस्थित शब्द निर्माण के बाद भी कई शब्द प्रचलन में नहीं आ सकेंगे, कई नये शब्द प्रयुक्त होने लगेंगे. यह भाषा की प्रकृति है. अतः सरकारों को चाहिए कि वे लाखों की संख्या में शब्द बनाकर कीमती ग्रंथ (हजारों की संख्या में) प्रकाशित न करें, बल्कि आंशिक शब्द निर्माण-अध्ययन-अध्यापन, ग्रंथ लेखन, कार्यालय प्रयोग-शब्दों का प्रामाणीकरण इन तीन सोपानों के क्रम में कार्य करें. शुरू-शुरू में ये शब्द संग्रह टेलीफोन पुस्तिका के समान ही होंगे-हर दो-तीन साल में इन्हें बदलने की आवश्यकता हो सकती है.

5. पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता हर विषय में होती है. लेकिन इन शब्दों के प्रयोग के बावजूद भाषा सरल हो सकती है (अगर ये शब्द मालूम हों) और इनके साथ भाषा अति दुरूह और क्लिष्ट भी बनायी जा सकती है. ऐसी दुरूह भाषा को अंग्रेजी में Jargon कहते हैं और अंग्रेजी के भाषावैज्ञानिक इस दुरूहता के ख़िलाफ़ लड़ते रहे हैं. पंडिताऊपन, कार्य की (अ) परंपरा, नवीनता का मोह, भाषिक चेतना का अभाव ऐसे कई कारण हैं, जिनसे भाषा दुरूह बन जाती है. दोष सिर्फ पारिभाषिक शब्दों का नहीं है।

पुनरुक्त शब्द

पुनरुक्ति भाषा में पूर्ण पुनरुक्ति का अपना स्थान होता है. अगर भाषा में ऐसी व्यवस्था न हो, तो कोई बिना आवश्यकता भाषा के किसी तत्त्व को दुबारा नहीं बोलता.

1. पुनरुक्ति का एक कारण है वक्ता का यह विचार कि उसकी बात ठीक से संप्रेषित हो जाए. ऐसे प्रसंगों में वह बहुधा स्वयं प्रकट कर देता है कि वह अपनी बात दुहरा रहा है. इसे हम पुनरावृत्ति कहेंगे. वह कल आ रहा है. सुनी न आपने मेरी बात? वह कल आ रहा है. *वह बहुत बदमाश है. ठीक कहा रहा हूँ कि नहीं? वह सचमुच बदमाश है.* इस प्रकारण में हम ऐसी पुनरावृत्ति का विश्लेषण नहीं करेंगे. यह सभी भाषाओं की सामान्य विशेषता है. हम यहाँ ऐसे ही संदर्भों में पुनरावृत्ति की बात देखेंगे, जहाँ भाषा की संरचना में उसका महत्व हो और उसकी प्रयोगगत विशेषताओं का विश्लेषण किया जा सके.

2. ऊपर बताये अनुसार भाषा के सभी अंग पुनरुक्त हो सकते हैं, जहाँ सिर्फ़ दुहराना उद्देश्य है. अर्थयुक्त ढंग से उपवाक्य (*मैं अच्छा हूं, मैं अच्छा हूं), वाक्यांश (*मैंने मैंने खाना खाया, *मैंने खाना खाना खाया, *मैंने खाना खाया खाया) तथा भाषा में प्रकार्यात्मक शब्द पुनरुक्त नहीं होते. केवल शब्द पुनरुक्त होते हैं- वाक्यांश संरचना के अंगर्तत और शब्द रचना के स्तर पर ध्वनियों और रूपों की पुनरुक्ति देखी जा सकती है. यहाँ हम शब्दों की पुनरुक्ति के बारे में ही देखेंगे और शब्द की संरचना कें अंदर की पुनरुक्ति को हम **ध्वन्यात्मक शब्द** में देखेंगे.

3. संख्या में गिनी जाने वाली वस्तुवाचक संज्ञाओं की पुनरुक्ति से वस्तु की हर इकाई का अर्थ प्रकट होता है और संज्ञा बहुवचन में होती है-*वे लोग जगह-जगह गये* (हर जगह गये, जहाँ जाने का विचार किया था). जनम-जनम का साथी (हर जनम का साथी). *यह*

तो घर-घर की बात है (हर घर की बात है). *मैंने घर का चप्पा-चप्पा छान मारा* (हर चप्पा देखा). *बात-बात में वह मुझे टोकता है* (वह मुझे हर बात में...). *कपड़े-कपड़े में फ़र्क होता है* (हर दो कपड़ों में फ़र्क होता है). *दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम* (हर दाने पर...).

4. ऊपर के उदाहरणों तथा अर्थ के संदर्भ में सवाल उठ सकता है कि क्या पुनरुक्ति तथा 'हर' के वाक्य समानार्थी हैं. सबसे पहला उत्तर है 'नहीं'. आगे के वाक्य पुनरुक्ति से नहीं लिखे जाएँगे- *तुम हर कमरे में दो-दो कुर्सियाँ डाल दो-तुम (सब) कमरों में दो-दो कुर्सियाँ डाल दो. ?मेरा हर बच्चा छोटा है-मेरे बच्चे छोटे-छोटे हैं- *मेरे बच्चे-बच्चे छोटे हैं- *मेरे बच्चे-बच्चे छोटे-छोटे हैं. *मेरी कमीज-कमीज अच्छी है- मेरी सारी कमीजें अच्छी हैं- ?मेरी सारी कमीजें अच्छी-अच्छी हैं.*

इन उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि 'हर' का अर्थ प्रकट करने का कार्य प्रथमत: कर्म या विधेय करता है. अगर कर्म या विधेय से यह न हो या उनका अभाव हो तो अन्य स्थानों में पुनरुक्ति दिखायी पड़ती है. वहाँ भी यथासंभव सब, सारे, हर आदि विशेषणों का प्रयोग अधिक होता है. इस तरह कह सकते हैं कि 'हर' का अर्थ विशेषण प्रकट करते हैं; वे न हों तो संज्ञा यह दायित्व निभाती है.

5. गिनती की संज्ञाओं से पहले या विधेय में विशेषण हर वस्तु की विशेषता प्रकट करते हैं. इस कारण विशेषण हमेशा बहुवचन रूप में ही आते हैं. *बड़े-बड़े मकान, कई छोटी-छोटी चीजें, मेरे बच्चे छोटे-छोटे हैं. *बड़ा-बड़ा मकान, *छोटी-छोटी कमीज़.* यह कहना मेरे लिए कठिन है कि क्यों *नया-नया मकान* (बहुत नया) *नये-नये मकान* संभव हैं, **बड़ा-बड़ा मकान* नहीं.

5.1. बिना गिनती की संज्ञाओं (जैसे द्रव पदार्थ) के संदर्भ में विशेषण की पुनरुक्ति विशेषण के अर्थ की अधिकता का संकेत करती है. *लाल-लाल ख़ून, मीठा-मीठा पानी, गरम-गरम चाय.* इसी तरह भावों या अमूर्त विचारों के संदर्भ में *मंद-मंद मुस्कान, मीठी-मीठी बातें* द्रष्टव्य हैं.

5.2. 'बहुत' के अर्थ में हैं *लाल-लाल ख़ून, नीला-नीला आसमान, !सफ़ेद-सफ़ेद टोपी;* लेकिन 'बहुत' के अर्थ में कहीं एकवचन शब्दों के साथ रंग के अलावा अन्य शब्दों की

पुनरुक्ति नहीं होती. **बड़ा-बड़ा मकान, *ऊँची-ऊँची इमारत, ?प्यारा-प्यारा चेहरा.*

5.3. संबंधवाचक विशेषण (*मेरा-मेरा, *उसका-उसका, *हमारा-हमारा) पुनरुक्त नहीं होता. लेकिन निजवाचक विशेषण 'अपना' बहुवचन में पुनरुक्त होता है, अगर उस वाक्य का कर्ता बहुवचन में हो और कर्म आदि में बहुवचन हो. *तुम लोग अपने-अपने घर जाओ. *मैं अपनी-अपनी किताबें पढ़ रहा हूँ. दोनों अपनी-अपनी किताबें पढ़ रहे हैं. वे दोनों बच्चे अपनी-अपनी माँ (माँओं) के पास गये* ('अपनी माँ' से तुलना कीजिए).

5.4. क्रियाविशेषणों में पुनरुक्ति 'बहुत' का अर्थ देती है. *वह धीरे-धीरे जा रहा था. मैं जल्दी-जल्दी काम कर रहा हूँ.* लेकिन सारे क्रियाविशेषण पुनरुक्त नहीं होते, न ही संज्ञा से बने क्रियाविशेषण पुनरुक्त होते हैं. **ख़ामोश-ख़ामोश, *चुपचाप-चुपचाप, *शांति-शांति से, *जल्दी-जल्दी से (जल्दी-जल्दी).* विस्मयादि बोधक प्रायः पुनरावृत्त होते हैं, क्योंकि ये ध्वन्यात्मक शब्द होते हैं. क्रियाओं की पुनरुक्ति का विस्तार से विश्लेषण करने की आवश्यकता है, क्योंकि ये क्रियारूप वाक्य संरचना में महत्त्व रखते हैं. इन पुनरुक्त रूपों को (*कर-कर, करते-करते, पड़े-पड़े*) **कृदंत** की प्रविष्टियों में देखें.

6. पुनरुक्त शब्दों की रचना के संदर्भ में बच्चों की भाषा का अध्ययन अत्यंत रोचक विषय हो सकता है, क्योंकि अध्ययन का यह क्षेत्र विशाल है. संसार की सभी भाषाओं में बच्चों की भाषा के व्यंजनों और स्वरों का क्रम बहुत समान-सा रहता है, अर्थ बच्चों के जीवन से संबंध रखता है. उदाहरण के लिए *काका* जर्मन में बच्चों की भाषा में मलत्याग के लिए आता है, तमिल में एक चिड़िया के लिए, हिंदी में एक रिश्ते के लिए, पंजाबी में बच्चे के लिए. अन्य भाषाओं में भी यह शब्द ऐसे ही भिन्न-भिन्न अर्थों में मिल सकता है.

बच्चों की भाषा में एक व्यंजन तथा एक स्वर से बने अक्षर की पुनरुक्ति से अनेकों शब्द मिलते हैं. अर्थ की दृष्टि से ये शब्द रिश्ते, प्रसाधन, शरीर के अंग, प्राणियों के नाम, खिलौने, खेल आदि तथा कुछ भावों के लिए आते हैं. रिश्ते के शब्दों के संदर्भ में एक विद्वान ने बताया है कि संसार की भाषाओं में निकटतम रिश्तों के शब्द केवल 6-7 व्यंजनों से बने मिलते हैं. *मामा* किसी भाषा में माँ के लिए है, तो कहीं माँ के भाई के लिए. ये रिश्ते बच्चों के जीवन के प्रारंभिक ज्ञान के सूचक हैं. हिन्दी में *चाचा, मामा, नाना, दादा, बाबा, लाला, काका* आदि में पुनरुक्ति देख सकते हैं. /ई/ प्रत्यय से बने *चाची* आदि निष्पन्न शब्द हैं. इसी तरह बच्चों के कुछ अन्य पुनरुक्त शब्द हैं- बाबा लाना (बाहर घूमने जाना),

मममम (पानी), दूदू (दूध), छोछो (गोद), सूसू (मूत्रत्याग), छीछी (मलत्याग), चीं चीं (चिड़िया), मेंमें (बकरी), पोंपों (मोटरगाड़ी), लूलू (लड़कियों का अंग विशेष).

जब बच्चे बड़ों की भाषा के शब्द सुनते हैं और उन्हें अपनी भाषा के अनुसार बदल कर बोलते हैं, उनमें ध्वन्यात्मकता का पुट देखा जा सकता है. चिज्जी (चीज़, खाने की चीज़), बाबा (बाहर). इसी संदर्भ में हरदेव बाहरी (1965) ने भी बच्चों के कुछ अन्य शब्द दिये हैं, जिनमें पूर्ण पुनरुक्ति नहीं है, लेकिन व्यंजन की पुनरुक्ति है- *बोबा* (स्तन), चूची (स्तन, दूध), *कीका* (घोड़ा), *मेमा* (मेमना), *कोका* (भीड़), *बब्बू* (बच्चा). भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी बच्चे पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं. *छीछी* 'ख़राब' के अर्थ में आता है. *यह खाना अच्छा नहीं है, 'छीछी' है. थूथू* बच्चे की अप्रियता या अप्रसन्नता प्रकट करता है.

ऊपर की बातों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि विस्मयादि बोधक शब्दों की रचना में बालक की भाषा का कुछ पुट है. भाषा के कई पुनरुक्त या अनुकरणात्मक शब्दों के मूल में कहीं बच्चों की भाषा का अवशेष दिखायी पड़ता है. यह प्रवृत्ति बड़ों में बोलचाल के शब्दों के निर्माण में भी दिखायी पड़ती है।

प्रतिध्वनिमूलक शब्द कामता प्रसाद गुरु अपने व्याकरण में दो प्रकार के पुनरुक्त शब्दों की चर्चा करते हैं- पूर्ण पुनरुक्त शब्द और अपूर्ण पुनरुक्त शब्द, उनके पूर्ण पुनरुक्त शब्दों की चर्चा **पुनरुक्ति** में की गयी है. अपूर्ण पुनरुक्त शब्दों के संदर्भ में उनसे भिन्न विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है.

प्रतिध्वनिमूलक शब्द उन संयुक्त शब्दों को कहेंगे, जिनमें पहला शब्द सार्थक होता है और दूसरे शब्द की रचना सार्थक शब्द की स्वनिक रचना की प्रतिध्वनि-जैसी होती है. प्रतिध्वनिमूलक शब्द कई प्रकार के हैं.

1. क्रियाओं की प्रतिध्वनिमूलक रचना को निम्नलिखित नियम से स्पष्ट कर सकते हैं:

व^1 आ व^2 + व^1 ऊ व^2

काट-कूट, झाँक-झूँक, मार-मूर, लाद-लूद, बाँध-बूँध, बाँट-बूँट

व^1 स (व)^2 + व^1 आ (व)^2 (स) /आ/ के अलावा कोई और दीर्घ स्वर है)

खेल-खाल, खींच-खाँच, खोल-खाल, पूछ-पाछ, पी-पा, छू-छा, पीट-पाट, फूँक-फाँक, तोड़-ताड़, बेच-बाच, ढूँढ़-ढाँढ़, खोज़-खाज़, धूम-धाम कुछ प्रचलित उदाहरण हैं. ऐ-आ, औ-आ के उदाहरण नहीं मिलते.

**तैर-तार, *बैठ-बाठ, *लौट-लाट, *दौड़-दाड़*

ये दोनों पूरक रचनाएँ हैं, स्वनिम से नियंत्रित हैं. सिद्धांतत: नियम में आने वाले सभी शब्द प्रतिध्वनित होने चाहिए, लेकिन नहीं होते. प्रयोग बहुलता ही शायद कारण है. *?जाग-जूग, ?डाल-डूल, ?ठोक-ठाक, *लेट-लाट, *डूब-डाब, !खो-खा.* उल्लेखनीय है कि व स व की प्रतिध्वनित रचना दूसरी रचना से अधिक प्रयुक्त है, अधिक शब्दों में आती है.

1.1. इस प्रतिध्वनित रचना का प्रयोगगत महत्व क्या है? पुनरुक्त प्रयोग क्रिया की अधिकता या अनेकता का अर्थ देता है. *मैंने मार-मार कर उसका भुरता बना दिया. सब से पूछ-पूछ कर रास्ता मालूम किया.* 'खेल-खाल' या 'काट-कूट कर' में स्पष्ट रूप से अधिकता या अनेकता एक ही क्रिया की नहीं, बल्कि इनमें भिन्न तथा संबद्ध अन्य क्रिया व्यापार भी शामिल हो सकता है. *उसने पी-पा कर अपनी दौलत गँवा दी.* यहाँ/पा/जुआ, वेश्यागमन आदि क्रियाओं की ओर भी संकेत करता है, जबकि *पी-पी* कर से पीने के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार का अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता. *खींच-खाँच कर* किसी तरह खींच कर ले जाने का अर्थ देता है. इस तरह संबंधित कार्य करने तथा किसी तरह कार्य पूरा करने का अर्थ क्रियाओं की प्रतिध्वनि से प्रकट होता है.

1.2. प्रयोग की दृष्टि से यह क्रिया निम्नलिखित रूपों में आती है.

-कर वह खेल-खाल कर घर लौटा.

-आ उसने मुझसे कुछ पूछा-पाछा नहीं.

उसने सब जगह देखा-दाखा और...

-ता वह पूछते-पाछते घर पहुँचा.

-ना कुछ खींचना-खाँचना नहीं, चुपचाप बैठो.

धातु ध्यान रखो, कहीं छू-छा गया तो...

2. क्रियाओं के अलावा हमें संज्ञा तथा विशेषण शब्दों में भी प्रतिध्वनित रचना मिलती है. लेकिन यहाँ यह रचना **व आ व** की प्रतिध्वनि के रूप में नहीं मिलती. संज्ञा तथा विशेषण में केवल **व स व** की प्रतिध्वनिमूलक रचना मिलती है. **काला-कूला, *लाल-लूल, *काम-कूम, *ताला-तूला.*

2.1. थोड़े से विशेषण शब्दों में प्रतिध्वनित शब्दों की रचना मिलती है- *भोला-भाला, टूटा-टाटा, ठीक-ठाक, ढीला-ढाला.* अर्थ की दृष्टि से प्रतिध्वनित विशेषण शब्द रूढ़ अर्थ में आते हैं और उनका विशिष्ट अर्थ नहीं है. तात्पर्य यह है कि *भोला और भोला-भाला* लगभग समानार्थी हैं.

2.2. इसी तरह बहुत सीमित संख्या में कुछ संज्ञा शब्दों में भी प्रतिध्वनित शब्द रचना मिलती है. *भीड़भाड़, छेड़छाड़, छूतछात, टीमटाम, धूमधाम* इसके कुछ उदाहरण हैं. इनमें 'छूत', 'भीड़' मूलत: स्त्रीलिंग शब्द हैं. 'छेड़' धातु रूप में होने के कारण स्त्रीलिंग है (देखें **धातु रूप में संज्ञा शब्द**). प्राय: ये संज्ञा शब्द बिना हाइफ़न के एक साथ लिखे जाते हैं. अर्थ की दृष्टि से व्युत्पन्न (प्रथम तीन) शब्दों में विशेष अर्थगत अंतर नहीं है. 'टीम, धूम' ध्वन्यात्मक शब्द के खंड होने के कारण कुल अर्थ प्रतिध्वनित रचना से ही स्पष्ट होता है.

बोलबाला पुल्लिग शब्द है और संभवत: *!बोल-बाल* से व्युत्पन्न है. आकारांत होने के कारण यह पुल्लिग है.

2.3. क्रियाविशेषण या अव्यय शब्दों में प्रतिध्वनि रचना के उदाहरण नहीं मिलते. अगर हम *सुनसान* और चुपचाप को भी प्रतिध्वनिमूलक रचना मान लें, तो हमें **व स व** के रूप में ह्रस्व स्वर को भी स्थान देना होगा; लेकिन क्रिया, संज्ञा, विशेषण कहीं भी प्रतिध्वनिमूलक रचना में ह्रस्व स्वरों के शब्दों का प्रतिध्वनि शब्द नहीं मिलता.

3. प्रतिध्वनित क्रिया रूपों से संज्ञा शब्द व्युत्पन्न होते हैं. इन शब्दों की रचना में एक में /आ/ है, दूसरे में /ई, ऊ/ है. *खींचा-खाँची, काटा-कूटी, कूटी, बूँदा-बाँदी* (?<बूंदना या संज्ञा <बूँद). ऐसे शब्दों की संख्या और भी सीमित है (शायद इतने ही?). देखें ऊपर 1.

4. यहाँ हम एक भिन्न प्रकार के प्रतिध्वनिमूलक शब्दों के बारे में देखेंगे. ये शब्द मूल शब्द के पहले व्यंजन की जगह /व/ के प्रयोग से बनते हैं और मूल शब्द तथा प्रतिध्वनित शब्द मिल कर संयुक्त शब्द बनते हैं. मूल शब्द-खाना, प्रतिध्वनिमूलक शब्द- *खाना-वाना.*

4.1 अर्थ की दृष्टि से संयुक्त शब्द का दूसरा खंड अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता. *चाय-वाय* का अर्थ है 'चाय' या इस तरह की अन्य कोई 'चीज'. इस संदर्भ में मित्रों का परिहास याद आता है. एक पूछता है *चाय-वाय पिओगे?*, दूसरा कहता है चाय छोड़ो, वाय लाओ. उसका आशय है चाय नहीं, खाने की चीजें हों, तो ले जाओ.

इस संयुक्त शब्द की आवश्यकता कहे गये शब्द के संदर्भ में अनिश्चय तथा अनिर्णय के कारण है. पैर में कुछ लग गया है, मालूम नहीं है, तभी व्यक्ति कहेगा *कील-वील लग गयी है.* निश्चत मालूम होगा तो कहेगा कील लग गयी है. 'चाय-वाय' के लिए पूछने वाला चाय या अन्य कोई पेय देने को तैयार है. अगर विकल्प सीमित हो, तो सिर्फ़ कहेगा *क्या पिओगे? चाय या काफी?* जिन वाक्यों में निश्चयात्मक सूचना देते हैं, वहाँ यह प्रयोग नहीं मिलता. *मेरा लड़का पढ़ा है (*पढ़ा-वढ़ा है).* लेकिन ऐसी उक्ति का प्रतिरोध करते हुए कहा जाए (*पढ़ा-वढ़ा नहीं है*) या उक्ति से पहले ही संदेह से प्रश्न किया जाए *(कुछ पढ़ा-वढ़ा है? उत्तर-हाँ, दस तक पढ़ा है),* तो इसका प्रयोग देख सकते हैं.

ऐसा नहीं कि प्रतिध्वनित शब्द हमेशा एक ही तरह का अनिश्चत अर्थ देता हो. *तुम्हें कोई काम नहीं है?* कहने वाला *तुम्हें कोई काम-वाम नहीं है?* भी कह सकता है. जब कहते हैं वह अंदर है, *किताब-विताब पढ़ रहा है,* इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'विताब' किताब से अन्य किसी पाठ्य सामग्री की ओर ही संकेत करे. वह अन्य काम में भी व्यस्त हो सकता है. यहाँ तात्पर्य 'काम' तथा 'किताब' के बारे में अनिश्चय तथा उस संबंध में अनुमान है. निर्णय की स्थिति में ये प्रयोग नहीं होते- **वह एक जरूरी काम-वाम कर रहा है. *वे एक किताब-विताब पढ़ रहे हैं.*

4.2. ये वाक्य प्रस्तावक या प्रथम वक्ता के संदर्भ में हैं. ये वक्ता की तरफ से बोले गये वाक्य हैं. कभी प्रतिवक्ता भी विशिष्ट अर्थ में कहे गये अर्थ को अनिश्चित अर्थ में ले सकता है.

(अ-) *यह साड़ी बहुत अच्छी है.*

(आ-) *अच्छी-वच्छी कुछ नहीं.*

(अ-) *चलो, कहीं कुछ पियें.*

(आ-) *पीना वीना छोड़ो, पहले काम पूरा कर लें.*

प्रतिवक्तव्य में सभी शब्द इस तरह प्रतिध्वनित हो सकते हैं.

4.3. शब्द प्रयोग की दृष्टि से, सिद्धांतत: सभी शब्द प्रतिध्वनित हो सकते हैं. *पानी-वानी, खाना-वाना, अच्छा-वच्छा, जल्दी-वल्दी.* प्रयोग-विरलता के कारण कुछ शब्द प्रतिध्वनित न होते हों, इसकी संभावना है.

4.4. शब्द रचना की दृष्टि से निम्नलिखित नियम मिलते हैं:

(अ) **(व) स... →व स...**

घर-वर, आ-वा, पानी-वानी, अच्छा-वच्छा

(आ) (i) **व व व... →व व स**

प्यार-व्यार, प्रेम-व्रेम, प्लान-व्लान, ड्रामा-व्रामा

(यहाँ दूसरा व्यंजन स्पर्श नहीं होना चाहिए क्योंकि व + स्पर्श का गुच्छ नहीं बनता.)

(ii) **व व स... →व स...** (यहाँ द्वितीय **व** स्पर्श है)

स्थान-वान, स्कीम-वीम, स्तर-वर, स्पैनर-वैनर, स्नान-वान

जहाँ /व/ ही व्यंजन हो:

(इ) **व स... →स...**

वार आर, वन-अन, वैर-ऐर

(ई) **व व स .. →(व) स...**

स्वाद- (व) आद, ख़्वाब- (व) आब, ट्वीड-(व) ईड, द्वेष-(व) एष

जहाँ स्वर पश्च स्वर हो:

(उ) **व स... →स...**

पुस्तक-उस्तक, बूँद-ऊँद, पूँजी-ऊँजी, दूध-ऊध, खोला-ओला

(ऊ) **व व स... →स...**

स्कूल-ऊल, स्टोर-ओर (?वोर)

ऊपर दिये गये नियम सामान्य मानक, उच्चरित भाषा के आधार पर दिये गये हैं. यह उल्लेखनीय है कि यह मानक हिंदी की बोलियों से भिन्न मानक रूप है, जिसका पुट हैदराबाद जैसे दूर के अंचलों में भी देखा जा सकता है. हिंदी की बोलियों में संस्कारित शब्दों के अभाव में *स्थान, स्कीम, स्कूल* आदि शब्द आदि स्वर के साथ उच्चरित होते हैं (*इस्थान/अस्थान* आदि). इस कारण प्रतिध्वनिमूलक शब्द भी प्रारंभिक स्वर के अनुरूप होगा. पश्चिम की बोलियों में प्रतिध्वनित शब्द में अ/व/उ/ओ का अधिक प्रयोग देख सकते हैं (*स्नान-वस्नान, स्कीम-उस्कीम, स्पैनर-ओस्पैनर, स्कूल-उस्कूल, स्टोर-उस्टोर*) तथा पूरब की बोली बोलने वाले इनमें प्रायः इ/वि का प्रयोग करते हैं (स्कीम- *विस्कीम, स्नान-इस्नान, स्कूल-विस्कूल/इस्कूल, स्टोर-इस्टोर*).

4.5. पंजाबी आदि भाषाओं में हिन्दी से भिन्न प्रतिध्वनित रचना की व्यवस्था दिखायी पड़ती है. पंजाबी में *चाय-चूय, पाणी-शाणी* आदि शब्द मिलते हैं. हिंदी में भी ऊपर के नियमों के अतिरिक्त अन्य व्यवस्थाएँ भी हैं, जो क्षेत्रीय हैं. ऐसे कुछ शब्द हैं- *रोटी-सोटी, चाय-शाय.* इन शब्दों में प्रतिध्वनित शब्द के आदि में संघर्षी व्यंजन आते हैं. ऊपर के (ई) के शब्दों में जिनमें आदि /व/ आता है, /स/ की प्रतिध्वनित रचना अधिक संभाव्य है. *वार-सार, वैर-सैर.*

प्रतिबिंबित शब्द हमने **ध्वन्यात्मक शब्द** में ध्वनियों की पुनरावृत्ति से बनने वाले शब्दों की रचना के बारे में देखा, **प्रतिध्वनिमूलक शब्द** में ऐसे संयुक्त शब्दों की रचना के बारे में देखा, जिनमें पहला शब्द सार्थक होता है और दूसरा शब्द स्वनिक रचना में पहले की प्रतिध्वनि जैसा है. ध्वन्यात्मक शब्दों की रचना ध्वनि अनुरूपता पर आधारित होने के कारण उक्त प्रकरण में पूर्ण पुनरुक्त शब्दों का ही विश्लेषण हो पाया. लेकिन ऐसे कई शब्द हैं, जिनमें एक ओर ध्वन्यात्मकता भी दिखायी पड़ती है, दूसरी ओर कहीं-कहीं सार्थक शब्द खंड भी पहचाने जा सकते हैं. इन्हीं शब्दों को हम इस प्रकरण में देख रहे हैं. यहाँ इन शब्दों की विशेषताओं के बारे में जान लें.

1. इनमें कई शब्द रचना तथा अर्थ की दृष्टि से ध्वन्यात्मक शब्दों के जैसे हैं और ध्वनि-अनुरूप अर्थ ही प्रकट करते हैं. इनकी मूल रचना (**व^1 स व^2**) + (**व^3 स व^2**) मान सकते हैं, जिससे अन्य शब्द व्युत्पन्न होते हैं. *झिलमिलाना, छटपटाना, सकपकाना, हिचकिचाना, तड़फड़ाना* (<तड़पना + फड़कना?), *खटखट, घुसफुस* ऐसे कुछ उदाहरण हैं.

2. ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि दोनों खंड केवल पहले व्यंजन को छोड़कर शेष सभी दृष्टियों से समान हैं, जैसे दर्पण के अंदर दिखायी पड़ने वाला प्रतिबिंब दायीं-बायीं दिशा के अंतर के अलावा शेष सभी दृष्टियों से मूल वस्तु के समान होता है. इसी कारण मैं इन शब्दों की रचना में दर्पण-प्रतिबिंब की कल्पना कर रहा हूँ और सरलता की दृष्टि से प्रतिबिंबित शब्द कह रहा हूँ।

3. ध्वन्यात्मक शब्दों में, जहाँ पुनरुक्ति है, शब्द की रचना सुनिश्चित है, (**व स**) तथा (**व स व**). लेकिन प्रतिबिंबित शब्दों की रचना में शब्द के स्वनिमिक रूप, लंबाई आदि महत्त्वपूर्ण नहीं हैं. हर स्वनिमिक स्वरूप का खंड पहले व्यंजन को बदल कर प्रतिबिंबित होता है.

4. जो शब्द प्रतिबिंबित लगते हैं, लेकिन दर्पण-प्रतिबिंब नहीं बनते, उनकी रचना तथा व्युत्पत्ति को देखें, तो पाएँगे कि वे बहुधा दो सार्थक-शब्दों से बने संयुक्त शब्द हैं. जैसे *लूट-पाट, मेल-जोल, हृष्ट-पुष्ट, हल्ला-गुल्ला, बोल-चाल.* कहने का तात्पर्य है कि प्रतिबिंबित शब्द की पहचान के लिए शब्द का प्रतिबिंबित होना अनिवार्य है. कुछ ध्वनि-अनुरूप प्रतिबिंबित शब्द भी वास्तव में संयुक्त शब्द होते हैं, जैसे *बन-ठन, रुंड-मुंड, लालन-पालन* आदि.

5. प्रतिध्वनिमूलक शब्दों की तरह प्रतिबिंबित शब्दों में भी कई जगह सार्थक शब्द देखे जा सकते हैं. लेकिन प्रतिध्वनिमूलक शब्दों में पहला शब्द ही सार्थक होता है, जबकि इन शब्दों में कहीं पहला सार्थक होता है (*गपशप, उलट-पुलट, आन-बान, सजधज, लोट-पोट*), कहीं दूसरा (*अता-पता, आमने-सामने*). अधिकतर शब्द दो अर्थरहित शब्द खंडों से बने दीखते हैं.

6. वर्तनी की दृष्टि से दो, दो वर्णों से बड़े शब्द अलग-अलग या हाइफ़न के साथ लिखे जाते हैं (*अगड़म बगड़म, लल्लो चप्पो, अड़ोस-पड़ोस*), शेष ध्वनि-अनुरूप शब्द जोड़ कर लिखे जाते हैं. थोड़े-से शब्दों को हाइफ़न से लिखने का भी प्रयोग है.

आगे प्रतिबिंबित शब्दों की तालिका दी जा रही है:

व्यंजन/ स्वर	क वर्ग	प वर्ग	स/श[1]
अ	अचकचा,	अदल बदल, अटपटा,	अनाप सनाप,
	अल्लम गल्लम	अड़ोस-पड़ोस, अगल बगल,	अंटसंट,
		अस्त-पस्त, अता-पता,	अटरम सटरम,
		अंडबंड, अगड़म बगड़म	अबेर सबेर
आ		आरपार, आसपास,	आमने-सामने
		आँय-बाँय, आनन फानन,	
		आती-पाती, आनबान	
इ	इर्द-गिर्द		
उ		उथल-पुथल, उलट-पुलट	
ए		एँच-पेंच	
ओ		ओतप्रोत	
औ		औने-पौने	

च वर्ग तथा त वर्ग के साथ अधिक अंतर के साथ बहुत थोड़े-से शब्द मिलते हैं- आवा जाही (<आ-जा), अफ़रा-तफ़री, आपा धापी

1. बोलीगत भेद क कारण एक ही शब्द मे कहीं /स/ मिलता है, कहीं /श/. इसी कारण इन्हें एक ही साथ रखा गया है. सभी /स/ युक्त रूपों को /श/ युक्त विकल्प में भी देखें.

क वर्ग	च वर्ग	ट वर्ग	त वर्ग	प वर्ग	स/श	ह
क वर्ग	गुपचुप			किटपिट, किसमिस, कसमसाना	गपशप	
				कचर पचर, कुलबुला, खलबली		
				खटपट, खुसर फुसर, खटर पटर		
				गड़बड़, घुसफुस, घिचपिच		
च वर्ग				चहल पहल, चटपटा, चुलबुला	छरहरा	
				चरमरा, चररमरर, ? सचमुच		
				झटपट, झुटपुटा, झिलमिल		
				झूठमूठ		
ट वर्ग				टुनटुन, टुन्नू मुन्नू, ठाट बाट		
				डगमग, ढुलमुल		
त वर्ग			? तहस नहस	तड़फड़ा, तितर बितर		

	क वर्ग	च वर्ग	ट वर्ग	त वर्ग	प वर्ग	स/श	ह
					तिलमिला, धकपका		
प वर्ग							
र			रिसझमि				
			रुनझुन				
ल		लड़खड़ा	लल्लो चप्पो		लदर पदर, लस्टम पस्टम, लटपट		
			लपझप		लोटपोट, लथपथ, ? लोग-बाग		
			लुकझुक				
स				सजधज	सकपका, सटपटा~ सिटपिटा		
					सिट्टी पिट्टी, सटर पटर		
					साँय बाँय, सेंत मेंत		
ह	हट्टा कट्टा			हबर दबर~	हड़बड़, हकबका (ना)		
	हिचकिचा (ना)			हबड़ दबड़	हक्का बक्का, हिचर मिचर		

7. ऊपर बताये शब्दों के अलावा कुछ और शब्द मिलते हैं, जो प्रतिबिंबित नहीं हैं, लेकिन इन्हें और कहीं रखना भी मुश्किल है. विद्वानों ने *ऊटपटाँग* के लिए *'ऊँट पर टाँग'* आदि रोचक व्युत्पत्ति (?) दी हैं. मैं यहाँ ऐसा साहस नहीं करूंगा, बल्कि ऊँट पटाँग, ऊल जलूल, ऊबड़ खाबड़ के संदर्भ में इतना ही कहूँगा कि तीनों में प्रतिबिंबन में विसंगति है और तीनों शब्द /ऊ/ से शुरू होते हैं. आशा है विज्ञ विद्वान 'ऊँट को पटा कर ले जाना' आदि व्युत्पत्ति न दे कर समस्या को सुलझाने का कष्ट करेंगे.

प्रथमाक्षरिक शब्द (Acronym) 1. यह शब्द की रचना की नहीं, बल्कि एक से अधिक शब्दों के संक्षिप्तीकरण की विधि है, जहाँ हर शब्द के प्रथम अक्षर को ले कर एक नया शब्द बना लिया जाता है. यह प्रक्रिया प्राय: लंबे व्यक्तिवाचक शब्दों पर ही लागू होती है, लेकिन **व्यंग्य, अव्यक्त कथन, गुप्त भाषा** आदि में भी लोग अपने अभीष्ट वाक्य को अपने मित्रों पर प्रकट करने और कुछ लोगों से छिपाने के उद्देश्य से संक्षिप्त कर सकेंगे. एक कल्पित उदाहरण लीजिए *होहोजा* (होशियार हो जाओ. पुलिस वाला आ रहा है).

1.1. संस्थाओं के नाम, परियोजनाओं के नाम, वैज्ञानिक आविष्कार या उपकरण के नाम आदि का प्रथमाक्षरिक शब्द बन सकता है. यहाँ दो तरह की संक्षिप्तियों में हमें अंतर करने की आवश्यकता है. *रा.उ.प.* (राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद) संक्षिप्ति है, लेकिन शब्द नहीं है. ये तीनों वर्ण अलग-अलग, अवरोध के साथ बोले जाते हैं. लेकिन *राउप* (उच्चारण /रा + उप/) प्रथमाक्षरिक शब्द है. 'प्रश' (प्रथमाक्षरिक शब्द) बनाने की प्रवृत्ति अंग्रेजी में बहुत अधिक है. लगता है कि उसमें कई नामकरण प्रश बनाने की सुविधा को ध्यान में रख कर ही किये जाते हैं. हिंदी में *भालोद* (भारतीय लोक दल), *भाक्रांद* (भारतीय क्रांति दल), *संसोपा* (संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी), *नभाटा* (नव भारत टाइम्स) आदि शब्द अपने समय में बहुत प्रचलित रहे हैं. प्रश बनाने की शुरुआत अक्सर पत्रकार या लेखक करते हैं. हमने हिंदी में अंग्रेजी के कई प्रश शब्द के रूप मैं लिये हैं. अब हिंदी में *यूनेस्को, यूनिसेफ़, नैटो, सीटो* आदि शब्द हीं हैं.

1.2. हिंदी में यह प्रवृत्ति पत्रकारिता तथा शीघ्रता से शब्द बोलने की आवश्यकता के कारण जोर पकड़ रही है. कभी-कभी हमें व्याख्यानों या लेखन में काशी नागरी प्रचारिणी सभा (कानप्रस), दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा (दभाहिप्रस), हिंदी साहित्य सम्मेलन (हिसास)

आदि लंबे नाम कितनी बार बोलना पड़ जाता है. लेकिन इनके भी प्रथमाक्षरिक शब्द नहीं बने हैं. प्रश न बनने का एक कारण यह है कि अब भी प्रमुख संस्थाएँ अपना नामकरण अंग्रेजी शब्दों से ही करती हैं।

इस नाम के प्रथमाक्षरों से केवल अंग्रेजी के प्रथमाक्षर बनते हैं, जिसका केवल नागरिकरण हो सकता है। **संकर शब्द** दो भिन्न भाषाओं के शब्दों से बने संयुक्त या व्युत्पन्न शब्द संकर शब्द कहलाते हैं. जो शब्द भाषा की स्वीकृत व्यवस्था में आ जाते है, जैसे *सीधा-सादा, रेलगाड़ी, जेलखाना, टिकटघर, टिकट-खिड़की,* वे भाषा के अपने शब्द हो जाते हैं. लेकिन जब ऐसे शब्द बनाये जाते हैं, उनका विरोध होता है और वे खटकते भी हैं. अखबारों में ऐसे कई नये शब्द बनाये जाते हैं जैसे प्रेस *अधिवेशन, पुलिस विभाग, जिलाधीश, कोटा-व्यवस्था, लाइसेंसशुदा/लाइसेंसप्राप्त.*

हिंदी और उर्दू भाषावैज्ञानिक दृष्टि से संरचना के संदर्भ में एक ही भाषा हैं. ये सिर्फ़ लिपि तथा शब्द प्रयोग के संदर्भ में अपना अलग अस्तित्व रखती हैं. इस कारण हिंदी, उर्दू के संकर शब्द भी प्राय: तिरस्कार और विरोध का कारण बनते हैं. यही बात सह-प्रयोग (collocation) पर भी लागू होती है, जहाँ किसी प्रसंग में उर्दू तथा संस्कृतनिष्ठ शब्दों का अनियंत्रित प्रयोग खटकता है. स्वतंत्रता संग्राम या जंग आजादी अपनी जगह ठीक हैं, आज़ादी संग्राम या *स्वतंत्रता की जंग* खटकने वाले प्रयोग हैं. *अमन पसंद~शांतिप्रय, वर्तमान स्थिति~मौजूदा हालत* आदि कई प्रयोगगत पर्यायों में इस बात को देख सकते हैं. शब्द-चयन ही भाषा को उर्दू शैली या संस्कृतनिष्ठ शैली में ले जाता है. सौभाग्य से दोनों भाषाओं का एक सामान्य अंश (common core) है, जहाँ प्रयोग की काफ़ी छूट है- इस क्षेत्र के सैकड़ों शब्द (*बाल-बच्चे, घर-बार, रंग-ढंग, खानापूरी, धन-दौलत मनपसंद, पेशाबघर*) संकर होते हुए भी हिंदी में आम फहम हैं.

संस्कारित शब्द (sanskritised words) हिंदी भाषा के विकास क्रम में कई स्वन परिवर्तन हुए थे और बोलियों में तद्भव शब्दों का विकास हो चुका था. खड़ी बोली हिंदी में भी कई तद्भव शब्द प्रयुक्त होते थे. लेकिन पिछली शताब्दी में हिंदी और उर्दू के संघर्ष के कारण विद्वानों ने संस्कृत से शब्द ग्रहण करने की शुरुआत की. बाद में संस्कृत शब्दों के आगमन के साथ पहले से प्रचलित तद्भव शब्दों का भी संस्कारीकरण होने लगा. पहले हिंदी में *धरम, करम* जैसे रूप थे. *धार्मिक, युगधर्म* जैसे शब्दों के कारण *धरम* समाप्त होने

लगा. *कर्मनिष्ठ, कर्मठ, कर्मचारी, कर्मवाद* जैसे शब्दों के बाद *करम* खत्म हो रहा है. यह बात लिखित भाषा में और स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है. कुछ समय बाद 'करम' मुहावरों तक (*मेरे तो करम फूट गये, करम जली*) सीमित रह जाएगा. शब्दों का संस्कारीकरण हिन्दी में धीरे-धीरे चल रहा है (व्यक्तियों के प्रयत्नों से नहीं, बल्कि प्रवृत्ति के रूप में). जो शब्द कुछ दशकों पहले पंडिताऊ समझे जाते थे, वे अब प्रयोग में आ गये हैं. संस्कारित शब्द हिन्दी में ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी मिलते हैं.

संक्षिप्त शब्द बड़े शब्दों का उच्चारण या लेखन की सुविधा के लिए छोटा करना भाषा भाषियों की सामान्य प्रवृत्ति है. अंग्रेजी भाषा में यह प्रवृत्ति पुरानी है और बड़े शब्दों की जगह सैकड़ों संक्षिप्त शब्द प्रयोग में आते हैं. इस दुहरी व्यवस्था को हम हिंदी में अंग्रेजी से लिये शब्दों में भी देख सकते हैं- *फ़ोन~टेलीफ़ोन, फ़ोटो~फ़ोटोग्राफ़, टी.वी.~टेलीविज़न, प्लेन~एयरोप्लेन* आदि. हिंदी में बोलचाल के स्तर पर शब्दों का संक्षिप्तीकरण ज्यादा नहीं है. गाली, व्यंग्य, अव्यक्त कथन आदि कुछ विशिष्ट व्यवहार क्षेत्रों में संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है, लेकिन भाषिक प्रवृत्ति के रूप में यह हिंदी में नहीं हैं. शायद एक कारण यह है कि भाषा के दीर्घकालीन प्रयोग के आधार पर यह प्रवृत्ति उभरती है और मानक हिंदी की प्रयोग अवधि अपेक्षाकृत कम है.

लेखन के स्तर पर संक्षेप के कुछ उदाहरण हिंदी में मिलते हैं. जैसे डा. (डाक्टर), *प्रो.* (प्रोफ़ेसर), *उदा0* (उदाहरणार्थ), *रू0* (रुपया), *भू0* (भूतपूर्व), *स्व0* (स्वर्गीय), *उदा0* को छोड़कर शेष सभी व्यक्तिवचाक नामों से विशेषण के रूप में आते हैं; और वाक्य के भीतर ये संक्षिप्त रूप शब्द की जगह नहीं लिखे जा सकते हैं। मैं डॉ0 शर्मा से मिला जो प्रसिद्ध सर्जन स्व. तिवारी के भाँजे हैं।*मैंने अपने लड़के को डॉ0 बनाना चाहता हूँ।

11

मनोभाषाविज्ञान

रमेशचन्द्र गर्ग

मनोभाषाविज्ञान दो ज्ञानक्षेत्रों अर्थात् भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान का समन्वित विज्ञान है। भाषाविज्ञान भाषा की संरचना और उसकी आंतरिक प्रकृति का विश्लेषण और अध्ययन करता है; और मनोविज्ञान भाषा को बोधात्मक ज्ञान का एक अंग मानकर इसका अध्ययन सामान्य और मानवीय व्यवहारक्षेत्र में करता है। इसका क्षेत्र उन भाषेतर परिवर्तों तक ही सीमित है जो भाषिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि मनोभाषाविज्ञान का कार्यक्षेत्र क्या है और इसका संबंध किस प्रकार की तथ्य सामग्री से है, और इसका मूल प्रयोजन क्या है?

ऑसगुड (1963) के अनुसार मनोभाषाविज्ञान का संबंध कोडीकरण और विकोडीकरण की प्रक्रियाओं से है। कुछ विद्वान इसको विकोडीकरण की प्रक्रिया तक ही सीमित रखते हैं। इनके मतानुसार मनोभाषाविज्ञान का संबंध केवल इस प्रश्न से जुड़ा हुआ है कि जब हमें भाषा या वाक्यों का बोधन होता है तो क्या-क्या प्रक्रियाएँ कार्य करती हैं (जॉनसन-लेयर्ड : 1974)। वैसे तो मनोभाषाविज्ञान के अंतर्गत भाषा-सम्बन्धी विश्लेषण और परीक्षण होते ही रहे हैं, लेकिन चॉम्स्की के रूपांतरण व्याकरण के आने के बाद मनोभाषाविज्ञान में चॉम्स्की द्वारा प्रतिपादित भाषा-सिद्धांतों के आधार पर परीक्षणों पर बल दिया जाने लगा। इसका मुख्य विषय यह रहा है कि भाषावैज्ञानिकों ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं और जो आधारभूत संकल्पनाएँ रखी हैं वे कहाँ तक उपयुक्त और सार्थक हैं? क्या भाषाविज्ञानियों द्वारा प्रस्तुत विवरण केवल एक रूपगत भाषिक वर्णन है जिसका कोई प्रकार्यात्मक महत्त्व नहीं है और जिसका भाषा के बोधन और ग्रहण करने में कोई विशेष योगदान नहीं है? प्रत्येक कार्यक्षेत्र के सैद्धांतिक और प्रायोगिक दोनों ही पक्ष होते हैं। इन दोनों के बारे में हम यह नहीं कह सकते कि ये एक-दूसरे के पूरक हैं या अलग-अलग? वस्तुत: किसी भी कार्यक्षेत्र में कुछ सैद्धांतिक मान्यताएँ होती हैं और उन मान्यताओं को प्रयोग में लाना या उन्हें प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखना ही उसका प्रायोगिक पक्ष होता है। इसे प्रयोग में लाना इसलिए भी उचित है कि प्रतिपादित मान्यताओं की आधार सामग्री के अनुसार सत्यता एवं

असत्यता या उनकी वास्तविकता को परखा जा सके। इस दृष्टि से मनोभाषाविज्ञान को भाषाविज्ञान का अनुप्रयुक्त पक्ष कहा जा सकता है। मनोभाषाविज्ञान भाषा के विभिन्न अंगों को प्रयोक्ता की दृष्टि से देखता है कि बोधन की प्रक्रिया में अध्येता को क्या-क्या सुगम या क्लिष्ट लगता है? उसको समझने में क्या-क्या सहायक होते हैं या क्या-क्या भ्रामक? संक्षेप में, यह कहा ज़ा सकता है कि भाषा को समझने में भाषाप्रयोक्ता को किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसका अध्ययन मनोभाषाविज्ञान करता है।

रूपांतरण व्याकरण सिद्धांत में भाषा को मानसिक धरातल पर शुद्ध बोधात्मक ज्ञान या कोड् माना गया है। व्यवहारवादी विद्वानों के अनुसार भाषा को उद्दीपन-अनुक्रिया के सिद्धांत पर समझना और परिभाषित करना संभव है लेकिन भाषा उद्दीपन अनुक्रिया व्यवहार पर आधारित न होकर एक प्रकार का सर्जनात्मक व्यवहार है। इसीलिए आधुनिक भाषाविज्ञान का लक्ष्य संरचनात्मक भाषाविज्ञान की तरह केवल वाक्यों की गणना और विवरण न होकर उन नियमों का निर्धारण है जो भाषिक क्षमता के आधार हैं। यह प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि किस प्रकार कुछ सीमित नियमों में असंख्य वाक्यों का निर्माण हो सकता है। इस दृष्टि से व्याकरण किसी भाषा की व्यवस्था का वर्णन है और भाषा की नियमबद्धता ही उसकी व्याकरणिकता है। इसीलिए व्याकरण का मूल उद्देश्य भाषा में निहित संरचना को प्रकट करना तथा उसका विवेचन करना है। इसीलिए चॉम्स्की ने भाषाविज्ञान के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण रखा है। उसके अनुसार भाषाविज्ञान का उद्देश्य मानव मस्तिष्क में होने वाली उन प्रक्रियाओं को चित्रित करना है जो भाषिक व्यबहार के आधार हैं। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान का भाषा-सामग्री से प्रत्यक्ष रूप में कोई संबंध नहीं है। यह तो मानव मस्तिष्क में स्थापित उस भाषाव्यवस्था को प्रस्तुत करता है जिसको अपने व्यावहारिक प्रयोग में लाने की क्षमता आदर्श वक्ता-श्रोता रखता है। इसलिए इसका वस्तुजगत से कोई सीधा संबंध नहीं है। किसी भी भाषा के व्याकरण का उद्देश्य तो यह वर्णित करना है कि आदर्श स्थिति में वक्ता-श्रोता भाषा को व्यक्त करने और उसके बोधन में किस प्रकार समर्थ है। इसके साथ वह यह भी देखता है कि वक्ता-श्रोता वास्तविक स्थिति में किस प्रकार से इस ज्ञान (भाषिक क्षमता) का प्रयोग करता है या उसको व्यवहार में लाता है। भाषिक ज्ञान का अध्ययन करने के लिए चॉम्स्की ने भाषिक क्षमता और भाषिक व्यवहार में अंतर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भाषिक क्षमता एक आदर्श वक्ता-श्रोता की आंतरिक क्षमता का प्रत्यक्ष वर्णन है। दूसरे शब्दों में वह भाषा-विशेष का

अंतर्निहित (इंटर्नलाइज्ड) ज्ञान है। इसे बालक किसी औपचारिक शिक्षण के बिना भी अर्जित कर सकता है। इसके लिए किसी सचेतन ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। चॉम्स्की ने जिस आदर्श स्थिति की संकल्पना की है उसमें भाषिक ज्ञान या भाषाविज्ञान का क्षेत्र केवल व्याकरणसम्मत वाक्यों के सर्जन और वर्णन तक ही सीमित है और इसके तथ्यों को हम केवल एक आदर्श वक्ता-श्रोता के माध्यम से या उसके अंतर्ज्ञान के द्वारा ही जान सकते हैं। व्याकरण की दृष्टि से यह एक व्यापक दृष्टिकोण है जिसका संबंध मानव मस्तिष्क से है। यदि इसका संबंध मानव मष्तिष्क से है तो मनोभाषाविज्ञान मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त न केवल भाषा का संबंध मानव मस्तिष्क से है बल्कि किसी भी भाषायी मान्यता को सिद्ध करने का स्रोत भी मानव मस्तिष्क से संबंधित अंतर्ज्ञान है। इस दृष्टि से भी मनोभाषाविज्ञान को ही भाषाविज्ञान मानना अधिक समीचीन होगा।

फिर भी हम गहराई से विचार करें तो हमें मालूम होगा कि भाषाविज्ञान में और मनोभाषाविज्ञान में किसी न किसी स्तर पर अंतर है। भाषाविज्ञान केवल भाषा या भाषायी क्षमता को ही महत्त्व देता है। उसका भाषा के व्यावहारिक पक्ष से कोई सीधा संबंध नहीं है। अब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि मनोभाषाविज्ञान में भाषा के ज्ञान का अध्ययन किस रूप में किया जाता है और उसका विश्लेषण किस दृष्टि से किया जाता है। मनोभाषाविज्ञान तो भाषा-प्रयोक्ता के बोधात्मक ज्ञान की प्रकृति का वर्णन और अध्ययन करता है। वह यह पता लगाता है कि श्रोता किस प्रकार भाषा को संकल्पना और बोध के स्तर पर ग्रहण करता है। भाषा प्रक्रिया में प्रयोक्ता किन मानसिक स्थितियों से गुज़रता है और उसका उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसलिए यदि एक ओर भाषाविज्ञान का संबंध मूलत: वक्ता और उसकी उत्पादनवृत्ति (प्रोडक्टिविटी) से है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान का संबंध श्रोता से और उसके बोधन (कॉग्निशन) और प्रयत्क्षीकरण की क्षमता से है।

भाषाविज्ञान मूलत: भाषिक क्षमता को भाषाज्ञान के लिए आवश्यक मानता है। वह व्यवहार को प्रत्यक्ष रूप में कोई महत्त्व नहीं देता। इसका वक्ता-श्रोता से जो भी संबंध है वह वाक्यों की व्याकरणिकता या अव्याकरणिकता के लिए उसके अंतर्ज्ञान और अनुभवजन्य सत्यापन तक सीमित है। दूसरी ओर मनोभाषाविज्ञान भाषिक क्षमता से प्रयुक्त व्यवहार का अध्ययन करता है। वह भाषा के विश्लेषण के लिए भाषाविज्ञान के सिद्धांतों

द्वारा प्रतिपादित व्यवहार को ही महत्त्व देता है और उनका अध्ययन विशेष रूप से करता है। इसके अतिरिक्त यह देखना आवश्यक है कि इन दोनों विषयों में किस प्रकार की प्रविधि ा का प्रयोग होता है। भाषाविज्ञानी विभिन्न प्रकार के भाषायी तथ्यों का पूर्ण एवं तार्किक ढंग से अध्ययन करता है। वह यह दिखलाने का प्रयास करता है कि व्याकरण के नियमों से किस प्रकार क्रमबद्ध रूप में वाक्यों का सर्जन और निर्माण होता है। भाषाविज्ञान की रुचि इस बात में नहीं है कि भाषाप्रयोक्ता स्थिति के अनुसार इन वाक्यों का किस प्रकार से सर्जन या बोधन करता है या ये वाक्य किस प्रकार से और कितनी बार आम व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। दूसरी ओर मनोभाषाविज्ञानी भाषायी क्षमता के स्वीकृत नियमों की प्रयुक्तता या उसकी प्रमात्रा के बारे में जो निर्णय करता है वह प्रयोग के आधार पर करता है। इससे भाषाविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित नियमों की सत्यता का असत्यता को और बल मिलता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान का सत्यापन करने का तरीका या मापदंड आंतरिक है, इसके विपरीत मनोभाषाविज्ञानी का मापदंड बाह्य है क्योंकि वह परीक्षणों के आधार पर भाषायी तथ्यों को व्यवहार के माध्यम से देखता है। उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषाविज्ञान और मनोभाषाविज्ञान में कुछ न कुछ अंतर अवश्य है। दोनों एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं। भाषाविज्ञान का संबंध मुख्य रूप में भाषायी क्षमता और सर्जनात्मकता से है और मनोभाषाविज्ञान का भाषायी व्यवहार से।

अब प्रश्न उठता है कि भाषायी क्षमता-प्रारूप (व्याकरण) और व्यवहार-प्रारूप में क्या अंतर है? वक्ता या श्रोता की स्मरणशक्ति सीमित होती है। जब कि सैद्धांतिक रूप में व्याकरण किसी ऐसी सीमा से बाधित नहीं होता। क्षमता की दृष्टि से किसी भी भाषा में लंबे से लंबा वाक्य बनाया जा सकता है जिसमें कितने भी आधायित वाक्य हो सकते हैं। प्रत्येक वाक्यांश का अधिक विस्तार किया जा सकता है लेकिन वक्ता या श्रोता-विशेष का स्मरणशक्ति की प्रकृति सीमित होने के कारण व्यक्ति-विशेष के व्यवहार से ऐसा संभव नहीं। इसलिए वक्ता-श्रोता अधिक से अधिक उस वाक्य का सरलता से बोध कर लेता है जिसमें दो वाक्य तक आधायित हों। दो से अधिक आधायित वाक्यों में उसको कठिनाई होना संभव है।

दूसरे, व्याकरण संदर्भमुक्त होता है जबकि श्रोता संदर्भ-बाधित होता है। साथ ही भाषायी प्रक्रिया को कई प्रकार के उपकरण प्रभावित करते हैं जिनका व्याकरण से कोई सीधा संबंध नहीं रहता।

तीसरे, चूँकि व्याकरण संदर्भ से मुक्त है। इसलिए समय की सीमा से भी वह परे है जबकि उक्ति समय-सापेक्ष और स्थिति-सापेक्ष होती है। उक्ति मनोवैज्ञानिक प्रारूप से संबंधित प्रक्रिया है जो वास्तविक समय में क्रियाशील रहती है।

अत: भाषायी क्षमता पर कई मनोवैज्ञानिक प्रतिबंध हो सकते हैं। ये ही नियम मानव भाषा को भाषिक रूप देने में सक्षम होते हैं और भाषायी क्षमता के रूप का विविध स्तरों पर निर्धारण करते हैं। संक्षेप में, मनोभाषाविज्ञान इन्हीं नियमों का विवरण है।

यह प्रश्न भी उठता है कि जिस समय मस्तिष्क वाक्यों का सर्जन और बोधन करता है, क्या भाषायी क्षमता सिद्धांत इस प्रक्रिया को समझने में सहायक है? दूसरे शब्दों में, क्या भाषायी क्षमता का वक्ता-श्रोता के मस्तिष्क में होने वाली प्रक्रियाओं से कोई सीधा संबंध है या भाषायी क्षमता सिद्धांत केवल एक सिद्धांत-मात्र है जिसका प्रायोगिक सत्यापन नहीं हो सकता? वास्तव में इन प्रक्रियापरक नियमों के लिए हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

चॉम्स्की भाषा को बोधात्मक स्तर पर ग्रहण करते हैं, अत: उसकी इकाइयों के दो स्तरों की बात उठाते हैं-आंतरिक और बाह्य। उनके अनुसार वाक्य-संरचना के दो स्तर होते हैं–बाह्य और आंतरिक। बाह्य संरचना वाक्य का वह रूप है जो रूपांतरित होकर व्याकरणसम्मत रूप में प्रयोग होने के लिए आता है और जिस वाक्य (बीज या मूल) का यह रूपांतरित रूप है उसे आंतरिक संरचना कहते हैं। इसी मान्यता के अनुसार चॉम्स्की (1957) ने मूल और परिवर्तित वाक्यों पर बल दिया है। इसमें मूल वाक्य की आंतरिक कड़ी पर आवश्यक रूपांतरणों की प्रक्रिया के द्वारा अन्य प्रकार के संबंधित वाक्यों के उपलब्ध होने पर बल दिया गया था। इसमें मूल वाक्य पर नहीं बल्कि इसकी आंतरिक कड़ी को रूपांतरण में माना गया था। लेकिन चॉम्स्की (1965) में प्रत्येक वाक्य के दो रूप हैं–आंतरिक और बाह्य और कुछ रूपांतरण नियमों के द्वारा आंतरिक संरचना को बाह्य संरचना के स्तर पर लाया जाता है।

क्या हमें बाह्य संरचना के द्वारा वाक्यों के संबंध में पूर्ण ज्ञान मिल सकता है? ऊपर दिये हुए वर्णन से एक बात साफ है कि आंतरिक संरचना बाह्य संरचना की पूर्वस्थिति है। जितनी तथ्य सामग्री हमें वाक्य के संबंध में जाननी चाहिए वह पहले आंतरिक संरचना के स्तर पर ही होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि बाह्य संरचना के स्तर पर एक

वाक्य या वाक्यों के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान नहीं मिल पाता। विशेषत: वक्ता एक वाक्य के विषय में जितना जानने की क्षमता रखता है वह बाह्य स्तर पर पूरे रूप में उभर हो आए, यह आवश्यक नहीं। इसीलिए वाक्यों का पारस्परिक संबंध और आंतरिक संरचना, बाह्य संरचना के स्तर पर एकांगी है। बहुधा यह भी देखा गया है कि आंतरिक संबंधों के बारे में वाह्य स्तर पर प्राप्त सूचना भ्रामक होती है। कई वाक्य जो ऊपर से देखने पर बिलकुल एक-से लगते हैं, वास्तव में न केवल अर्थ की दृष्टि से बल्कि संरचना की दृष्टि से भी एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। इन वाक्यों में पाए जाने वाले अंतर केवल इनकी आंतरिक संरचना के द्वारा ही विदित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, लड़के ने दौड़ते हुए बच्चे को पकड़ लिया।

इस वाक्य के दो अर्थ हैं : पहले अर्थ में लड़का दौड़ता हुआ है; दूसरे में बच्चा दौड़ता हुआ है। इसी प्रकार रूपांतरण व्याकरण की कुछ और मान्यताओं के विषय में भी चर्चा हुई है।

चॉम्स्की की इन मान्यताओं को लेकर, मनोवैज्ञानिक वास्तविकता की दृष्टि से अनेक प्रश्न उठाए जा सकते हैं। यहाँ हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार ये मनोवैज्ञानिक वास्तविकता को परिलक्षित करते हैं और किस सीमा तक।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ऊपर जो वर्णन किया गया है उसके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(1) क्या भिन्न-भिनन वाक्यों में कोई पारस्परिक संबंध है? और इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें यह भी देखना होगा कि क्या हम मूल वाक्य या सरल वाक्य की संकल्पना या आंतरिक कड़ी की संकल्पना को मान सकते हैं? दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूल वाक्य व्युत्पन्न वाक्यों की अपेक्षा अधिक जटिल होते हैं। इन वाक्यों की जटिलता जानने के दो प्रकार के सत्यापन किए जा सकते हैं--एक भाषावैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है और दूसरा मनोभाषावैज्ञानिक पद्धति के अंतर्गत आता है। भाषावैज्ञानिक पद्धति के अनुसार हम इन्हें कुछ पदबंध संरचना नियम को लागू करके क्रमिक विकास के रूप में दिखा सकते हैं कि किस प्रकार इनकी सत्यता एवं असत्यता को अनुभवजन्य सत्यापन द्वारा समझा जा सकता है। दूसरी ओर मनोभाषाविज्ञान की दृष्टि से क्या व्युत्पन्न या रूपांतरित वाक्य वास्तव में जटिल होते हैं? यह जटिल हैं तो यह जटिलता इन वाक्यों

के संसाधन, स्मृति-संचयन और पुनर्प्राप्ति (प्रोसेसिंग, मेमरी स्टोरेज एण्ड रिट्रीवल) में परिलक्षित होनी चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि व्युत्पन्न वाक्य की व्याख्या करने या बोधन करने में अधिक समय लगेगा। यद्यपि ये सरल वाक्यों की तुलना में अधिक क्लिष्ट हैं तो इनके बोधन और व्याख्या में अधिक समय लगना चाहिए।

(1) **वाक्यों में संबंध :** वाक्यों में आपसी संबंध है। जैसे ही हम विभिन्न प्रकार के वाक्य देखते या सुनते हैं, हमें उनके परस्पर संबंधों का पता चलता है। उदाहरण के लिए, वाक्य '1' और '2' का अर्थ एक ही है; इसी प्रकार वाक्य '3' और '4' का भी :

(1) जज ने निर्णय दिया।
(2) जज के द्वारा निर्णय दिया गया।
(3) संसद ने प्रस्ताव पारित किया।
(4) संसद के द्वारा प्रस्ताव पारित किया गया।

यह सब इसीलिए संभव है कि हममें इनके आंतरिक संबंध जानने की क्षमता है। यद्यपि दोनों वाक्यों में शब्दक्रम एक-सा नहीं है फिर भी दोनों का कथ्य एक ही है।

इसी प्रकार रूपांतरण व्याकरण की मान्यता है कि मूलवाक्य या बीजवाक्य सकारात्मक, सरल और कर्तृवाच्य होता है, जबकि प्रश्नवाचक या कर्मवाच्य संरचना, निषेधात्मक मिश्र या संयुक्त वाक्य आदि वाक्य रूपांतरण नियमों द्वारा व्युत्पादित होते हैं। सकारात्मक-नकारात्मक, सामान्य वाक्य, प्रश्नवाचक वाक्य, कर्तृवाच्य-कर्मवाच्य-संरचना की दृष्टि से आपस में संबंद्ध हैं। कृदंत विशेषण पदबंध 'चलती हुई गाड़ी' रूपांतरण नियमों द्वारा व्युत्पन्न हुआ है। इसके मूल में है 'गाड़ी चलती है'।

निम्न वाक्यों पर विचार करने से पता चलेगा कि ये सब मूलवाक्य 'लड़के ने आम खाया' के रूपांतरित रूप हैं :

लड़के ने आम खाया।
क्या लड़के ने आम खाया?
लड़के ने आम नहीं खाया।
क्या लड़के ने आम नहीं खाया?

लड़के द्वारा आम नहीं खाया गया।
क्या लड़के द्वारा आम नहीं खाया गया?

बीजवाक्य अधिक सुगमता और शीघ्रता से सीखे गए, जबकि उन वाक्यों को लिखना उतना ही कठिन होता है जिन वाक्यों में अधिक रूपांतरण नियम लागू होते हैं।

मिलर और केअन (1964) ने इस ओर ध्यान दिया है कि विभिन्न प्रकार के वाक्यों का रूपांतरण करने में कितना समय लगता है। उनका अनुमान है कि समय में जो घटाव-बढ़ाव होता है उससे रूपांतरण प्रक्रिया की सुगमता या क्लिष्टता का पता चलता है। इनके अनुसार सकारात्मक वाक्यों की अपेक्षा नकारात्मक वाक्यों में 0.41 सेकिंड अधिक समय लगता है, कर्तृवाच्य और नकारात्मक वाक्यों में 0.91 सेकिंड का अंतर है। और यदि नकारात्मक और कर्मवाच्य दोनों हों तो उस वाक्य में 1.53 सेकिंड अधिक लगते हैं। इस परीक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य प्रकार के वाक्यों की तुलना में सकारात्मक कर्तृवाच्य वाक्यों में समय कम लगता है। यहाँ यह बतलाना उपयुक्त होगा कि यह समय अर्थ के कारण भी हो सकता है। मनोभाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्यसंरचना प्रक्रिया में बाह्य संरचना और आंतरिक संरचना दोनों स्तर के परस्पर संबंध में कोई न कोई तत्त्व काम करता है। किसी भी वाक्य के बोधन में मूल प्रक्रिया यह है कि किस प्रकार वाक्य की बाह्य संरचना इसकी आंतरिक संरचना से प्रभावित होती है।

(2) **बाह्य स्तर और आंतरिक स्तर :** जब हम किसी वाक्य को समझते हैं तो हमें तुरंत आभास हो जाता है कि इसमें कौन-सा अवयव संज्ञा है, कौन-सा अवयव क्रिया है और इसमें संज्ञा और क्रिया का परस्पर संबंध क्या है। नीचे दिए गए दो वाक्यों को लें :

राम श्याम को मूर्ख लगता है।
राम श्याम को मूख समझता है।

दोनों वाक्यों को ऊपर से देखने पर संरचना की दृष्टि से कोई अंतर नहीं दिखाई देता। वे एक-से लगते हैं लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। पहले वाक्य में 'मूर्ख' राम है, पर दूसरे वाक्य में 'मूर्ख' श्याम है। वैसे दोनों वाक्यों में व्याकरणिक कर्ता 'राम' ही है। पहले वाक्य में श्याम भोक्ता संप्रदाय है लेकिन दूसरे में श्याम कर्म है इस प्रकार वाक्य की संरचना-सम्बन्धी कई विशेषताओं की जानकारी वाक्य की आंतरिक संरचना के स्तर पर मिलती है।

मेहलर और कैरे (1967) ने वाक्यों के बोधन में दोनों स्तरों के संबंध में परीक्षण किया। उन्होंने ग्यारह वाक्य दिए। दस वाक्य ऐसे थे जिनकी बाह्य संरचना एक-सी ही थी लेकिन ग्यारहवें वाक्य की, जिसे परीक्षण के लिए दिया गया था, संरचना आंतरिक स्तर पर या तो 10 वाक्यों वाली ही थी या भिन्न थी। यदि ग्यारहवां वाक्य दसों वाक्यों के समान था तो उसे आसानी से समझ लिया गया। यदि इसकी संरचना 10 वाक्यों के समान नहीं थी तो इसको ग्रहण करना और सुनना कठिन था। इस परीक्षण के आधार पर यह कह सकते हैं कि वाक्य के वाक्यविन्यास संबंधों का ज्ञान किसी भी वाक्य को समझने के लिए संचयन और उसके बाद अनुस्मरण के लिए आवश्यक है। चूँकि इन वाक्यों के संबंध आंतरिक संरचना के स्तर पर हैं, इसलिए यह कहना उपयुक्त होगा कि आंतरिक स्तर की धारणा उचित ही है। स्फोट (क्लिक) के परीक्षणों के आधार पर भी बाह्य और आंतरिक संरचना की वास्तविकता को देखा गया। इस विधि में स्फोट को मुख्य पदबंध सीमा पर ही सुना गया।

(3) **व्याकरणिकता का स्तर :** व्याकरणिक विश्लेषण का मुख्य ध्येय है कि एक भाषाभाषी अपनी भाषा में प्रयुक्त वाक्य के वाक्यत्व को पहचान सके और अपने सहज और अंतर्निहित ज्ञान के आधार पर यह बता सके कि कौन-सा वाक्य व्याकरणिक है और कौन-सा व्याकरणिक नहीं है। वाक्यसंरचना की दृष्टि से वाक्यों में एक निश्चित व्यवस्था होती है। वाक्य के विभिन्न अवयव एक-दूसरे के बाद निश्चित क्रम में आते हैं और उनका परस्पर संबंध होता है। केवल शब्दकोश से शब्द लेकर जोड़ देने से वाक्य नहीं बनता। अर्थबोध के लिए भी वाक्य की व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए, यदि हम निम्नलिखित वाक्यों को लें तो हम जानते हैं कि वाक्य '1' व्याकरणसम्मत है लेकिन वाक्य '2' या '3' नहीं :

(1) लड़की की मुस्कराहट देखकर राम ख़ुश हो गया।
*(2) मुस्कराहट रोती हुई नाले में पड़ी थी।
*(3) हुई नाले में मुस्कराहट थी पड़ी रोती।
(अप्रयोगार्ह वाक्यों को तारांकित किया गया है।)

मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्याकरण-सम्मत वाक्य उन वाक्यों की तुलना में अधिक सुगमता से और ठीक प्रकार से याद रह सकते हैं जो

व्याकरणसम्मत नहीं हैं (भ्रामक) या जिनमें शब्दों की कड़ी बिना किसी क्रम के हैं। (मिलर और इसर्द 1963, 1964, कॉलमैन 1965)

(4) **संदिग्धार्थकता :** वाक्यों में कई प्रकार की संदिग्धार्थकता दिखलाई पड़ती है जो शाब्दिक स्तर से लेकर आंतरिक संरचना के स्तर तक हो सकती है। निम्नलिखित वाक्यों को देखने पर यह ज्ञात होगा कि ये अनेकार्थी वाक्य अभिव्यक्ति के स्तर पर एक हैं किंतु कथ्य के स्तर पर इनके दो या दो से अधिक अर्थ हो सकते हैं :

(1) **शाब्दिक संग्धिार्थ वाक्य**

(क) राम ने आज मन-भर मिठाई खाई।
(ख) वह टोपी वाला आ रहा है।
(ग) यह कृष्ण की तस्वीर है।

(2) **बाह्य संरचना स्तर के संदिग्धार्थ वाक्य**

(क) ताँगे में बैठे हुए कुछ वृद्ध पुरुषों और महिलाओं को देखकर

(3) **आंतरिक संरचना स्तर के संदिग्धार्थ वाक्य**

(क) शीला ने दौड़ते हुए बच्चे को पकड़ लिया।

मैके और बेवर (1967) के अनुसार शाब्दिक संदिग्धार्थ वाक्य अधिक शीघ्रता से ग्रहण किए जाते हैं, उसके बाद बाह्य संरचना वाले संदिग्धार्थक वाक्य और उसके बाद आंतरिक संरचना वाले संदिग्धार्थक वाक्य। दूसरे, जिन वाक्यों में एक से अधिक संदिग्ध अर्थ होते हैं वे एक संदिग्ध अर्थ के वाक्य की तुलना में अधिक क्लिष्ट होते हैं।

इस परीक्षण द्वारा यह पता चलता है कि व्याकरण में प्रतिपादित विभिन्न स्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। चूँकि व्याकरण में वाक्य के बोधन करने के लिए तीन प्रकार की प्रक्रियाओं को माना गया : (1) शाब्दिक प्रक्रिया, जो प्रत्येक शब्द के अर्थ निर्धारित करती है; (2) पदबंध संरचना की प्रक्रिया जो कि शब्दों की कड़ी को विभिन्न पदों में या पदबंधों में वाह्य संरचना का स्तर निर्धारित करती है, और (3) प्रक्रिया, जो कि वाक्य में व्याकरणिक संबंधों को बतलाती है अर्थात् आंतरिक संरचना का स्तर।

संदर्भसूची

Blumenthal, A.L. 1970. Language and Psychology. New York : Wiley.

Cairns. Helen, S. and C.E. Cairns. 1976. Psycholinguistics : A cognitive view of language. New York : Holt, Rinehart and Winston.

Catania, C.A. 1979. Learning. Englewood Cliffs, New Jersey : Prentice hall, Inc.

Cazacu, Tatiana Slama. 1973. Introduction to Psycholinguistics. The Hague : Mouton.

Chomsky, N. 1957. Syntactic Structures. The Hague : Mouton. ___, 1965. Aspects of the Theory of Syntax. Cambridge : M.I.T. Press.

Coleman, E.B. 1965. Responses to a scale of grammaticalness. *Journal of Verbal Learning and Verbal Behaviour.* 4, 5 : 21-27.

Fodor, J.A. & T.G. Bever 1965. The Psychological reality of linguistic segments. *Journal of Verbal Learning and Verbal Behaviour.* 4, 414 :20.

Foss, D.J. and D.T. Hakes, 1978. Psycholinguistics : An introduction to the psychology of language. Englewood cliffs, New Jersy : Prentice Hall, Inc.

Green, J. 1972. Psycholinguistics : Chomsky and psychology. Penguin.

Johnson-Laird, P. 1970. Experimental Psycholingustics. Annual Review of Psychology.

Kess, Joseph F. 1976. Psycholinguistics : Introductory Perspectives. New York : Academic press, Inc.

Mackay, D.G. and T.G. Bever. 1967. In search of ambiguity. *Perception and Psychophysics,* 2 : 193-200.

Mehler, J. and P. Garey. 1967. Role of surface structure and base structure in the perception of setences. *Journal of Verbal Learning and Verbal Behaviour.* 6, 335-38.

Miller, G.A. and S. Isard. 1963. Some perceptual consequences of linguistic rules. *Journal of Verbal Learning and Verbal Behaviour.* 2, 217-28.

_____ 1964. Free cecall of self-embedded English sentences. *Information and Control,* 7 : 292-303.

Miller, G.A. and K.O. Mckean. 1964. A Chronometric Study of some relation between sentences. *Quarterly Journal of Experimental Psychology,* 16 : 297-308.

Osgood, C.E. 1963. On understanding and creating sentences. *American Psychologist,* 18 : 735-51.

Taylor, Insup. 1976. Introduction to Psycholinguistics. New York : Holt, Rinehart and Winston.

12

काव्यभाषा का स्वरूप

-रामस्वरूप चतुर्वेदी

नयी कविता के युग में आज जब कविता के सभी परंपरागत भेदक लक्षण तुक, छंद, अलंकरण, (शायद सबमें महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस भी) धीरे-धीरे विलुप्त हो चले हैं, तो काव्यभाषा ही वह अंतिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार शेष रह जाता है, जिसके सहारे कविता के संघटन को समझने की चेष्टा हो सकती है। हिन्दी समीक्षा में काव्य-भाषा के विश्लेषण के लिए बहुत उल्लेख-योग्य यत्न अभी तक नहीं हुए हैं। कुछ मध्यकालीन कवियों की काव्यभाषा का विवेचन करते हुए शोध-ग्रंथ प्रस्तुत किये गये हैं, पर इनकी प्रकृति व्याकरणिक है। ऐसे ग्रंथों की दृष्टि न तो मनोवैज्ञानिक है और न ही सौंदर्यतत्त्वात्मक। काव्यभाषा के विश्लेषण के लिए निश्चय ही दूसरी दृष्टि प्रमुख रूप से अपेक्षित है। केवल व्याकरणिक दृष्टि कुछ कच्चा माल उपलब्ध करा सकती है, पर कविता की रचना-प्रक्रिया उसके माध्यम से नहीं समझी जा सकती।

यों तो प्रत्येक युग के काव्य-बोध को समझने के लिए कवि की भाषा-प्रयोग-विधि हमारे लिए शायद सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया सिद्ध हो सकती है। पर जैसा कहा गया, आधुनिक कविता का मर्म ग्रहण करने के लिए काव्यभाषा का उपादान ही एकमात्र विश्वसनीय आधार रह गया है, जिससे हम इस युग विशेष के काव्य-सर्जन की क्षमता को समझ सकते हैं। इस प्रसंग में अपनी दो टिप्पणियों के द्वारा ('भाषा तथा संवेदना', कल्पना, जुलाई 1960; अंग्रेज़ी रूपान्तरण: लैंग्वेज ऐण्ड सेन्सिबिलिटी- क्वेस्ट, अप्रैल-जून, 1960; और 'नयी कविता: समस्यापूर्ति तथा कथानक रूढ़ियाँ'- कल्पना) और अज्ञेय से संबद्ध एक समीक्षा-लेख (कादम्बिनी, अप्रैल, 1961) में कुछ प्रारंभिक संकेत प्रस्तुत किये थे। परन्तु अब यह आवश्यक है कि इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ और व्यवस्थित ढंग से विचार किया जाये।

काव्यभाषा के संबंध में अंग्रेज़ी और अमेरिकन समीक्षकों ने विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। ओवेन बारफ़ील्ड ने अपनी पुस्तक 'पोएटिक डिक्शन' का प्रारंभ करते हुए काव्यभाषा की जो परिभाषा देनी चाही है वह अपूर्ण तो है ही, कुछ सतही भी लगती है। इसका कारण

संभवत: यह हो कि ऐसे गंभीर विभावन को परिभाषित करना स्वयं ही अपनी दृष्टि को सीमित कर लेना है। बारफ़ील्ड महोदय से शिक्षा ग्रहण करके मैं काव्यभाषा की परिभाषा देने की चेष्टा न करके उसके स्वरूप विश्लेषण का ही यत्न अधिक करूँगा। यों, बारफ़ील्ड की परिभाषा इस प्रकार है: "जब शब्दों का चयन और नियोजन इस प्रकार से किया जाये कि वह सौंदर्य-तत्त्वात्मक कल्पना को जाग्रत करे या जाग्रत करने की चेष्टा करे तो इस चयन के परिणाम को काव्यात्मक शब्द-समूह (पोएटिक डिक्शन) कहा जायेगा।" स्पष्ट ही मूल भाव की ओर संकेत करते रहने पर भी इस परिभाषा में संपूर्ण स्थिति को अतिसरलीकृत रूप में प्रस्तुत करने की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है। शब्दों का यह 'चयन और नियोजन' किस प्रकार होता है, यही मुख्य विचारणीय समस्या है।

सामान्य मानव जीवन में भाषा-प्रयोग के कई स्तर दिखाई देते हैं। बोल-चाल की भाषा और साहित्यिक भाषा के अंतर को बराबर समझा गया है। इस संबंध में जिन विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है उनकी धारणा है कि भाषा के इन दोनों स्तरों में सदैव अंतर बना रहता है, और भाषा के जिस रूप में साहित्य-सर्जन होता रहता है कुछ समय (कई शताब्दियों) के उपरांत अनवरत व्यवहार से उसकी संभावनाएँ चुक जाती हैं, और वह भाषा-रूप जड़ हो जाता है। पर बोल-चाल की भाषा निरंतर के जीवित उपयोग से विकसित होती है। इस दृष्टि से किसी भी देश की साहित्यिक भाषाएँ वहाँ के जन-समुदाय की भाषा के विकास की विभिन्न मंजिलों को सूचित करती हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश की जो सरणि भारतीय आर्य भाषाओं के विकसनशील रूप को प्रकट करती है, अनिवार्यत: साहित्यिक भाषाओं का ही एक क्रम है। सच तो यह है कि वर्तमान काल से पूर्व बोल-चाल की भाषाएं क्या थीं, यह जानने के लिए हमारे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं है। तुलसी की अवधी अपने समय की बोल-चाल की अवधी से काफ़ी भिन्न थी, यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है, पर उस बोल-चाल की अवधी का क्या स्वरूप था, इस संबंध में हमारी कोई जानकारी नहीं है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि परस्पर मिलती-जुलती बोलियों के समूह में से कोई बोली किन्ही विशिष्ट कारणों से- राजनैतिक, सामाजिक अथवा अन्य- साहित्यिक सृजनशीलता का रूप ग्रहण कर लेती है। फिर कई शताब्दियों के प्रयोग के उपरांत जब उस की प्राण-शक्ति घटने लगती है और बदलते हुए नये युग के यथार्थ से जब वह अपने-आप को संपृक्त करने में असमर्थ पाती है तो उसके विकास की मंजिल पूरी हो जाती है, और उसका गत्यात्मक स्वरूप क्रमश: जड़ हो जाता है। प्राय:

चार सौ वर्षों तक काव्य-माध्यम बने रहने के बाद ब्रजभाषा भारतेंदुकाल में इस स्थिति में आ आती है कि पुनर्जागरण के इस युग में सारे परिवेश से उसकी कोई संपृक्ति नहीं रह जाती। यही कारण है कि जिससे भाषा, जो हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण दाय है, वैसा ही कठिन अवरोध बन जाती है।

साहित्यिक भाषा मूलत: बोल-चाल की ही वह भाषा है जो विभिन्न रचनाकारों की सृजन-प्रक्रिया में समाहित होकर अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लेती है। कवि विशेष के अनुभव की अद्वितीयता से संपृक्त होने पर उसकी अर्थ-क्षमता में कई प्रकार के अंतर उत्पन्न हो जाते हैं। स्वयं बोल-चाल की भाषा के अपने कई रूप और स्तर रहते हैं, पर यहाँ उनकी चर्चा अभिप्रेत नहीं। साहित्यिक भाषा के विशेषत: पिछले कई सौ वर्षों में दो रूप हो गये हैं– कविता की भाषा और गद्य की भाषा। काव्यभाषा कहने पर हम दोनों को ही उसके अंतर्गत समाहित कर लेते हैं। कविता की और गद्य की भाषा में गद्य की भाषा बोल-चाल की भाषा के अपेक्षया निकट होती है। इस प्रसंग में सामान्य गद्य और कहानी, उपन्यास, नाटक के सृजनात्मक गद्य के अंतर को भी हमें स्मरण रखना है। पहले प्रकार का गद्य बोल-चाल के निकट होगा, दूसरे प्रकार का गद्य कविता के निकट होगा। इस प्रकार सामान्य दृष्टि से भाषा के चार प्रयोग-स्तर हो जाते हैं: बोल-चाल की भाषा, गद्य की भाषा, सृजनात्मक गद्य की भाषा और कविता की भाषा।

काव्यभाषा के इन दोनों रूपों अर्थात् गद्य की भाषा और कविता की भाषा के अंतर को किसी रचनाकार के प्रसंग में रखकर देखना अधिक उचित और उपयोगी होगा। वर्तमान युग के हिंदी साहित्य में अज्ञेय ने इन दोनों माध्यमों में भाषा का बड़ा सतर्क और सफल प्रयोग किया है। भाषा के संबंध में उनकी-जैसी दृष्टि हिन्दी में शायद ही अन्यत्र कहीं देखने को मिले। यहाँ यह भी जोड़ देना संगत होगा कि अज्ञेय की कविता और गद्य की भाषा में इतना काफी अंतर है कि उस के सहारे हम अपने विवेचन को आसानी से स्पष्ट कर सकते हैं। अज्ञेय के भाषा-प्रयोग की एक और विशेषता यह भी है कि अभी तक कहानी, उपन्यास, नाटक के लिए प्रयुक्त होने वाले सृजनात्मक गद्य का प्रयोग उन्होंने अकाल्पनिक वृत्तों, उदाहरणार्थ यात्रा-विवरण, जर्नल प्रभृत्ति में सफलतापूर्वक किया है। इस दृष्टि से सामान्यत: सृचनात्मक प्रकृति के समझे जाने वाले 'उपयोगी' कला के नमूने यात्रा विवरण को उन्होंने इस सृजनात्मक गद्य के प्रयोग के माध्यम से 'ललित' कला के रूप में एक

स्वतंत्र कलात्मक काव्य-रूप बना दिया है।

'नदी के द्वीप' तथा 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की भाषा की यदि विस्तृत तुलना की जाये तो सृजनात्मक गद्य और कविता की भाषा का अंतर काफ़ी समझा जा सकता है। पर एक स्थिति तो एकदम स्पष्ट है। 'नदी के द्वीप' की भाषा अर्थ का बड़ा सघन रूप प्रस्तुत करती है, जब कि 'अरी को करुणा प्रभामय' की भाषा में एक उन्मुक्तता है। 'नदी के द्वीप' में शब्द अपने चरम अर्थ को प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं, अर्थ की संपूर्ण संभावना को जैसे विवृत कर देते हों। पर कविताओं की भाषा भाव-चित्रों को विकसित करने के लिए शब्दों की सारी अर्थ-शक्ति को प्रयोग में न लाकर उसके प्रतीकार्थ को ग्रहण करती है (शब्द तो अपने-आप में प्रतीक हैं, पर उसके प्रतीकार्थ को, आंशिक अर्थ को ही कविता में स्वीकार किया जाता है।) यही कारण है जिससे अज्ञेय की गद्य-भाषा की तुलना में उनकी कविता की भाषा का रूप अधिक उन्मुक्त और खुला हुआ है।

इस स्थल पर 'अरी ओ करुणा प्रभामय' पर आधारित अपने ही समीक्षा-लेख (कादम्बिनी, अप्रैल, 1961) का कुछ अंश उद्धृत करने की अनुमति चाहूँगा: अज्ञेय जब कहते हैं कि अच्छी भाषा लिख पाना अपने-आप में एक उपलब्धि है तो वे जानते हैं कि अच्छी भाषा लेखक की संवेदना को निश्चय ही ऊपर उठायेगी क्योंकि अच्छी भाषा महज 'अच्छे-अच्छे' शब्दों का प्रयोग नहीं है, वरन् अच्छे शब्दों का संगत प्रयोग है। इस दृष्टि से उनकी कविता की भाषा और गद्य-भाषा की तुलना उनके रचना-व्यक्तित्व को समझने में सहायक हो सकती है। अज्ञेय की कविता-भाषा का आधार बोल-चाल की भाषा है जिसमें अलंकृति अथवा गरिमा नहीं है, लोक-जीवन की शब्दावली तथा मुहावरे हैं, शिल्प का रूखापन, खुदरापन है:

"मेरा भाव-यंत्र?
एक मचिया है सूखी घास-फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान-
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो।"

कवि के भाव-यंत्र के लिए 'सूखी घास-फूस की मचिया' का बिंब शौकिया नहीं है, न उसमें अनावश्यक रूप से 'प्रकृति की ओर वापस चलो' की पुकार है (हम तो अब भी बहुत कुछ प्रकृति में ही हैं, वापस कहां जायें?) वरन् यह अज्ञेय की काव्य-संवेदना का

एक पक्ष है, जो विशुद्ध हैं, बेलौस है, अकृत्रिम है। 'एक पक्ष' जान-बूझकर कह रहा हूँ, क्योंकि एक दूसरा पक्ष भी है जिसकी चर्चा आगे होगी। आज के युग में किसी स्वचेतन, संवेदनशील कलाकार के व्यक्तित्व में भारतीय लोक-जीवन और पश्चिम का बौद्धिक आभिजात्य– इन दोनों तत्त्वों का होना एक विशिष्ट संतुलन की माँग करता है, जो अज्ञेय में है। आधुनिक जन-मानस का यह एक महत्त्वपूर्ण संघर्ष है, जिसे उन्होंने काफी 'प्रशमित' कर लिया है। 'व्यक्तित्व' के 'अन्वेषण' में इस ओर भी उनकी दृष्टि रही है।

अज्ञेय की कविता की भाषा में यह 'नॉन-यू' तत्त्व (निम्नवर्गीय जीवन से लिया गया शब्द-समूह) बराबर प्रधान रहा है। प्रतीकों, बिंबों, अभिप्रायों के चयन और सामान्य शब्द-प्रयोग में उनकी दृष्टि अधिकतर लोक-जीवन की ओर उन्मुख दीख पड़ती है। 'ठाठफ़कीरी', 'मँगनी', 'हुनरमंद', 'घुड़का', 'नंग डाकिनी', 'कुलबुलाती', 'गाला हमने एक कुँआ', 'झौंसी', 'मनियारी', 'लकदक', 'अंटी', 'टोये', 'डाँगर भसाते हैं', 'पहलेज'– जैसे प्रयोग 'अरी को करुणा प्रभामय' में मिलते हैं, पर जिन्हें 'शेखर' अथवा 'नदी के द्वीप' में ढूँढ़ना कठिन होगा।' औद्योगिक बस्ती' शीर्षक कविता का एक अंश है:

"बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिंहुकती और रँभाती अफराये डाँगर-सी
ठिलती चलती जाती हैं।"

यहाँ लदी मालगाड़ी के चित्र को कवि 'रँभाती अफ़राये डाँगर' के माध्यम से उभारना चाहता है। इससे पता चल जाता है कि औद्योगिक बस्ती तो है, लेकिन किसी ठेठ देहाती इलाके में स्थित है। ऐसे बहुत से भाषा-प्रयोगों द्वारा अज्ञेय ने छायावाद से अपने-आप को अलग किया है। और जैसे मैंने संकेत किया, ये शब्द महज शब्द नहीं हैं, वरन् इनके माध्यम से एक नयी काव्य-संवेदना का स्वरूप निर्धारित हुआ है। 'क्षितिज', 'रश्मि', 'उस पार', 'सजनि', 'परदा', 'तरंग', 'आँसू' के लोग से भिन्न यह दुनिया हिंदी कविता में किसी हद तक अज्ञेय के माध्यम से अनुभूत हुई है। प्रगतिवाद इसकी पृष्ठभूमि में है, और नयी कविता का यह स्रोत है। पर केवल नारों से हटकर यथार्थ अनुभावन के स्तर पर अज्ञेय इस अनुभूति के प्रथम सशक्त साथी हैं।

अज्ञेय का रचनात्मक गद्य इससे बिल्कुल विपरीत दिशा में है। उसकी प्रकृति निश्चित रूप से 'यू' (अपर क्लास) है। पर उसका आभिजात्य प्रधानत: बौद्धिक धरातल पर है। 'शेखर'

और विशेषत: 'नदी के द्वीप' के गद्य का मार्दव, परिष्कार और शिल्पित स्वरूप लेखक की संवेदना के एक-दूसरे पक्ष को प्रतिफलित करता है। एक-एक शब्द मानो खराद पर चढ़ा हुआ हो। कविता की भाषा- जैसा उन्मुक्त भाव, खुलापन यहाँ नहीं मिलता। हर शब्द अर्थवत्ता की अंतिम सीमा को व्यक्त कर रहा है। यहां शब्द 'अधूरे' हैं केवल इसलिए कि वे 'उच्चारण' माँगते हैं। अन्यथा उनके कसाव में कहीं कोई कमी नहीं। इसलिए 'नदी के द्वीप' में बहुत-से स्थलों पर एक भाषिक तनाव का अनुभव होने लगता है, संवेदना अपने तीव्रतम रूप पर पहुंच जाती है।

गद्य और कविता की भाषा में अंतर बिंब-गठन के कारण होता है (और दोनों में शायद यही तो विभाजक अंतर है)। कविता की भाषा पाठक या श्रोता को बिंबों अथवा भावचित्रों का आधार प्रदान करती है, जिस पर भावात्मक ढाँचा वह (अर्थात् पाठक) बहुत कुछ स्वयं बनाता है। इसीलिए कविता की भाषा का बहुशिल्पित होना दोष है। परन्तु गद्य प्रधानत: वर्णन की भाषा है, अत: उसमें कसाव अधिक अपेक्षित है। गद्य के शब्द अर्थ के चरम रूप को अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से अज्ञेय की कविता और गद्य की भाषा अपने विभिन्न स्तरों पर उपयुक्ततम है। दोनों स्तरों के बीच का अंतर प्रमुखत: इसी कारण से है। छायावाद की काव्यभाषा को उन्होंने तोड़ा कविता के लिए, पर उसके बहुत-से ठोस अंश का प्रयोग उन्होंने गद्य में किया (तुलनीय महादेवी के संस्मरण चित्रों 'रामा', 'घीसा' आदि की भाषा)।

कविता की भाषा में 'नॉन-यू' तत्त्व के प्रयोग का एक कारण हम और देख सकते हैं। परंपरागत साहित्यिक संवेदना को तोड़ने के लिए अज्ञेय ने प्रथमत: कविता के माध्यम को तोड़ा। नवलेखन की स्थिति नयी कविता के माध्यम से संभव हो सकी है। छायावाद का प्रभाव-क्षेत्र भी कविता था। छायावादी काव्यभाषा का तोड़ा जाना इस दृष्टि से सबसे अधिक आवश्यक था किसी भी नये भाव-संचरण के लिए। अज्ञेय ने इस स्थिति को समझा और भाषा को नया संस्कार दिया, ऐसा संस्कार जो बोल-चाल की भाषा का था। इस पर मौखिक भाषा को जनभाषा कह-समझकर ही वे संतुष्ट नहीं रहे, वरन् उसके माध्यम से उन्होंने समूची काव्य-संवेदना का परिष्कार किया। मालगाड़ी के डिब्बे के लिए 'अफराये डाँगर' का बिंब ऐसा सटीक है कि लगता है इससे भिन्न किसी बिंब से शायद चित्र स्पष्ट न हो सके। यहाँ लोक-जीवन से लिये गये बिंबों पर कोई आग्रह नहीं है, आग्रह इस बात पर है कि जो बिंब सबसे अधिक उपयुक्त हो वही प्रयुक्त किया जाये। फिर वह बिंब चाहे

'मनियारी' का हो चाहे 'ऐक्वेरियम' का। क्योंकि कवि की संवेदना का मूल स्रोत विदेशी होने के आक्षेपों के बावजूद भारतीय जन-जीवन में है, अत: 'कुँआ गालने' और 'ग्वाले के कमंडल की खड़कन' को वह अनायास ही आवश्यक संगति से युक्त कर लेता है। कुल मिलाकर अज्ञेय की कविता की भाषा सहज, लोक-प्रचलित, तथा परंपरागत शिल्प-प्रविधि से विहीन है। और भाषा के इस क्रांतिकारी प्रयोग से उन्होंने कविता को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान की है।

अज्ञेय की भाषा-प्रयोग-विधि का यह विश्लेषण काव्यभाषा संबंधी हमारी मौलिक समस्या पर प्रकाश डालता है। कविता की भाषा का केन्द्रीय तत्त्व भावचित्रों अथवा बिंबों का विधान है। कवि परंपरा में स्वीकृत भावचित्रों का प्रयोग अधिक नहीं करता; आवश्यकता पड़ने पर सामान्य से सामान्य शब्द के आधार पर अपना इच्छित भावचित्र स्वयं निर्मित करता है। काव्य में सामान्य अर्थबोध से ऊपर उठकर वह अपने अनुभव से संपृक्त करके किसी भी शब्द को एक विशिष्ट अर्थ देता है। निराला ने जब कहा 'ज्यों हों वे शब्द मात्र' तो यहाँ 'शब्द' शब्द एक विशिष्ट अर्थ देता है, जो कवि के अपने विशिष्ट अनुभव की प्रतीति है, जिसे वह पाठक तक संप्रेषित करना चाहता है। इस संप्रेषण में क्रमश: पाठक-सामाजिक का दायित्व बढ़ता गया है। 'सहृदयता' की माँग हमारे लक्षण-ग्रंथकारों ने भी की थी; पर अब इस सहृदयता की क्रियाशीलता वर्द्धनशील है उसी अनुपात में जिस अनुपात में कविता को अनुभूति का बना-बनाया माध्यम बनाने की वृत्ति ह्रासशील है। प्रश्न विकास की दिशा का है, उसकी अच्छाई-बुराई का उतना नहीं। काव्य और कलाओं का यह विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर हो रहा है- हेगेल के विभाजन को ध्यान में रखते हुए स्थापत्य से संगीत की ओर। पिछले युग की कलाओं में माध्यम--चाहे रंगों का हो अथवा शब्दों का ('वर्णों का' कहने पर दोनों का समाहार हो सकता है)-- अपने स्वरूप में एकदम 'चौकस' रखा जाता था, या रखने का यत्न किया जाता था।[1] इस 'चौकसी' की चरम सीमा हिंदी के रीतिकालीन काव्य और मुगल-कालीन दृश्य-कलाओं में मिलती है। इस युग की आलोचना पद्धति को नलिनविलोचन शर्मा के शब्दों में 'भारतीय मनीषा का ह्रासकालीन वर्गीकरण प्रेम' कहा जा सकता है। पर गत युग के अनुभवों ने सिद्ध किया कि कला की भाषा चाहे जितनी सावधानी बरती जाने पर भी गणित की भाषा-जैसी सही

1. "लैंग्वेज! ह्वॉट इज़ द राइटर्स स्ट्रग्ल एक्सेप्ट अ स्ट्रग्ल टु यूज़ अ मीडियम ऐज़ प्रेसाइज़्ली ऐज़ पॉसिब्ल, वट नोइड्फुल्ली इट्स बेसिक इम्प्रेसिशन?"

और एकार्थक नहीं हो सकती। शायद उस 'चौकसी' की प्रतिक्रिया में, और कुछ मानवीय अनुभूतियों की बढ़ती हुई जटिलता, सजगता और वैविध्य के कारण आज का कलाकार अपने संप्रेषण को वैसा निर्दिष्ट या 'एक्जैक्ट' बनाने का यत्न नहीं करता। वह अनुभूति-विशेष की एक पूरी श्रेणी (रेंज) संप्रेषित करता है, गणित के फारमूले की तरह एक विशिष्ट और केवल उसी विशिष्ट स्थिति को द्योतित नहीं करता। डरेल के शब्दों में, 'बताने की प्रक्रिया में सत्य विलुप्त हो जाता है। उसे संप्रेषित ही किया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता।" सत्य की इस सूक्ष्म प्रकृति के कारण ही आज सभी कलाओं– स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और कविता में अमूर्तन की वृत्ति बढ़ती दिखाई देती है। और अमूर्तन की इस गहराई के अनुपात में सामाजिक का 'सक्रिय सहभोग' अपेक्षित हो जाता है। सिर्फ़ 'सहृदयता' आज पूरी नहीं पड़ सकती; उस सहृदयता को सही दिशा में परिचालित और क्रियाशील रखने का भी दायित्व पाठक का हो गया है।

आज का रचनाकार किसी अनुभूति के सुनिश्चित रूप के स्थान पर उस अनुभूति की जो एक व्यापक श्रेणी (रेंज) संप्रेषित करना चाहता है। उसका मुख्य कारण यह है कि ज्ञान-विज्ञान के विकास और पिछली कई शताब्दियों के अनुभव के आधार पर वह ध्वनियों और शब्दों की प्रकृति तथा सीमा को कुछ और स्पष्टता से समझने लगा है। वास्तविकता यह है कि शब्द अपने आप में एक निश्चित अर्थ को व्यक्त न करके उस अर्थ की व्यापकता के अंतर्गत आने वाली अनेक मिलते-जुलते भावों को व्यक्त करते हैं। एक 'विश्वास' शब्द से पारस्परिक मानवीय संबंध की एक दिशा-विशेष में कई स्थितियों का बोध हो सकता है– इन अर्थों की दिशा एक रहेगी, पर अनुभूतिगत सघनता की दृष्टि से उनमें अंतर होगा। इस स्थिति की तुलना नये भाषाविज्ञान के बहुचर्चित विभावन 'ध्वनिग्राम' (फ़ोनीम) से की जा सकती है। ध्वनिग्राम उन बहुत-सी मिलती-जुलती ध्वनियों के समूह को कहते हैं, जिन का उच्चारण-भेद यंत्रों की सहायता से पकड़ा जा सकता है, पर वास्तविक प्रयोग के समय उनके स्वरूप में हम विवेक नहीं करते। क् हिंदी भाषा में एक ध्वनिग्राम है जिसके अंतर्गत क् क्षेत्र की मिलती-जुलती अनेक ध्वनियाँ आ जाती हैं, पर वे हमारे भाषा-प्रयोग में अनावश्यक हैं। इसीलिए क् ध्वनिग्राम उन सभी ध्वनियों का प्रतीक होते हुए हमारी वर्णमाला में केवल एक ही वर्ण के रूप में स्थान पाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनियाँ अगणित होती हैं, और उन सबके सुनिश्चित स्वरूप को हम ठीक-ठीक नहीं जानते, और न ही उनका उपयोग करते हैं। हम ध्वनिग्रामों को व्यवहार में लाते हैं। इसी प्रकार शब्दों का एक बहुत सुनिश्चित अर्थ नहीं होता। हम कह सकते हैं कि शब्द भी वस्तुत: 'शब्दग्राम' होते हैं, कई मिलते-जुलते अर्थों का बोध कराने वाले, अर्थों की एक श्रेणी (रेंज) व्यक्त करने वाले। ऐसे सीमित और अपूर्ण उपकरणों से हम काव्यभाषा के शब्दों-द्वारा एक, और एक ही, निश्चित भाव को व्यक्त करने का दावा कैसे कर सकते हैं? हम वस्तुत: एक अनुभूति को नहीं वरन् उसके व्यापक स्वरूप को ही संप्रेषित करते हैं। भाषा की इस सीमित शक्ति के कारण रचनाकार के लिए भी अनेक अनुभूतियाँ कई बार अपने में बहुत निर्दिष्ट (एक्ज़ेक्ट) नहीं हो पातीं। लॉरैन्स डरेल के उपन्यास 'क्लिया' की एक पात्र कहती है: "शायद एकदम अप्राप्य होने के कारण ही वह इतना अधिक प्रेमास्पद था। इन बातों को ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। एक ही शब्द 'प्रेम' या 'प्रेमास्पद' का प्रयोग प्राणियों की अनेक किस्मों के लिए करना पड़ता है।" इसी रचना के एक लेखक-पात्र का कहना है: भाषा! लेखक का संघर्ष इसके अतिरिक्त क्या है कि वह एक ऐसे माध्यम का ठीक-ठीक उपयोग करे जिसकी मौलिक अपूर्णता से वह परिचित है। (प्रस्तुत निबंध की अपनी सीमा और कठिनाई भी इसी प्रसंग में समझी जाती है।)

भाषा की प्रकृति अपने-आप में अमूर्तन की है। शब्द अंतत: किसी मूर्त वस्तु अथवा स्थिति के अमूर्त संकेत-भर होते हैं। इस प्रकार सारी भाषा अमूर्तन और प्रतीकन की क्रिया है। यह प्रक्रिया जीवित और गतिशील रहे, इसके लिए भाषा का साधारण प्रयोगकर्ता चिंतित नहीं रहता, जब कि कवि का संपूर्ण अस्तित्व इस प्रक्रिया के परिचालन पर निर्भर होता है। जन-साधारण के भाषा प्रयोग से जब शब्दों का चरम अर्थ प्रकट होता रहता है तो कालांतर में उन शब्दों की गहरी अर्थ-शक्ति का क्षय हो जाता है; उनका अर्थ रूढ़ हो जाता है। इस रूढ़ अर्थ को तोड़कर शब्दों के ऊपर अनवरत प्रयोग से जमी हुई परतों को फोड़-कर कवि उन्हें फिर अमूर्त करता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि सारी भाषा का ढाँचा ही नये युग में पुराना न पड़ जाये। इस प्रकार भाषा का संस्कार और उसकी समृद्धि रचनाकारों-द्वारा होती है। बोली जाने वाली भाषा का अमूर्तन और परिष्कार करके लेखक उसे सामान्य प्रयोग के लिए फिर समाज को वापस कर देते हैं। वर्तमान काल में अंग्रेज़ी भाषा की अनुपम समृद्धि इस स्थिति का अच्छा उदाहरण है।

अब प्रश्न यह है कि लेखक अथवा कवि अमूर्तन की इस प्रक्रिया को किस प्रकार घटित करते हैं। यदि हम इस प्रश्न का सही उत्तर दे सकें तो काव्यभाषा की आभ्यंतरिक प्रक्रिया के रहस्य का उद्‌घाटन हो सकता है, जो एक प्रकार से कविता की सृजनशीलता की मूल समस्या है। इतना तो स्पष्ट है कि कवि शब्दों का सामान्य ढंग से प्रयोग नहीं करना चाहता। अपनी अनुभूति की रासायनिक प्रक्रिया में वह उनकी प्रकृति को परिवर्तित कर लेता है। कवि के लिए उपलब्ध शब्दावली सामान्यत: दो कोटियों में रखी जा सकती है: एक तो वे शब्द, जो दैनिक बोल-चाल में सामान्यत: प्रयुक्त होते हैं और जिनका कोई विशेष पूर्व-संदर्भ नहीं रहता, जैसे- 'घर'। दूसरे प्रकार के वे शब्द, या कहिए नाम, जिनका कोई पूर्व-संदर्भ है। साहित्य-शास्त्रीय भाषा में इन दूसरे प्रकार के शब्दों को 'संदर्भ' या ऐल्यूज़न कहते हैं, उदाहरण के लिए शब्द लिया जा सकता है 'चक्रव्यूह'। 'घर'- जैसे सामान्य और 'चक्रव्यूह'- जैसे विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्दों से कवि को अपनी अनुभूति पकड़नी है, और संप्रेषित करनी है। पकड़ने वाली भाषा और संप्रेषित करने वाली भाषा में कुछ अंतर आ जायेगा। अंतर का कारण होगा स्वयं कवि का अपना सर्जनात्मक व्यक्तित्व। रचनाकार के व्यक्तित्व में पककर समाज की भाषा का स्वरूप बराबर परिवर्तित होता चलता है।

'घर' और 'चक्रव्यूह' समाज की भाषा के शब्द हैं। कवि इनका प्रयोग करने के लिए इनके प्रतीकार्थ को अन्वेषित करेगा– 'घर' उस के लिए छत, दीवार और दरवाजे ही नहीं हैं, वरन् माँ की ममता और पत्नी के समर्पण और उत्कंठा का भी प्रतीक है। यह सही है सामान्य समाज भी इस प्रतीक-भाषा का प्रयोग करता है, पर सीमित रूप में। जब यह कहा जाये कि 'मेरे घर में आज लखनऊ गयी हैं' ('घर वाली' नहीं 'घर में') तो यह भाषा का प्रतीकात्मक या लाक्षणिक प्रयोग ही कहलायेगा। पर सामान्य शब्द या संदर्भ से प्रतीक की स्थिति तक का विकास काव्यभाषा के संगठन की पहली मंजिल है। इन शब्दों की वास्तविक परिणति तब होती है जब ये प्रतीक भावचित्रों अथवा बिंबों (इमेज या इमेजरी; 'इमेज' का अर्थ है भावचित्र या बिंब, 'इमेजरी' को बिंबमाला कह सकते हैं) के रूप में ग्रथित होते हैं। यह भावचित्रों की भाषा ही वस्तुत: काव्यभाषा है। 'प्रतीक' के माध्यम से सामाजिक अर्थ को एक वैयक्तिक स्तर तक लाने की चेष्टा होती है, पर अनुभूति की अद्वितीयता इन प्रतीकों के सामाजिक-वैयक्तिक रूप से पूरी व्यक्त नहीं हो पाती। भावचित्र की स्थिति में कवि प्रतीक के अपेक्षया स्वीकृत परिवेश को तोड़कर अपना आवश्यक और इच्छित परिवेश निर्मित करता है। ऐसी स्थिति में 'घर' शब्द कवि की किसी विशिष्ट

मनःस्थिति- उदाहरणार्थ अपने विरुद्ध सब की सम्मिलित दुरभिसंधि की प्रतीति का अनुभावन कराने लगता है। 'साधारणीकरण' के लिए यह 'विशिष्टीकरण' कितना गहरा हो जाता है– सामान्य शब्द से प्रतीक और प्रतीक से भावचित्र! इस विशिष्टीकरण से ही रचनाकार की अनुभूति की अद्वितीयता गृहीत और व्यक्त हो पाती है। प्रतीक का मूल तत्त्व यही है कि उसके माध्यम से किसी शब्द के संपूर्ण और चरम अर्थ के स्थान पर उसके इच्छित आंशिक तत्त्व को ही ग्रहण किया जाये। भावचित्र की स्थिति में इस आंशिक अर्थ को कवि एक वैयक्तिक संगति प्रदान करता है।

प्रस्तुत विवेचन के लिए दूसरा उदाहरण हमने चुना था 'चक्रव्यूह', जो सामान्य शब्द न होकर एक संदर्भ है। संदर्भ की परिणति भी क्रमशः प्रतीक-स्थिति के माध्यम से भावचित्र के रूप में होती है। संदर्भ रूप में 'चक्रव्यूह' के साथ महाभारत, गर्भवती सुभद्रा, अभिमन्यु, सात योद्धा– यह पूरा का पूरा परिवेश हमारे सामने आ जाता है। कवि इस संदर्भ को जब प्रतीक के रूप में लाता है तो 'चक्रव्यूह' का अर्थ हो जाता है मानव मन की गुत्थियाँ। और फिर जब इस प्रतीक को भावचित्र के रूप में संक्रांत किया जाता है तो चक्रव्यूह के साथ एक नया परिवेश जुड़ जाता है, जिसे कवि ने अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार निर्मित किया है– उदाहरणार्थ, मृत्यु के भय से युद्ध करता हुआ आधुनिक व्यक्ति मन। इस प्रकार संदर्भ के साथ अनिवार्यतः जुड़े हुए परिवेश को प्रतीकास्थिति में ध्वस्त करके भावचित्र के रूप में कवि स्वयं अपना परिवेश निर्मित कर लेता है। प्रतीक और भावचित्र में कुछ-कुछ वैसा ही अंतर है जैसा उपमा और रूपक के बीच होता है। उपमा में हम समग्र स्थिति के किसी एक अंश-विशेष की तुलना देना चाहते हैं, रूपक में उस समग्र स्थिति के बारे में आरोपण की चेष्टा होती है। भावचित्र रूपक की भाँति किसी पूरी की पूरी स्थिति को अंकित करना चाहता है। पर दोनों की स्थितियों में एक मौलिक अंतर है। रूपक का 'आरोप' ऊपर से होता है, जबकि भावचित्र का उदय कवि की गहन अनुभूति के क्षणों में होता है। इसीलिए एक बाह्य अलंकरण है, पर दूसरा कविता-भाषा का अनिवार्य तत्त्व।

इस प्रसंग में यह जिज्ञासा सहज हो सकती है कि ऐसी स्थिति में कवि-कर्म के द्वारा भाषा क्या बराबर समृद्ध होती चलती है? बारफ़ील्ड महोदय ने अपनी पुस्तक के 'मेटाफ़र' शीर्षक अध्याय में इस प्रश्न को उठाया है– "हम लोग यह निष्पत्ति निकालने के लिए उत्सुक हो सकते हैं कि जैसे-जैसे भाषा पुरानी होती जाती है काव्य-उपादान के रूप में

अनिवार्यत: वह समृद्धतर होती चलती है।" पर वस्तुत: ऐसा होता नहीं। शायद कभी-कभी इस से विरोधी स्थिति की ही संभावना अधिक समझ में आती है, जब पुरानी भाषा नये कवियों के लिए सहायता की अपेक्षा अवरोध अधिक बन जाती है। इसका कारण क्या है? वस्तुत: प्रतीक जो काव्यभाषा के सबसे तेजस्वी तत्त्व जान पड़ते हैं, एक सीमा के बाद उत्पात करने लगते हैं। प्रतीकों की बड़ी संख्या यदि भावचित्रों के रूप में संक्रांत नहीं हो पाती तो उन में-से अधिकांश प्रतीक कथानाक-रूढ़ि या अभिप्राय (मोटिफ़) बनकर रह जाते हैं, जैसी इस समय हिंदी की नयी कविता की स्थिति है जहाँ ढ़ेर बौने, मुखौटे, हिमालय, खाली बोतलें और नारंगी के छिलके डूब-उतरा रहे हैं। इस प्रकार के लावारिस प्रतीक किसी भी काव्यभाषा और अंतत: साहित्य के लिए बड़े ह्रासशील तत्त्व साबित होते हैं, क्योंकि उनका रूप वैसा ही जड़ और निश्चित हो जाता है जैसा कि सामान्य शब्दों का होता है, जिन्हें कवि अमूर्त करने की प्रक्रिया में सब से पहले कच्चे माल के रूप में उठाता है। काव्यभाषा के इन दोनों विकास-क्रमों को डायग्राम के रूप में इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है– ये शब्द शक्ति की क्रमश: रेखानुसारी तथा चक्रीय विकास गतियाँ हैं:-

सामान्य शब्द अथवा संदर्भ → प्रतीक → भावचित्र

सामान्य शब्द अथवा संदर्भ

कथानक-रूढ़ि ← प्रतीक

स्पष्ट ही वहुत-से प्रतीक जो भावचित्र नहीं बन पाते, कथानक-रूढ़ियों के रूप में बहते रहते हैं, और आने वाले कवियों को सहायता तो नहीं ही देते, उनके लिए अवरोध और समस्या के रूप में उपस्थित होते हैं। ऐसी कथानक-रूढ़ियों को तोड़ने का श्रम उनके लिए बहुत कुछ अतिरिक्त सिद्ध होता है, क्योंकि सामान्यत: तो उन्हें अपने शब्दों या संदर्भों से भावचित्र विकसित करना ही इष्ट रहता है। पर जैसा संकेत किया गया, अनवरत प्रयोग के फलस्वरूप अंतत: भाषा का सारा स्वरूप जड़ और पुराना पड़ जाता है; शब्दों की संभावनाएँ चुक जाती हैं। कई शताब्दियों तक काव्यभाषा बनी रहने के बाद भारतेंदु के समय में व्रजभाषा की ऐसी ही स्थिति आ गयी थी। नवीन संभावनाओं से युक्त खड़ीबोली को भारतेंदु ने नयी स्फूर्ति और चेतना का आधार मानकर ग्रहण किया था, जिससे हमारे साहित्य में पुनर्जागरण का युग संभव हो सका। एक चुकी और रीती हुई बोली के स्थान पर एक दूसरी बोली काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होती है।

विवचेन को आगे बढ़ाने के पूर्व यहां काव्य तथा काव्यभाषा के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले कुछ नये-पुराने पारिभाषिक शब्दों और उनके अंतर पर विचार कर लेना उचित होगा। प्रतीक तथा भावचित्र या बिंब इस निबंध में चर्चा के मुख्य विषय रहे हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में इन विभावनों का विश्लेषण नहीं हुआ। हमारे लक्षण-ग्रंथों में शब्द-शंक्ति के मूलाधार के रूप में लक्षणा-व्यंजना को स्वीकार किया गया है। प्राचीन साहित्यशास्त्र के इन विभावनों-लक्षणा तथा व्यंजना का सादृश्य नव्य समीक्षा के विभावनों-प्रतीक तथा भावचित्र के साथ एकदम नहीं स्थापित किया जा सकता। प्रतीक और लक्षणा की स्थिति परस्पर निकट है, पर दोनों एक नहीं हैं। हाँ, लक्षणा और मेटाफॅर में समानता देखी जा सकता है। चिट्ठी के लिए 'पत्र' शब्द (प्राचीनकाल में चिट्ठी भूर्जपत्र आदि पर लिखी जाती थी) लाक्षणिक या 'मेटाफॉरिकल' प्रयोग है। लक्षणा या मेटाफॅर में भाव को एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रक्षिप्त किया जाता है, जेसे चंद्रमा की किरणों को उसके हाथ कहना (मैक्समूलर ने मेटाफ़ॅर के उदाहरण में बताया है सूर्य की किरणों को सूर्य के हाथ या उँगलियाँ कहना) सुमित्रानंदन पंत ने तो 'बादल' में लिखा ही है:

"समुद्र पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इंदु के कर सुकुमार।"

परंतु प्रतीक की स्थिति लक्षणा और मेटाफ़ॅर दोनों से भिन्न है। प्रतीक किसी एक शब्द के द्वारा व्यापक भाव को व्यक्त करता है, या कहिए उस भाव-विशेष का अमूर्तन है। प्रतीक के रूप में 'बौना' का अर्थ हो जायेगा, किसी विकास का अवरुद्ध हो जाना– शारीरिक विकास रूढ़ अर्थ में होता है, पर जातीय अथवा राष्ट्रीय संवेदना का विकास रुक जाना 'बौना' का प्रतीकार्थ होगा।

जिस प्रकार प्रतीक की प्रकृति लक्षणा और मेटाफ़ॅर से भिन्न है, उसी प्रकार व्यंजना को भावचित्र अथवा बिंब की तुलना में नहीं रखा जा सकता। (यह बात अलग है कि व्यंजना वर्गीकरण-प्रिय भारतीय काव्य-शास्त्र की सबसे खुली हुई व्यवस्था है।) व्यंजना प्राय: ऐसा अर्थ देती है, जो सामान्यत: उन शब्दों के संयोजन से प्रकट नहीं होता। विपिन जब कहते हैं:

"सदियों बाद तुम्हारे लेटने की आवाज आती है,
गिरे न इसलिए मुन्नी को अपनी ओर पाता हूं।"

तो उनका इच्छित भाव इन शब्दों के आश्रय से अलग व्यंजित होता है। पर भावचित्र या बिंब का मूलाधार कवि के दिये हुए शब्द ही होते हैं, और उन्हीं के अर्थ की सहायता से, उसके आधार पर, संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जाता है। विपिन की एक दूसरी कविता का अंश है:

"बहुत दिन पहले मेरी माँ ने
एक जोड़ी दस्ताने बुने थे
सोचा आज पहनूँ"

यहाँ इन पंक्तियों में माँ के स्नेह और चिंता तथा समकालीन जीवन में उसकी अनदेखी का भावचित्र कवि के दिये हुए शब्दों से उन्हीं के बीच से उभरता है। निराला की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' समग्रत: बिंबमाला (इमेजरी) से बनी रचना का अच्छा उदाहरण है। क्योंकि यहाँ शब्दों के अर्थ से एकदम भिन्न किसी अर्थ को व्यक्त नहीं किया जा रहा इसलिए व्यंजना नहीं है, और लक्षणा, प्रतीक और मेटाफ़र की तुलना में सारा चित्र कहीं अधिक संश्लिष्ट है। इस दृष्टि से पूरी कविता का संघटन भावचित्र के माध्यम से हुआ है। भावचित्र का एक अन्य उदाहरण अज्ञेय की काव्यभाषा के प्रसंग में दिया जा चुका है:

"बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराये डाँगर-सी
ठिलती चलती जाती हैं।"

यहाँ कवि के दिये हुए शब्दों से ही अर्थ लेकर स्थिति का बोध एक व्यापक भावचित्र ('चिहुँकती और रँभाती अफराये डाँगर-सी) के माध्यम से कराया गया है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य विवेचन के प्रसंग से संबद्ध हो महत्त्वपूर्ण विभावन और हैं–एक तो अप्रस्तुत-विधान का और दूसरा ध्वनि का। पर ये दोनों हमारे विषय-विवेचन की सीमा के अंतर्गत नहीं आते। अप्रस्तुत-विधान कविता में उपमानों का प्रयोग और संगठन है, भाषागत संघटन की दृष्टि से वह काफ़ी ऊपरी स्थिति है। दूसरी ओर ध्वनि है, जिसका प्रयोग काव्य-शास्त्रीय भाषा में व्यंग्यार्थ (अर्थ की मौलिक विवेचना) के लिए हुआ

करता है। भारतीय काव्य-शास्त्र की यह बड़ी महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है, पर प्रतीक अथवा भावचित्र का इससे भी कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

अमूर्तन (ऐब्स्ट्रैक्शन) का सिद्धांत आधुनिक कलाओं और कला-विवेचना में काफ़ी सीमा तक स्वीकृत हुआ है। यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की वृत्ति है। इसीलिए आधुनिक कविता में शब्द के चरम और संपूर्ण अर्थ को न लेकर उस के उन्मुक्त, वैकल्पिक अंश को ग्रहण किया जाता है। काव्यभाषा का यह नया रूप अपने संप्रेषण से पाठक को बांधता नहीं वरन् उसे अनुभूतियों की एक श्रेणी, एक दिशा देना ही अपना इष्ट समझता है। इस स्थिति का आदर्श लॉरेंस डरेल के प्रख्यात चतुर्खण्ड उपन्यास ('जस्टीन', 'बल्थाज़ार', 'माउण्ट ऑलिव' तथा 'क्लिया') में द्रष्टव्य है। डरेल ने भाषा को–और अंग्रेज़ी-जैसी समृद्ध परंपरा तथा अनवरत व्यवहार और अनेकविधि साहित्यिक प्रयोगों की भाषा को–एक अद्‌भुत तरलता प्रदान की है। शब्द मानो उस के हाथ में गीली मिट्टी की तरह हैं, जैसा नया अर्थ वह देना चाहता है, अंग्रेज़ी गद्य में ऐसा क्रांतिकारी मोड़ शायद इस रूप में पहला है, इसे अधिकांश समीक्षकों ने स्वीकार किया है। काव्यभाषा का वह द्रव रूप जिस में अर्थ की निश्चितता पर बल न देकर उस की उन्मुक्तता पर अधिक बल दिया जा रहा है, आज के साहित्यिक कृतित्व की केन्द्रीय स्थिति है। इस दृष्टि में अर्थ से इनकार नहीं है, केवल इस उन्मुक्तता को संभव करने के लिए सामान्य अर्थ की अपेक्षा भाव-चित्रों के संघटन को अधिक महत्त्व दिया जाता है। एज़रा पाउंड-जैसे कवियों में तो 'प्रायवेट इमेजरी' के तत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। भावचित्रों का यह प्रयोग ही आधुनिक काल में सामान्य भाषा, गद्य और कविता की भाषा के बीच के अंतर को स्पष्ट करता है। नयी कविता के संदर्भ में विशेषत:, गद्य और कविता का भेदक आधार यह भाषा-प्रयोग ही हो सकता है। वस्तुत: तो साहित्य के मर्म का विश्लेषण करने के लिए रूपात्मक के स्थान पर यह भाषिक सर्जनात्मक पद्धति अब अधिक तात्त्विक और उपयोगी जान पड़ती है।

पिछले वर्षों में पश्चिम के कुछ दार्शनिकों और साहित्य-चिंतकों के एक वर्ग ने अर्थ के विलोप की बात उठायी है। संगीत के सादृश्य पर ऐसे विचारक यह नहीं मानते कि काव्यभाषा किसी अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराती है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत, विशेषत: वाद्य-यंत्रों का संगीत किसी प्रकार के सुनिश्चित अर्थ का बोध नहीं कराता, उसी प्रकार कविता के शब्द किसी निश्चित और अनिवार्य अर्थ की ओर संकेत नहीं करते।

प्राचीन रचनाकारों तथा समीक्षकों की तुलना में, जो काव्यभाषा में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित और संपूर्ण अर्थ दे देने में विश्वास करते थे, यह स्थिति का दूसरा छोर है। 'द रिट्रीट फ्रॉम द वर्ड' शीर्षक वार्तामाला (बी.बी.सी. 'लिसनर' के अंकों में प्रकाशित) में प्रमुखत: विटगेन्स्टाइन के साक्ष्य पर अमेरिकन समीक्षक जॉर्ज स्टीनर कहते हैं: "अपनी पिछली वार्ता में मैंने यह दिखाने की चेष्टा की थी कि भाषा आज वह बरतन नहीं है जिस में सारा यथार्थ (रीयैलिटी) भर लिया गया है, जैसा कि अठारहवीं शताब्दी तक माना जाता था, वरन् अब उस की संगति का क्षेत्र सीमित है। वह क्रिया, विचार और संवेदना के सभी प्रकारों पर लागू नहीं होती और न उन्हें संघटित ही करती है। अर्थयुक्त अनुभूतियों के अनेक क्षेत्र अब शब्द-विहीन भाषा से संबद्ध माने जाते हैं जैसे गणित, फॉरमूले तथा तार्किक प्रतीक पद्धति। कुछ क्षेत्र 'भाषा-विरोधी' (ऐण्टी-लैंग्वेजेज) हो गये हैं, उदाहरणार्थ अमूर्त कला या असुरात्मक संगीत (नॉन-आब्जेक्टिव आर्ट ऑर एटोनल म्यूज़िक)। शब्द की दुनिया संकुचित हो गयी है।" शब्दों की इस पराजय का विस्तृत इतिहास देते हुए स्टीनर महोदय कहते हैं कि भाषा के पुनर्जागरण की आशा अब किसी उपन्यासकार के माध्यम से ही की जा सकती है। उनका अपना संकेत लॉरेंस डरेल की ओर है, जिसके बारे में उनका मत है: "वे (लॉरेंस डरेल) विशेष रूप से भाषा के काल्पनिक यथार्थ में सापेक्षता का नया विश्व-विंब समाहित करने का यत्न कर रहे हैं। संक्षेप में, वे भाषा को एक बार फिर से एक सामर्थ्य देना चाहते हैं, जिससे अनुभूत संसार के विभिन्न सत्य साक्षात्कृत हो सकें। उनके यत्नों के अतियाँ अनिवार्यत: हैं, और इतनी जल्दी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सफल हुए हैं। पर यह यत्न तो किया ही जाना चाहिए।"

इस वर्ग के चिंतक कविता में शब्दों को साधन न मानकर साध्य मान लेते हैं। निराला के उद्धरण को इस प्रसंग में दूसरी व्यंजना के साथ दोहराया जा सकता है– 'ज्यों हों वे शब्द मात्र'। इस नयी समीक्षा-पद्धति में शब्दों को 'शब्द-मात्र' ही मान लिया गया है– पर विवशता के रूप में नहीं, वरन् इच्छित ढंग से। अबू सईद अयूब ने भाषा के इस प्रकार को 'अपारदर्शी' (ओपेक) कहा है। अपने एक लंबे निबंध 'द लैंग्वेज ऑव पोएट्री' ('क्वेस्ट', जुलाई-सितंबर, 1959) में उन्होंने सारी स्थिति का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रसंग में सार्त्र की स्थिति का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है: "सार्त्र के लिए कविता में प्रयुक्त शब्दों को भाषा कहकर अभिहित करना वैसा ही सार्थक या निरर्थक है जैसा कि यह कहना कि 'फूलों की भाषा' है।" स्वयं सार्त्र का मत उद्धृत है: 'कवि शब्दों

को वस्तु के रूप में मानता है, चिन्ह के रूप में नहीं।" यह वही बात हुई शब्दों को साधन न मानकर साध्य मानना। इस सारी स्थिति से खीजते हुए अयूब ने कहा है: "यदि हम अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं शब्दों पर, उन की संगीतत्मकता और चित्रमयता पर, उनकी चयन और क्रमसंबंधी शिल्पगत कुशलता पर–जैसा कि आधुनिक कवि और 'नये' समीक्षक हमसे आशा करते हैं– तो कविता की भाषा अपारदर्शी हो जाती है; हम उसी को देखते हैं, उसके माध्यम से कुछ और नहीं।"

काव्यभाषा के विवेचन में यह दूसरी अति है। शब्द को एक निश्चित और समूचे अर्थ से बाँध देना एक स्थिति थी। अब जैसे चक्र घूमकर सामने की स्थिति में पहुँच गया हो, जहाँ शब्द के साथ से अर्थ का बोध ही हटा दिया गया है। इस प्रकार के विवेचन पर संगीत के अध्ययन संबंधी निष्कर्षों का अधिक प्रभाव जान पड़ता है। पर सभी कलाओं के संप्रेषण की विधि एक-जैसी नहीं मानी जा सकती। संगीत की अपनी पद्धति रही है, जिसमें किसी अर्थ-विशेष की प्रतीति कराने की चेष्टा न होकर एक समग्र मन:स्थिति को संप्रेषित करने का यत्न होता है। सितार की कोई गत या बीथेवेन की कोई सिफ़नी कलाकार की समूची अनुभूत्यात्मक उपलब्धि को साक्षात्कृत कराती है। पर कविता का माध्यम और उसकी संप्रेषण-विधि ठीक वैसी नहीं है। आधुनिक चित्रकला में भी रंगों को अर्थहीन मान लिया गया है। अमूर्त 'कम्पोज़ीशन' में रंग साधन न होकर साध्य बन गये हैं। वे अपने से इतर किसी यथार्थ का बोध नहीं कराते। वरन् ऐसे बोध की स्थिति से कलाकार अपने को बलपूर्वक बचाता है। डिसाने के शब्दों में रंग 'रूपाकार (फ़ार्म) और वस्तु (कण्टेण्ट)' दोनों ही हैं। इस दृष्टि से संगीत के स्वरों की अमूर्तता चित्रकला के रंगों में पूरी तरह स्थापित हो जाती है। पर क्या यह अमूर्त स्थिति शब्दों की भी मानी जा सकती है?

वस्तुत: हमें एक ही पद्धति से इन सभी कलाओं को समझने का आग्रह नहीं करना चाहिए। मेरी दृष्टि में स्वरों और रंगों के साथ-साथ शब्दों की भी वैसी ही अमूर्त (एब्स्ट्रैक्ट) स्थिति नहीं मानी जा सकती, यद्यति यह सही है कि अमूर्त ये तीनों ही उपादान हैं, और ये तीनों ही क्यों, ठीक वस्तु-जगत् से भिन्न सभी उपादान अमूर्त हैं; और वस्तु-जगत् की भी हमें केवल प्रतीति होती है, जो प्रतीति स्वयं अपने-आप में किसी सीमा तक अमूर्त है। यदि यह सब सिद्धांतत: मान भी लिया जाये तो भी इतना स्पष्ट होना चाहिए कि स्वरों, रंगों और शब्दों के अमूर्तन में भेद है। स्वर और रंग से सामाजिक व्यवहार किसी अर्थ को जोड़ता नहीं, और जोड़ता भी है तो बड़े स्थूल स्तर पर क्योंकि स्तर-भेद और रंग-भेद का

सही-सही अनुभावन संभव नहीं है। पर शब्द तो समूचे यथार्थ का मूर्त रूप है। भाषा एक प्रकार से यथार्थ (रीयैलिटी) के प्रति हमारी सारी प्रतिक्रियाओं का योग है। इसीलिए शब्दों की सार्थकता में वैसा ही वैविध्य है जैसा मानवीय अनुभूतियों में। स्वरों या रंगों के बारे में यह वक्तव्य अपने सीमित रूप में भी नहीं दिया जा सकता। स्वर और रंगों की स्थिति बहुत कुछ निर्वैयक्तिक है, शब्दों की नहीं। इसीलिए एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद की बात आवश्यक है और संभव है। पर एक युग अथवा देश की कला समसामयिक शिल्प-पद्धति में अनुवाद की अपेक्षा नहीं रखती। कालिदास और शेक्सपियर के हिंदी में अनुवाद हों, यह वांछनीय है और अनुवादक की सर्जन-शक्ति के द्वारा किये भी जाते हैं, पर काँगड़ा कलम या रेम्ब्राँ का अनुभावन उनके मूल रूप में सदैव संभव है, इसीलिए उनके रूपांतर की आवश्यकता नहीं है। यही बात संगीत के बारे में भी कही जा सकती है, जहाँ बीथोवेन या रविशंकर को अनूदित करने की बात हमारे सामने नहीं आती। शब्दों की तुलना में स्वरों और रंगों की भाषा सार्वभौमिक होती है, क्योंकि शब्दों की भाँति स्वर और रंग किसी विशेष जीवन-पद्धति से अभिन्न नहीं हो जाते। उनका रूप निर्वैयक्तिक रहता है जब कि शब्द एक विशेष अर्थ-प्रक्रिया में संबद्ध रहते हैं। स्वर और रंगों की स्थिति बीच की है, इन में न तो काव्यभाषा-जैसी वैयक्तिकता है और न दूसरी सीमा पर स्थित गणित और विज्ञान की भाषा-जैसी निरपेक्षता।

इस प्रसंग में एक तथ्य और स्मरणीय है। स्वर और रंग तो अपनी प्रकृति से ही अमूर्त हैं, उनका हमारे अनुभव-क्षेत्रों से कोई अनिवार्य उल्लेखनीय संबंध नहीं; यह उनकी सीमा और विवशता है। शब्द भी अनिवार्यत: ध्वनियों के रूप में अमूर्त हैं। पर मनुष्यों ने अपने विकास के दीर्घकाल में उन्हें अनेक विशिष्ट वस्तुओं और अनुभवों के साथ जोड़ा है। स्वरों और रंगों का उपयोग सामान्य व्यावहारिक जीवन-क्रम में उनके निरर्थक, अपारदर्शी रूप में भी हैं; पर शब्द, यदि वे ध्वनि से ऊपर उठकर सार्थक शब्द नहीं बन पाये तो हमारे लिए नितांत अनुपयोगी हैं; वे हमारे दृष्टि-परिवेश में भी नहीं आते। स्वरों और रंगों के लिए हमारी प्रतिक्रिया सहज होती है, तात्कालिक भी; पर शब्दों की प्रतिक्रिया उन्हें समझने से होती है। इस दृष्टि से स्वरों और रंगों-जैसे जड़ उपादान शब्द हमारे सामान्य जीवन में नहीं हो सकते। उनकी अपनी प्राणवत्ता की उपेक्षा संभव नहीं। सार्त्र की शब्दावली लेकर स्वरों और रंगों को तो 'वस्तुएँ' कहा जा सकता है, पर शब्दों को नहीं, क्योंकि वे सामूहिक मानव-अनुभूतियों की शक्ति से संश्लिष्ट रहते हैं। अर्थ के इस संश्लेष को विलुप्त कर

देना न तो संभव है और न शायद आवश्यक ही। स्वरों और रंगों की मौलिक प्रकृति अमूर्त होने से 'अमूर्त संगीत' और 'अमूर्त चित्रकला' संभव है, पर काव्य के क्षेत्र में शब्दों का अमूर्तन (जो बराबर होता रहता है, जैसा पहले ही संकेत किया गया) एक निश्चित सीमा तक ही संभव है। अमूर्त किये हुए शब्द अर्थ की दृष्टि से रूढ़ होते रहते हैं, और उन्हें फिर से अमूर्त किया जाता है। पर अर्थ की इतनी विस्तृति एकदम समाप्त हो जाये, कर दी जाये, यह स्थिति किसी प्रकार व्यावहारिक नहीं लगती। यदि हम काफी श्रम करके कविता के क्षेत्र में शब्दों को उनके अर्थ से बलात् अलग कर लें तो भी भाषा के सामान्य व्यवहार-क्षेत्र में यह अलगाव कैसे और क्यों होगा? साधारण प्रयोग में भाषा का अपारदर्शी रूप हमारे लिए किस काम आयेगा? तो कविता में अपारदर्शी भाषा और नित्य के व्यवहार में पारदर्शी भाषा, यह दोहरी स्थिति एक साथ ही कैसे संभव होगी? शब्दों का इन दोनों स्तर पर सार्थक भाव से बराबर प्रयुक्त होते रहना, उन्हें स्वरों और वर्णों से भिन्न कोटि में रख देता है। इस दृष्टि से संगीत के प्रभाव में विकसित, काव्यभाषा के लिए यह 'अपारदर्शी भाषा' का सिद्धांत उपयुक्त नहीं लगता। शब्द के निश्चित और समूचे अर्थ, तथा शब्दों की अपारदर्शी स्थिति की दो अतियों के बीच में वही स्थिति वांछनीय जान पड़ती है, जिसकी ओर संकेत किया है, जहाँ शब्दों को अमूर्त मानकर भी उनका पुनःपुनः अमूर्तन होता रहता है, सामान्य शब्द से प्रतीक और प्रतीक से भावचित्र के रूप में संक्रमण होता है, और भावचित्र की स्थिति में अर्थ का एक रूढ़ और बँधा रूप न होकर पाठक की संवेदना को एक दिशा में गतिशील करने का उपक्रम होता है। निश्चित अर्थ और किसी अभीष्ट अर्थ के समग्रतः अभाव की दो आत्यन्तिक स्थितियों के बीच यह मत शायद कुछ अधिक संगत जान पड़े। अपारदर्शी भाषा के अंशों का उपयोग किसी कृति में यत्र-तत्र शिल्प के रूप में किया जा सकता है, पर सामान्य काव्यभाषा में-से उसके अर्थ को हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि तब तो उसकी स्थिति संगीत-जैसी हो जायेगी। भाषा का अपारदर्शी प्रयोग आयनैस्को तथा रौब ग्रिले की रचनाओं में विशेष सफलता के साथ हुआ है, पर वहीं जहाँ-जहाँ कि उसे शिल्प के रूप में ग्रहण किया गया है।

विश्लेषण के इस अंश को एक 'पुनश्च' के साथ समाप्त करना चाहूँगा। नलिनविलोचन शर्मा की एक छोटी-सी कविता है, जो संगीत और काव्य की संप्रेषण-विधियों के अंतर को बड़ी सफाई से प्रस्तुत करती है। कविता का शीर्षक है- 'अली अकबरखाँ के सरोद-वादन पर':

"सरोद पर तुमने था बजाया,
मैं समझा नहीं। मैंने देखा,
पीतल और लोहे से
तुमने मधु निचोड़ा:
सारा कडुवापन दूर हो गया,
मधु विन्दुत होकर बँट गया।"

उक्त विश्लेषण के प्रकाश में इस स्थापना को फिर से दोहराया जा सकता है कि सामान्य भाषा और काव्यभाषा का अंतर इस बात में है कि सामान्य भाषा शब्दों के साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होना उचित और वांछनीय समझती है, जबकि काव्यभाषा के लिए यह सुनिश्चितता सह्य नहीं। वह शब्दों के रूप को बार-बार अमूर्त करती है। जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्द के साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक संबद्ध हो गया है, कवि बलपूर्वक उसे अलग कर लेना चाहता है। अर्थ की स्थूलता को तोड़कर वह उस की अमूर्त और उन्मुक्त प्रकृति को पुन: स्थापित करता है। सामान्य भाषा तथा काव्यभाषा के स्तर पर शब्दों की यह दोहरी प्रकृति भाषा की अपनी विशेषता है। अर्थ के अस्तित्व को वह दोनों ही स्थितियों में स्वीकार करती है– एक में सुनिश्चित रूप में, दूसरे में खुले और अपेक्षया अनवरुद्ध रूप में। सामान्य भाषा में अमूर्तन प्रकृत्या निहित है, पर यह अमूर्तन सजग और आवर्तनशील हो जाता है काव्यभाषा की प्रक्रिया में।

हिन्दी में प्रयोगवाद का विद्रोह एक बड़ी सीमा तक जड़ हुए शब्दों और प्रतीकों के प्रति विद्रोह था। अज्ञेय ने इसी मन:स्थिति में कहा था:

"ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच"

इसीलिए कवि अपनी प्रेमिका को 'सांध्य नभ की तारिका' नहीं कहता। काव्य संवेदना को बदलने के लिए वह भाषा को तोड़ना चाहता है। पर इस तोड़ने की दिशाएँ क्या हैं? अभी तक हमारी काव्यभाषा में अनेकार्थक शब्दों और पर्यायों का महत्त्व था, क्योंकि छंद और तुक में भी कविता के बहुत-से उद्देश्यों की पूर्ति हुई मान ली जाती थी। आज जब कविता में भाषा-प्रयोग-विधि को मान्यता दी जाने की बात है तो ऐसे सभी शब्द हमारे लिए बोझ

हो जाते हैं। 'सैंधव' और 'हरि'-जैसे शब्द जिन के अनेक परस्पर असंबद्ध अर्थ माने गये हैं, और जिन्हें प्रसंग के अनुसार ग्रहण करने को कहा गया है, अब भाषा की समृद्धि नहीं वरन् अव्यवस्था के सूचक हैं। यही स्थिति पर्यायों की है। बिना छायागत अंतर किये हुए आँख के लिए नेत्र, लोचन, नयन, दृग आदि पर्याय काव्यभाषा में तो बाधक हैं ही सामान्य भाषा सीखने वालों के लिए भी कठिनाई उत्पन्न करते हैं। पहले छंद और तुक-विधान में इनका उपयोग था, पर अब ये हमारे लिए अनावश्यक हैं। इस स्थिति को कृती साहित्यकारों ने नहीं समझा, पर वैयाकरण ने समझा, यह विडंबना ही कही जायेगी! रामचंद्र वर्मा ने लिखा है: "एक 'सारंग' शब्द के ही हिंदी-शब्दसागर में साठ से अधिक अर्थ दिये हैं; और 'कमल' के तो शायद सैकड़ों पर्याय हैं। इस प्रकार के हजारों शब्द हैं। कवि लोग एक-एक छंद में दस-दस और बीस-बीस जगह ऐसे किसी एक ही शब्द का प्रयोग करके उन्हें दिमागी कलाबाजी का क्षेत्र बनाते रहे हैं... पर आजकल की परिस्थिति देखते हुए प्रकार के अधिकतर शब्द अपने अत्यधिक अर्थों के सहित हमारे लिए प्रायः फालतू ही हैं।" ('अच्छी हिन्दी' : हमारी आवश्यकताएँ)।

मध्यकालीन कलाबाज़ी की प्रवृत्तियों को भाषा के क्षेत्र में अभी निष्कासित किया जाना है, जिसकी ओर अपेक्षया कम ध्यान दिया गया है। अब अनेकार्थकों और पर्यायों से आगे हमें ऐसी काव्यभाषा विकसित करनी है, जिसमें एक शब्द का एक ही अर्थ हलकी-सी लक्षणा के द्वारा विभिन्न स्तरों-पर अलग-अलग छाया के साथ विवृत हो। अंग्रेज़ी भाषा की अर्थगत समृद्धि अधिकसंख्यक शब्दों के कारण न होकर इन बहुस्तरीय अर्थों के कारण है। एक ही शब्द 'हाउस' साधारण 'घर' भी है और पार्लामेंट भी। हिंदी में इसके लिए दो शब्द चलते हैं 'घर' और पारिभाषिक छाया के लिए 'सदन'। काव्यभाषा की अपराजेय संभावना ऐसे शब्दों पर ही निर्भर है। 'फ्लेश' कच्चा मांस तो है ही, पर यह अंग्रेज़ी शब्द उद्दाम वासना, शारीरिक भोग, इंद्रिय-जन्य सुख और परस्पर मिलती-जुलती न जाने कितनी छायाएँ देता है। लॉरेंस डरेल के उपन्यास 'क्लिया' में एक जगह नारी को कभी बंद न होने वाला मांस का फव्वारा (फ़ाउंटेन ऑव फ़्लेश) कहा गया है। यहाँ स्मरणीय है कि 'फ़ाउंटेन ऑव फ्लेश' में 'फ्लेश' शब्द के अर्थ-स्तर में तो परिवर्तन घटित होता ही है, पर 'फ़ाउंटेन' का अर्थ-स्तर भी सूक्ष्म ढंग से बदल जाता है। इस शब्द-प्रयोग में 'फ़ाउंटेन' सिर्फ़ 'फ़व्वारा' न होकर आनंदोत्सव, शारीरिक उल्लास, अबाध प्रवाह का उत्स-जैसा भाव प्रकट करने लगता है। अर्थ-स्तर का ऐसा परिवर्तन विशिष्ट शब्द के अपने व्यक्तित्व के

साथ-साथ आस-पास के शब्दों के संपर्क पर भी निर्भर होता है। पहला शब्दों का यह निजी स्वरूप, और दूसरा उनका वातावरण तथा संपर्कगत प्रतिष्ठापन, भाषा-प्रयोग विधि का एक मुख्य सूत्र है। ऐसी भाषागत समृद्धि शब्दों के समुचित प्रयोग द्वारा ही संभव है। यह 'समुचित प्रयोग' पुराने रूढ़ अर्थों को विलुप्त कर के उनके स्थान पर नये युग-बोध के अनुरूप नयी छायाओं को विकसित करना है। 'सत्य', 'अहिंसा', 'सदाचार' जैसे शब्द धार्मिक और अब राजनैतिक नेताओं के गले में पड़ कर 'अपारदर्शी' हो गये हैं; उनसे किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। मानवीय मूल्यों का विश्लेषण करने वाले विचारक प्राय: इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते। पुराने सिक्के जिस तरह टकसाली नहीं रह जाते उसी प्रकार से बहुत-से शब्द भी अर्थ का विनिमय करने में समर्थ नहीं रहे। मूल्यों और आचरण की इस समस्या को भाषा के स्तर पर कम लोगों ने समझा है। सामान्य व्यवहार में घिसे इन शब्दों को नयी अर्थवत्ता से संपृक्त करना काव्यभाषा का काम है, क्योंकि सृजनात्मक शक्ति का स्रोत मुख्यत: वहीं है। हिंदी में मांस कहने से 'फ्लेश' का दूसरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता, पर काव्यात्मक प्रयोग से उसे अथवा उस-जैसे अन्य अर्थों को व्युत्पन्न किया जा सकता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अंग्रेज़ी में संज्ञा शब्दों के उतने पर्याय नहीं हैं। जितनी की क्रिया-रूपों की विभिन्न छायाएँ हैं।

कथा-वस्तु से ऊपर उठकर काव्यभाषा ही कविता बन जाती है, इस का एक रोचक उदाहरण रामचरितमानस में मिलता है। सीताहरण प्रसंग के पूर्व राम सीमा को अग्नि में रख देते हैं। इस प्रकार जो सीता रावण द्वारा हरी जाती हैं वे नकली सीता हैं। पर यह जानते हुए भी कि जो सीता हरी गयी हैं वे 'असल' नहीं 'नकली' हैं, पाठक की करुणा उसी प्रकार उमड़ती है जैसी कि वास्तविक सीता के दु:ख में उमड़ती है। यहाँ तुलसी अपना अभीष्ट भाव-बोध काव्यभाषा की सामर्थ्य से ही संप्रेषित करते हैं, और यह संप्रेषण कथा-वस्तु की बाधा को पार कर के अक्षुण्ण बना रहता है। यदि यह सारा आख्यान काव्यभाषा से विहीन करके साधारण रूप में कहा जाये तो पाठक या श्रोता सीताहरण के अवसर पर दुखी होने के बजाय प्रसन्न होगा कि देखो रावण कितना मूर्ख बन रहा है! पर तुलसी की समर्थ काव्यभाषा कथा-वस्तु के इतने महत्वपूर्ण अवरोध से ऊपर उठकर अभीष्ट भाव-बोध को संप्रेषित कर देती है।

काव्यभाषा के स्वरूप को समझने में लोक-साहित्य की प्रकृति के विश्लेषण से भी सहायता मिल सकती है। यदि हम यह विचार करें कि लोक-साहित्य और शिष्टसाहित्य

का विभाजक आधार क्या है, तो पता चलेगा कि अभिव्यक्ति के इन दोनों प्रकारों का प्रमुख अंतर भाषा-प्रयोग की विभिन्नता है। लोक-साहित्य में सामान्यत: भाषा का सृजनात्मक प्रयोग नहीं होता; लोककवि (या गायक) भावचित्रों का संघटन नहीं कर पाता। लोकगीत में तो अधिकतर संगीत के सक्रिय सहयोग में दैनिक बोल-चाल की भाषा रहती है। काव्य और संगीत के इस मिश्रित रूप में प्रधानता वस्तुत: संगीत की रहती है; शब्दों का योग गौण होता है। यही कारण है कि लोकगीतों की सरसता गायक के कंठ में होती है, मुद्रित रूप में वे अपना प्राय: समूचा प्रभाव खो बैठते हैं।

यह सही है कि हमारा अधिकांश काव्य किसी-न-किसी रूप में संगीत का सहारा लेता रहा है। (यहाँ तक कि जयशंकर प्रसाद ने तो अपने कलाओं-संबंधी विवेचन में संगीत को कविता का वाहन कह दिया है। स्पष्ट ही यह एक भ्रामक दृष्टि है) अवश्य ही संगीत का यह सहयोग काव्य के अपने उत्कर्ष की तुलना में कम है। संगीत के प्रभाव से प्राय: सर्वथा मुक्त रूप हिंदी साहित्य में प्रथम बार नयी कविता में मिलता है, जिसका सारा संघटन भाषा के सृजनात्मक प्रयोग पर निर्भर रहता है; संगीत और छंद की बैसाखियाँ उसने छोड़ दी हैं। इस दृष्टि से नयी कविता को कविता का विशुद्धतम रूप कहा जा सकता है। संगीत का 'वाहन' कविता के संचरण के लिए आवश्यक नहीं, यह नयी कविता ने पहली बार सिद्ध करके दिखा दिया है।

कवि-समीक्षकों द्वारा कविता के प्रसंग में भाषा-प्रयोगविधि के महत्त्व को पिछली शताब्दी से ही समझा जाने लगा था। यद्यपि इस महत्त्व की सीमा को उस युग के मनीषी ठीक-ठीक नहीं आँक पाये। कोलरिज-द्वारा दी गयी कविता की परिभाषा प्रसिद्ध है: "कविता उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट क्रम है।" बाद में एजरा पाउंड ने भी कहा कि कविता वस्तुत: भाषा का अधिकतम संभव अर्थ से संपृक्त रूप है। हिंदी में अज्ञेय ने इस स्थिति की ओर संकेत किया यह कह कर कि अच्छी भाषा लिखना अपने आप में उपलब्धि है, और कविता की प्रमुख विशेषता उस की भाषा-प्रयोग विधि है। भाषा को भावों का वाहक माननेवाले युग में यह एक बड़ा साहसपूर्ण कदम है। पर खेद है कि इन कुशल रचनाकारों द्वारा दिये गये इस महत्त्वपूर्ण संकेत को परवर्ती कृती साहित्यकारों ने ठीक-ठीक नहीं समझा। और नये साहित्य-चिंतन ने भी शायद इसी वजह से भाषा के तत्त्व को केन्द्रीय स्थिति प्रदान नहीं की। वस्तुत: तो काव्य-भाषा के तत्त्व का सम्यक् विश्लेषण आधुनिक काल के समीक्षकों-द्वारा प्रमुख रूप से होना चाहिए था; क्योंकि काव्यभाषा का प्रयोग उनकी व्याख्या

और निर्णय के लिए एक ऐसा सुनिश्चित और तटस्थ आधार हो सकता है, जिसमें समीक्षक के अपने पूर्वाग्रह और व्यक्तिगत रुचि के अनपेक्षित तत्त्व कम से कम मात्रा में रह जाते हैं। रचना की उत्कृष्टता की यह कसौटी सबसे अधिक विश्वसनीय और वस्तुपरक होगी। आज की कविता को जाँचने के लिए जो अब सचमुच 'प्रास के रजत पाश' से मुक्त हो चुकी है, अलंकारों की उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी है और छंदों की पायलें उतार चुकी है, काव्यभाषा का ही आधार शेष रह गया है, क्योंकि कविता के संघटन में भाषा-प्रयोग की मूल और केन्द्रीय स्थिति है– "कविता उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट क्रम है।" पर प्राचीन काव्य की समीक्षा भी इस आधार पर निश्चय ही अधिक संतुलित ढंग से की जा सकती है। मौलिक के अतिरिक्त अनूदित कृतित्व के लिए भी यह निकष काम देगा, क्योंकि अनुवाद यदि सफल हुआ है तो भाषा के धरातल पर यह एक नयी सृजन-प्रक्रिया है। इस प्रसंग में 'गीतांजलि (स्वयं रवीन्द्रनाथ द्वारा किया हुआ) और 'रुबाइयात' (फिट्ज़ेरॉल्डकृत) के अनुवाद अनायास ही स्मरण हो आते हैं।

वर्तमान काल में हिंदी की गीत-काव्य परंपरा के प्रभविष्णु न रह जाने का मुख्य कारण यही है कि उसकी काव्यभाषा अपनी अर्थ-संपृक्ति खो चुकी है। जलती लाशें, मरघट और घूँघट के आँसू किसी व्यापक भावचित्र को व्युत्पन्न नहीं करते। प्रतीकों का बहिष्कार करके 'सीधी-सादी भाषा' का प्रयोग छायावादोत्तर काल में प्रारंभ हो चुका था, विशेषत: उत्तरकालीन 'बच्चन' में। पर यह 'सीधी-सादी भाषा' एक ओर तो प्रतीकों को नहीं लेती थी, दूसरी ओर संश्लिष्ट भावचित्र संक्रांत कर सके, ऐसी उसमें सामर्थ्य नहीं थी, शायद इसीलिए कि भावचित्र के लिए जिन आधारभूत प्रतीकों की आवश्यकता होती है, उन्हें इन कवियों ने ग्रहण ही नहीं किया था भाषा को सरल और सहज बनाने के ख्याल में। पर यह 'सीधी-सादी भाषा' जो उर्दू के अपने मिज़ाज में खप चुकी थी, हिंदी में आने पर हिंदी की व्यंजना-प्रिय शैली के अनुकूल न होने के कारण अर्थ-च्युत हो गयी। डरेल के शब्दों में सत्य को कहा नहीं जा सकता, केवल संप्रेषित किया जा सकता है, जब कि छायावादोत्तर-कालीन इन गीतकारों ने सत्य को महज़ सीधी-सादी भाषा में कह देना चाहा।

काव्यभाषा का विश्लेषण कविता की रचना-प्रक्रिया को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए तो मुख्य सूत्र सिद्ध होता ही है, दूसरी ओर भाषा की अपनी प्रकृति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। कई सुप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि भाषा का आदिम रूप अपनी प्रकृति में बहुत कुछ काव्यात्मक-संगीतात्मक

था। काव्य और संगीत का यह साहचर्य भाषा के प्रारंभिक काल से देखा जा सकता है, जो वर्तमान काल में समाप्त हो चुका है। इस साहचर्य की लंबी अवधि में शायद काव्य ही संगीत पर अधिक निर्भर रहा; संगीतज्ञ तो काव्य के 'शब्द'-मात्र स्वीकार करता था। बीथोवेन की कला की महत्ता इस बात में बतायी जाती है कि वह विचारों से विभावनहीन (नॉनकन्सेप्चुएल) ध्वनियों के रूप में संपृक्त है, और दार्शनिक सत्य को ऐसी ध्वनियों से व्यक्त करती है जिनसे कोई निश्चित, शब्दों में कहे जाने योग्य भाव संप्रेषित नहीं होते ('इट इज़ अ स्ट्रेड्ग्थ ऑव बीथोवेन्स आर्ट दैट इट इज कन्सर्न्ड विथ थॉट इन नॉन-कन्सेप्चुएल साउण्ड, दैट इज़ टु से दैट द फ़िलॅसॉफ़ीकल ट्रूथ रीचेज़ अप विथ अनडिमिनिश्ड इण्टेन्सिटी ईव्न दो बीथोवेन्स साउण्ड्ज़ डू नॉन कॅन्वे डेफिनिट, वर्बेली एक्स्प्रेसिब्ल आइडियाज़।" नाइन्थ सिफ़नी' का परिचयात्मक अंश।) स्वरों के अपेक्षया निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष होने के कारण इस रूप में इनका प्रयोग संभव है, पर शब्द अपनी प्रकृति से अर्थों से संबद्ध हैं, जिन अर्थों को आमूल परिवर्तित तो किया जा सकता है, पर सर्वत: विलुप्त नहीं किया जा सकता। काव्यभाषा को 'अपारदर्शी' मानने वाले चिंतकों के विवेचन में यह बात कही जा चुकी है। 'नाइन्थ सिफ़नी' के प्रसंग में ही आगे यह कहा गया है कि उसकी चतुर्थ गत (मूवमेण्ट) में कलाकार ने 'शब्दों' (वर्ड्स) का प्रयोग किया है शिलर के 'ओड टु जॉय' से। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जहाँ काव्य ने अपने-आप को संगीत पर अधिक आधारित किया वहाँ संगीत ने भारतीय पद्धति में कुछ 'बोलों' का उपयोग किया और पाश्चात्य प्रणाली में यदा-कदा कुछ 'शब्दों' को अपनी परिधि में स्वीकार कर लिया। संगीत के क्षेत्र में इन 'बोलों' और 'शब्दों' के अर्थ का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। संगीत-समीक्षा में उसी सिफ़नी को 'विशुद्ध' कहा जाता है, जिसके पीछे किसी शब्द-रचना का आधार न हो; भारतीय पद्धति में वाद्य संगीत के अतिरिक्त इस प्रसंग में 'तराना' का स्मरण किया जा सकता है। कविता ने इस स्थिति के समकक्ष आधुनिक काल में ह्विटमैन और निराला के संघर्षों की नींव पर अपने आप को संगीत के सहारे से मुक्त किया है, और अपनी प्रकृति की 'विशुद्धता' स्थापित की है। इसीलिए नयी कविता को कविता का शुद्धतम रूप कहा जा सकता है।

आदिम भाषा के काव्यात्मक होने की बात शैली ने भी कही है। इस विषय का विवेचन करते हुए बारफील्ड ने उनका मत उद्धृत किया है: "समाज की आरंभिक स्थिति में प्रत्येक लेखक अनिवार्यत: कवि होता है, क्योंकि भाषा स्वयं कविता होती है... प्रत्येक मौलिक भाषा मानो अपनी ऊपरी सतह के निकट एक चक्राकार कविता की अव्यवस्था हो।" भाषा

का प्रारंभिक रूप काव्यात्मक था या नहीं, यह कहना तो कठिन है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि भाषा अपने मूल रूप में 'लयात्मक ध्वनियों' का संघटन थी। इन 'लयात्मक ध्वनियों' को ही हम काव्य का रूप मान लें तो दूसरी बात है। इन आरंभिक 'लयात्मक ध्वनियों' को अर्थ बाद में दिया गया होगा, ऐसा मानना संगत लगता है। ध्वनि उत्पन्न करना शरीर की एक सहज वृत्ति है, और मनुष्य की आरंभिक 'समझ' (बुद्धि का पूर्व-रूप) ने उन ध्वनियों को कुछ स्थूल पदार्थों और स्थितियों से संबद्ध किया होगा। बच्चों की भाषा का अध्ययन और पर्यवेक्षण भी हमें इसी निष्कर्ष की ओर ले जाता है। शिशु केवल प्रारंभिक इन्द्रिय-बोधों (सेन्सेशन्स) से युक्त होता है। प्रतिबोधन (पर्सेप्शन्स) की परवर्ती स्थिति होती है। अपने जन्म के प्रारंभिक कुछ मासों में बच्चा केवल अपने होंठों से ध्वनि करता है। इन ध्वनियों के माता-पिता अपने संबोधन के रूप में ग्रहण करते हैं, और कालांतर में शिशु भी इन ध्वनियों के साथ माता-पिता की उपस्थिति के भाव को संबद्ध कर लेता है। यही कारण है कि माता-पिता के लिए प्रायः सभी भाषाओं में ऐसे नाम हैं, जो ओष्ठ्य ध्वनियों से बने हैं। परिवार के अन्य निकट संबंधियों के नाम भी या तो ओष्ठ्य ध्वनियों से बने होते हैं या फिर आवृत्तिमूलक होते हैं– बाबा, मामा, चाचा, काका आदि। भाषा के इस आरंभिक रूप में अर्थ ध्वनि का अनुवर्ती है। एक प्रकार से भाषा अपनी ध्वनियों के रूप में अपारदर्शी ही होती है, उसे पारदर्शी हम अपने सामाजिक व्यवहार से बनाते हैं। और इस सीमा तक कि चाहने पर भी रंग और स्वर की भाँति हम उसे कविता के प्रसंग में फिर से अपारदर्शी नहीं बना सकते।

विकास-क्रम में भाषा के दो रूप देखे जा सकते हैं। एक तो वह जो आरंभिक, स्थूल और कामचलाऊ रूप है, जब अर्थ को प्रारंभिक मानवीय समझ (चिंतन कहना उचित न होगा) के द्वारा ध्वनियों से संबद्ध किया जाता है। भाषा का यह आरंभिक रूप लयात्मक और आवेग से प्रसृत हो सकता है, पर इसे अर्थ की सूक्ष्मता न होने से काव्यात्मक कहना संगत नहीं जान पड़ता। एक बार बन जाने पर यह कामचलाऊ, व्यावहारिक रूप भाषा-प्रयोगकर्ताओं की संवेदना को नियमित और अनुशासित करने लगता है। हम अपने गहरे चिंतन के आयामों को बहुत-कुछ इस सूक्ष्म भाषा-रूप में उपलब्ध करते हैं (द्रष्टव्य 'भाषा और संवेदना')। भाषा और संवेदना की इस अंतर-प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर यह कहा जा सकता है कि भाषा यथार्थ के प्रति हमारी समूची प्रतिक्रिया का कुल योग है, अपनी स्थूल स्थिति में सामान्य भाषा के रूप में और अमूर्त स्थिति में काव्यभाषा के रूप में। पहले रूप में भाषिक अर्थ स्थूल चिंतन-क्रम से व्युत्पन्न और उसके अनुवर्ती होते हैं, और दूसरी

जगह यह अर्थ और संवेदना के रूप में उसकी सूक्ष्म उपलब्धि भाषा से अनुशासित होने लगती है।

भाषा के द्वारा चिंतन-क्रम कैसे प्रभावित (कण्डीशण्ड) होता है, या किया जा सकता है, इसका एक रोचक और सटीक उदाहरण जॉर्ज ऑरवेल के बहुचर्चित उपन्यास '1984' में मिलता है। सर्वसत्तावादी पद्धतियाँ किस प्रकार लोगों के चिंतन को गतिरुद्ध करती हैं, उसमें भाषा का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण दिखलाया गया है। '1984' के समाज में भाषा से 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य'-जैसे विभावनों से संबद्ध अनेक शब्दों को मिटा दिया गया है। इसके फलस्वरूप राज्य-द्वारा इच्छित चिंतन ही व्यक्तियों के मन में पनपता है। जो शब्द कोशों से हटा दिये गये हैं उनके विभावनों से जनता का कोई परिचय नहीं रहा। 'ब्रेनवाशिंग' की इस भयानक प्रक्रिया में भाषा का निर्दोष रूप कैसे सहयोगी बना लिया गया है, यह मानवीय जीवन-क्रम और संवेदना के विकास में भाषा के अप्रतिम महत्त्व की ओर संकेत करता है। इस महत्त्व का एक साक्ष्य साहित्य के इतिहासों में मिलता है। प्राय: देखा गया है कि महत्त्वपूर्ण और नवीन वैचारिक आंदोलन मूलत: भाषा के किसी नये विकसित रूप से संबद्ध होते हैं। भक्ति आंदोलन और ब्रजभाषा का संबंध मध्यकाल में, तथा 19वीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण तथा खड़ीबोली का संबंध आधुनिक काल में भाषा की शक्ति-सामर्थ्य के उदाहरण हैं। इसी प्रकार परंपराएँ भी प्राय: भाषा के स्तर पर स्थिर होती हैं, जैसे रीतिकाल के परवर्ती ब्रजभाषा कवियों की अनेक ह्रासोन्मुख रीतियों में बद्ध ब्रजभाषा। हिंदी के समसामयिक साहित्य में भी वर्तमान साहित्यिक और वैचारिक गतिरोध (जिसमें न रचना की नवीन दिशाओं का संधान है, और न संधान के लिए कोई आकुलता ही है, जो और भी दयनीय है) का प्रधान कारण भाषा का अव्यस्थित प्रयोग है। पर्यायों का बिना विचारे व्यवहार, वाक्य-विन्यास में शब्दों के स्थान का सावधानीपूर्वक निर्धारण न होना, 'तो' 'भी' और 'ही'- जैसे बलार्थक शब्द-रूपों का अनुचित-अनावश्यक प्रयोग, विशेषणों की भरमार (किसी ने ठीक ही कहा है कि जो लेखक विशेषणों का जितनी अधिक संख्या में प्रयोग करता है, उसकी भाषा उतनी ही 'रंक' होती है।)–जैसी प्रवृतियाँ भाषा-संबंधी सामान्य चेतना के अभाव की द्योतक हैं। हमारे अधिकांश लेखक अब भी उसी युग में रहते दिखते हैं जब भाषा को भावों की वाहिनी माना जाता था। भाषा और संवेदना की संपृक्त प्रकृति को समझने वाले लेखक हमें और चाहिए, तभी नयी कविता का गतिरोध दूर हो सकेगा। भाषा को भावों का वाहन मानते ही भाषा की उपेक्षा आरंभ हो जाती है, जिसका अंत हिंदी

में किया जाना शेष है। भाषा ऊपर का ढाँचा न होकर विकसित मानवीय प्रकृति का अनिवार्य और अभिन्न अंग है। स्वत:- क्रियाओं (रिफ्लेक्स ऐक्शन्स) और सहज वृत्तियों (इन्स्टिड्क्टस) में पशु और मनुष्य एक-जैसे हैं; भाषा, या कहिए विचार करने की क्षमता, दोनों में अंतर कर देती है।

प्रस्तुत विवेचन को समाप्त करने के पूर्व भाषा और संस्कृति के पारस्परिक संबंध के विषय में कुछ चर्चा करना चाहूँगा। काव्यभाषा के संदर्भ में इस समस्या की विशिष्ट महत्ता स्वयं सिद्ध है। अनेक भाषावैज्ञानिकों ने भाषा को सामूहिक मानवीय स्थितियों से निरपेक्ष माना है। वे भाषा का कोई संबंध राष्ट्रीयता, जातीयता (रेशियल फ़ैक्टर) या संस्कृति से नहीं मानते। एडवर्ड सेपीर ने अपनी प्रख्यात कृति 'लैंग्वेज' में इसी प्रकार का मत प्रतिपादित किया है। यहाँ राष्ट्रीयता और जातीयता के तत्त्वों को छोड़कर सांस्कृतिक स्थिति से भाषा का क्या संबंध है, इसी का विवचेन अभिप्रेत है। काव्यभाषा के उपर्युक्त विश्लेषण के प्रकाश में सेपी और अन्य पुराने भाषावैज्ञानिकों के मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता। यों तो भाषा के सामान्य रूप में भी सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रतिफलित होती दीखती हैं। हिंदी में पारिवारिक संबंधों की बड़ी समृद्ध शब्दावली है– ताऊ, चाचा, मामा, फूफा, मौसा– अंग्रेज़ी के एक शब्द 'अंकल' के विभिन्न रूपों को व्यक्त करते हैं। इन संबंधों की बड़ी सुस्पष्ट स्थिति हमारी भाषा में हमारे संयुक्त परिवार की प्रथा के कारण है।

सामान्य भाषा में सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का संघात अपेक्षया कम है। पर काव्यभाषा के क्षेत्र में सांस्कृतिक चेतना का महत्त्व अप्रतिम है। काव्यभाषा का अपने प्रयोगकर्ताओं की संस्कृति से घनिष्ठ संबंध रहता है, वस्तुत: उसका स्वरूप एक बड़ी सीमा तक सांस्कृतिक आधार पर गठित होता है। प्रतीकों तथा भावचित्रों के विधान में काव्यभाषा अपने सांस्कृतिक परिवेश से अनिवार्यत: जुड़ी रहती है। प्राय: इसीलिए सभी विकसित काव्यभाषाएँ अपनी संस्कृति को विवृत करती हैं। इस स्थापना को हिंदी और उर्दू के पारस्परिक संबंध की विवेचना से पुष्ट किया जा सकता है। यदि निरुज दृष्टि से देखने की चेष्टा की जाये तो पता चलेगा कि हिंदी-उर्दू का अंतर व्याकरण का न होकर मुख्यत: उस सांस्कृतिक वातावरण का है, जो काव्यभाषा में व्याकरण की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिंदी तथा हिंदी प्रदेश की विभिन्न बोलियों के पारस्परिक संबंधविषयक मान्यता को दो हिस्सों में इस प्रकार रखना चाहूँगा:

1. एक तो यह कि हिंदी-उर्दू में अंतर शब्द-समूह अथवा लिपियों का उतना नहीं है (जैसा कि अभी तक कहा जाता रहा है), जितना कि दो सांस्कृतिक पद्धतियों का जिनमें वे सिक्त हैं, और जिनसे उनका अपना-अपना मिज़ाज बना है। बोल-चाल की भाषा के रूप में वे एक हैं, अंतर अधिकतर काव्यभाषा की स्थिति में है। और,

2. इसीलिए भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अवधी, ब्रज या भोजपुरी खड़ी बोली हिंदी से भिन्न रूप में (अलग-अलग अपभ्रंशों से) व्युत्पन्न होने पर भी एक ही काव्यभाषा के अंतर्गत आती है, जबकि उर्दू जन्मत: हिंदी की 'सगी बहन' होने पर भी भिन्न सांस्कृतिक परंपरा से संबद्ध होने के कारण यहाँ अलग हो जाती है।

सांस्कृतिक वातावरण की चेतना के कारण उर्दू की नयी कविता में भी हम शराब, साक़ी और जाम की स्थिति स्वीकार कर लेते हैं, उसका भावबोध विना कठिनाई के ग्रहण करते हैं। पर यदि हिंदी का कोई कवि आज के युग में इन प्रतीकों का प्रयोग करता है, तो यह स्थिति हमें आपत्तिजनक लगती है। हम ऐसी कविता और ऐसे कवियों को पिछड़ा मानते हैं। एक हद तक इस सांस्कृतिक वातावरण से ही काव्यभाषा का अपना मिज़ाज बनने लगता है। हिंदी और उर्दू के मिज़ाज का एक अंतर यह है कि हिंदी की काव्यभाषा व्यंजना को अधिक महत्त्व देती है; पर उर्दू में सीधी-सादी, सहज-सरल भाषा (साफ़गोई) काव्य-विधान के अधिक अनुकूल मानी जाती है, क्योंकि उर्दू दरबार और बाज़ार दोनों की ही भाषा एक साथ रही है। 'सुबह होती है शाम होती है, उम्र यूँ ही तमाम होती है' या 'मौत का एक दिन मुअय्यन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती' जब उर्दू की पंक्तियाँ मानी जाती हैं तो उनमें काव्यगत अनुभूति और गहराई की प्रतीत होती है। किन्तु यदि इन्हीं पक्तियों को हिंदी का कहा जाये तो हमारी काव्यभाषा का व्यंजना-प्रिय मिज़ाज अलग होने के कारण ये हमें अधिक से अधिक सूक्ति लग सकती हैं; इनका अधिकांश काव्य-तत्त्व विलुप्त हो जाता है। इस दृष्टि से जन्मत: एक ही भाषारूप हिंद-उर्दू का अंतर सामान्य भाषा के स्तर पर न होकर काव्यभाषा के स्तर पर है, और खड़ीबोली हिंदी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी प्रभृति अलग-अलग अपभ्रंशों से विकसित होते हुए और व्याकरणगत भिन्नताओं को रखते हुए भी एक काव्यभाषा के अंतर्गत आती हैं। यही कारण है जिससे हिंदी साहित्य के इतिहास में मीर और ग़ालिब को स्थान नहीं मिलता पर विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, भारतेंदु, निराला और अज्ञेय एक ही विकसनशील काव्यभाषा के प्रयोगकर्ता हैं।